विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

उमेशचन्द्र मिश्र

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

१९४३

मूल्य ५)

भूमिका

श्री उमेशचन्द्र जी की लिखी हुई ४०० पृष्ठों की इस बड़ी पुस्तक को मैंने आग्रह के साथ पढ़ा है। हिन्दी में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के विषय में अब तक जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें यह सबसे बड़ी है। इस पुस्तक के लेखक कुछ दिनों तक कवि के आश्रम में अन्तेवासी के रूप में रह चुके हैं। पुस्तक में लेखक की श्रद्धा-भक्ति भी प्रकट हुई है और विशाल अध्ययन तथा सूक्ष्मदर्शिता भी स्पष्ट हुई है। रवीन्द्रनाथ की अन्तिम रचनाओं तक की चर्चा इसमें आ गई है। लेखक ने नाना स्थानों से पुष्परस संचय करके यह मधुचक्र प्रस्तुत किया है।

रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व बहुत विशाल था। उनकी रचनाओं का परिमाण और गाम्भीर्य अतुलनीय है। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर अत्यधिक समृद्ध बनाया है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, प्रबन्ध, समालोचना, गान आदि के क्षेत्र में उन्होंने भारतीय साहित्य को जो कुछ दिया है वह अपूर्व और अपरिमेय है। किन्तु साहित्य के बाहर भी शिक्षा, राजनीति, ग्राम-संस्था, धर्म, नृत्य, चित्रकला आदि विविध विषयों में इतना दिया है कि साहित्य का विद्यार्थी आश्चर्य-भरी मुद्रा से देखता ही रह जाता है। उनके सम्बन्ध में जितना भी लिखा जायगा कम ही मालूम होगा। और यद्यपि यह बात उन लोगों को ठीक ठीक नहीं समझाई जा सकती जो उनके निकट संपर्क में नहीं आये हैं परन्तु तो भी यह सच है कि इन समस्त रचनाओं, विचारों, कार्यों और आदर्शों के सम्मिलित योग से वे बड़े थे। वे उतना ही नहीं हैं जितना लिख गये हैं। वस्तुतः अपनी विशाल चिन्तनराशि का एक मामूली अंश ही वे दे जा सके हैं। परन्तु फिर भी

वे प्रधान रूप से कवि थे। कवि का स्वर ही उनके समस्त विचारों में सामान्य रूप से पाया जाता है। उनकी प्रतिभा कवि की प्रतिभा थी और उनका संपूर्ण जीवन भी एक सुन्दर कवि था।

रवीन्द्रनाथ के विषय में श्री उमेशचन्द्र जी ने जो कुछ लिखा है वह भी कम लगता है। वस्तुतः इतनी थोड़ी जगह में इससे अधिक अट ही नहीं सकता था। रवीन्द्रनाथ की रचनाओं के विशाल जंगल में घुसने पर चयनकर्ता हैरान हो रहता है। किसे वह सर्वोत्तम कहकर चुने और किसे छोड़ दे। बँगला में कहावत है, 'बाँस वने डोम काना' (अर्थात् बाँस के वन में पहुँचकर डोम अन्धा हो जाता है।) वह समझ ही नहीं पाता कि किसे चुने और किसे छोड़ दे, सो वह आँख मूँदकर अपने काम के दस-पाँच बाँस काटकर निकल आता है। जब जब मैंने रवीन्द्रनाथ की उत्तम कविताओं के चुनने का संकल्प किया है तब तब कुछ इसी प्रकार के अनुभव हुए हैं। फल यह होता है कि एक आदमी का चुनाव कभी दूसरे के चुनाव से नहीं मिलता। मेरा अनुमान है कि इस पुस्तक के लेखक को भी ऐसी कठिनाई पड़ी होगी।

आजकल रवीन्द्रनाथ के संस्मरण लिखने का रोग बड़ा प्रबल हो गया है—विशेषकर बंगाल में। लोग उनके खाँसने-खखारने तक का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने लगे हैं। जहाँ यह बात उनकी भक्ति की द्योतक है वहाँ कई दृष्टियों से वाञ्छनीय भी नहीं है। क्योंकि इन छोटी-मोटी घटनाओं को लिखते समय लिखनेवाले जानकर या अनजान में अपने मनोभावों को स्वर्गीय कवि के विचारों के साथ प्रायः सान देते हैं। इस विषय में मुझे आज से कई वर्ष पहले की एक बात याद आती है। मुझे एक प्रतिष्ठित साहित्यिक ने आग्रहपूर्वक लिखा कि रवीन्द्रनाथ की एक जीवनी मैं तैयार कर दूँ। उक्त सज्जन का विश्वास था कि मैं इस कार्य को योग्यतापूर्वक संपन्न कर सकूँगा (यद्यपि यह विश्वास ठीक नहीं था।) मैंने भी प्रथम उत्साह के आवेश में जीवन-चरित लिखने का संकल्प किया। कवि का स्नेह मुझे बहुत मिला था। मुझे विश्वास था कि

मेरे प्रस्ताव करते ही गुरुदेव अपने जीवन की ऐसी बहुतेरी बातें बता देंगे जिनके आधार पर मेरा लिखित जीवन-चरित 'अभूतपूर्व' होगा। मैं सायंकाल उनके पास गया और धीरे धीरे प्रसंग उठाया कि मैं उनकी एक जीवनी लिखने जा रहा हूँ। वे कुछ गम्भीर हो गये। उन दिनों किसी लेखक ने उनके सम्बन्ध में बँगला में एक पुस्तक लिखी थी। पुस्तक गुरुदेव को बिलकुल पसन्द नहीं थी। इस पुस्तक के लेखक शान्ति-निकेतन के स्कूल में कुछ दिनों तक अध्यापक रह चुके थे। मेरी बात सुनने के बाद थोड़ी देर तक गम्भीर रहने के बाद गुरुदेव ने कहा—'देखो, मेरे विषय में लोग ऐसी बातें लिखने लगे हैं जो मैंने कभी सपने में भी नहीं सोची। मेरे मुँह से ऐसी बातें कहलवाई जाती हैं जो मैं कभी कह ही नहीं सकता। मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि ज़िन्दगी भर अपने विरुद्ध लोगों की झूठी गढ़ी हुई बातें सुन ही रहा हूँ किन्तु मुझे इस बात का अफ़सोस ज़रूर है कि वे लोग भी ऐसी बातें गढ़ने लगे हैं जो मेरे पास रह चुके हैं; और लोग उनकी बातों को प्रामाणिक तो समझेंगे ही क्योंकि वे मेरे पास रह चुके हैं, यह बात सही है। तुम लोगों से मेरा अनुरोध यह है कि मेरे विषय में लिखते समय मेरी पुस्तकों का आश्रय ही प्रधान रूप से लो, उनमें कही हुई बातें ही मेरी अपनी बातें हैं। यहाँ मैंने उनकी कही हुई बातों का वह भाव ही लिखा है जो उस समय मेरी समझ में आया था। ये उनके हू-ब-हू शब्द नहीं हैं। पर जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैं उस समय की बातचीत का ठीक ठीक सारमर्म दे रहा हूँ। गुरुदेव की बात सुनकर मेरा जीवन-चरित लिखने का उत्साह ज़रूर ठंडा पड़ गया; पर मैं उनका मनोभाव जान सका इस बात की प्रसन्नता भी हुई। दो-एक दिन बाद उन्होंने अपनी चुनी हुई कविताओं का संग्रह भेज दिया और बुलाकर कहा कि इसमें से अपने काम की चीज़ चुन लो। मैं अभी तक वह कार्य नहीं कर सका।

श्री उमेशचन्द्र जी की पुस्तक में यह बात मुझे बहुत उत्तम लगी है कि रवीन्द्रनाथ के मत की आलोचना रवीन्द्रनाथ की प्रामाणिक

वाणियों के आधार पर ही की गई है। यही उत्तम रास्ता है और यही स्वर्गीय कवि का अभिमत भी था। हिन्दी में रवीन्द्रनाथ पर आलोचनात्मक ग्रथ लिखने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि उनके ग्रंथों में से बहुत कम का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। कविताओं, आलोचनात्मक और विचारमूलक निबन्धों, गानों आदि का प्रामाणिक अनुवाद एकदम नहीं हुआ है। आलोचक को अनुवाद का काम भी साथ ही साथ करना पड़ता है और अनुवाद की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए मूल भी यथासम्भव उद्धृत कर देने पड़ते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि रवीन्द्रनाथ के सभी ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद हो जाय और गान, कविता आदि देवनागरी अक्षरों में छापी जायँ। ऐसा करने से ही रवीन्द्र-साहित्य भारतवर्ष के कोने कोने में फैल सकता है। इन अमूल्य निधियों का भाषान्तर राष्ट्रीय आवश्यकता है। जब तक अधिकांश रचनाएँ हिन्दी में अनुवादित नहीं हो जातीं और गान और कविताएँ देवनागरी लिपि में नहीं छप जातीं तब तक रवीन्द्रनाथ का पूर्ण आलोचनात्मक परिचय दुःसम्भव व्यापार है। परन्तु यह कार्य न जाने कब तक होगा! तब तक बैठ रहना तो युक्तिसंगत नहीं है। इस बीच में श्री उमेशचन्द्र जी की पुस्तक जैसे प्रयत्न होते ही रहने चाहिए। यदि ऐसे प्रयत्न कुछ त्रुटिपूर्ण और अधूरे भी हों तो भी विशेष चिन्ता की बात नहीं है।

श्री उमेशचन्द्र जी ने यह पुस्तक लिखकर उन सब लोगों का बड़ा उपकार किया है जो हिन्दी भाषा के माध्यम से रवीन्द्रनाथ को समझना चाहते हैं। मैं उत्साहपूर्वक इस ग्रथ का स्वागत करता हूँ।

शान्तिनिकेतन

भाद्रपद कृ० ३०
सं० २०००

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

आभार

गुरुदेव पर कुछ लिखना चाहता था, पर लिख नहीं पाता था। कारण पीछे से समझ में आया। उन दिनों मैं उनके निकट-संपर्क में था और तैजस का विवेचन उससे दूर रहकर ही किया जा सकता है।

उनके दिवंगत होते ही हिन्दी में उन पर कुछ लिखने की इच्छा और भी प्रबल हो उठी। पर वह मन में ही रह जाती यदि इंडियन प्रेस लिमिटेड के कर्णधार, श्रीयुत बाबू हरिप्रसन्न घोष, सब प्रकार से साहाय्य-संबल जुटाकर मुझे प्रबल प्रेरणा और सहायता न देते।

गुरुदेव की कृतियों का परिचय अपनी योजना के अनुसार इस पुस्तक में देना आवश्यक था। उसमें सबसे बड़ी कठिनाई भाषा-सम्बन्धी थी। जब तक बँगला कृतियों का हिन्दी-अनुवाद न दिया जाय तब तक वे हिन्दी-पाठकों के काम की नहीं हो सकती थीं। मेरे मित्र और इंडियन प्रेस के 'लिटरेरी असिस्टेण्ट' पंडित ठाकुरदत्त मिश्र ने मेरी उस कठिनाई को दूर कर दिया। फ़ुटनोटों में दिये हुए अनुवाद उन्हीं ने किये हैं जो सर्वथा मूलानुसारी और स्पष्ट हैं। उनसे गुरुदेव की रचनाओं का अभिप्राय हृदयगम करने में पूरी सहायता मिलती है।

पुस्तक की पांडुलिपि तैयार हो जाने पर मैंने उसे परिष्कार के लिए विश्वभारती के विद्याभवन के अध्यक्ष आचार्य पंडित क्षितिमोहन सेन, शास्त्री, एम० ए० के पास भेजा; क्योंकि गुरुदेव और उनके साहित्य का जितना निकट-ज्ञान उन्हें है, उतना शायद और किसी को नहीं है। शास्त्री जी ने पुस्तक में जीवनी-सम्बन्धी कुछ

भूलें बताईं थीं जिनका आदेशानुसार संशोधन कर दिया गया है। पुस्तक की प्रशंसा करते हुए उन्होंने निम्न वाक्य भी लिखे हैं—

श्री उमेशचन्द्र मिश्र जी की पुस्तक 'विश्वकवि रवीन्द्रनाथ' मैंने देखी है। रवीन्द्रनाथ के विषय में पुस्तकें अनेकों ने लिखी हैं और लिख भी रहे होंगे, मैं उन सबको नहीं जानता। परन्तु ये कुछ दिन तक शान्ति-निकेतन में वास कर चुके हैं इसलिए इनको जानने का अवसर मुझे मिला है। यही कारण है कि मैंने आग्रह-पूर्वक सारी पुस्तक आद्यन्त पढ़ी है। रवीन्द्रनाथ इस समय बहुत लोगों के लेखन-विषय हो रहे हैं। नाना व्यक्ति नाना उद्देश्यों से और नाना भाव से लिख रहे हैं। जो लोग आन्तरिक श्रद्धा के साथ उनके विषय में लिख रहे हैं उनकी रचनाओं में यदि कहीं थोड़ी त्रुटि-विच्युति भी हो तो उसे पूजांजलि समझकर निर्माल्य की भाँति ग्रहण करना ही उचित है। मैं देख रहा हूँ कि उमेशचन्द्र जी ने गंभीर श्रद्धा लेकर ही पुस्तक लिखी है। इस श्रद्धा के कारण ही वे नाना स्थानों से परिश्रम-पूर्वक तथ्य संग्रह कर सके हैं। मनुष्य की कृति में दोष-त्रुटि हो ही नहीं यह तो संभव नहीं परन्तु श्रद्धा की दृष्टि से देखनेवाले की दोष-त्रुटियाँ कुछ विशेष हानि-कारक नहीं होतीं। रवीन्द्रनाथ स्वयं कह गये हैं कि कवि को तथ्यों के द्वारा बाहर से नहीं देखा जा सकता, उसे प्रेम और श्रद्धा से ही समझा जा सकता है। वह प्रेम और श्रद्धा इस पुस्तक में है इसी लिए लेखक कवि के जीवन के अन्तर में प्रवेश कर सके हैं।

रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व और साहित्य दोनों ही इतने विशाल हैं कि समग्र भाव से देखना कठिन हो जाता है, एक तरफ़ ध्यान देने से दूसरी तरफ़ का कुछ छूट जाता है और दूसरी तरफ़ सँभालने लगें तो तीसरी ओर कसर रह जाती है। इस परिश्रमपूर्वक लिखी हुई पुस्तक में भी यह बात दिखाई देती है। पर इससे किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि पुस्तक में त्रुटियों की संख्या अधिक है। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व और साहित्य इतने विशाल हैं कि बहुत कुछ लिखने पर भी बहुत कुछ बाक़ी रह जाता है।

हमें पूर्ण आशा है कि पं० उमेशचन्द्र जी की यह श्रद्धांजलि इस देश के कवि-भक्तों के द्वारा सादर गृहीत होगी। जो लोग हिन्दी भाषा के माध्यम से कवि को समझना चाहते हैं वे निश्चय ही इस पुस्तक से उपकृत होंगे।

शान्ति-निकेतन
श्रावणी पूर्णिमा
सं० २०००

—क्षितिमोहन सेन

इस पुस्तक के संकलन में मुझे अनेक पुस्तकों से सहायता मिली है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। विशेषतया रवीन्द्र-साहित्येर भूमिका (बँगला) 'कलकत्ता म्यूनिसिपल गज़ट' (अँगरेज़ी) का टैगोर नम्बर, 'विश्व-भारती' (अँगरेज़ी) का टैगोर बर्थ डे-नम्बर, गुरुदेव-लिखित जीवन-स्मृति और छेले बेला (बँगला), प्रोफ़ेसर बी० लेस्नी लिखित रवीन्द्रनाथ टैगोर, हिज़ पर्सनालिटी एण्ड वर्क (अँगरेज़ी) आदि का नाम उल्लेख्य है।

इस पुस्तक में जीवनी-सम्बन्धी तथ्य उपर्युक्त पुस्तकों और 'माडर्न-रिव्यू' की पुरानी फ़ाइलों से संकलित किये गये हैं।

—उमेशचन्द्र मिश्र

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ-संख्या

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

कवि आपनार गाने जत कथा कहे
नाना जने लहे तार नाना अर्थ टानि
तोमापाने धाय तार शेष अर्थखानि

—रवीन्द्रनाथ

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

तीन चित्र

[१]

'जोड़ासाँको' के बरामदे में एक बड़ी-सी पालकी रक्खी है। यह किसी समय प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर की पत्नी की सवारी के काम आती थी। उनकी मृत्यु के बाद से यह कुल के पूर्व गौरव के स्मृति-स्वरूप रख दी गई है। अब इसपर कोई सवारी नहीं करता, न यह अपने स्थान से हटाई ही जाती है। पहले चल सम्पत्ति रहने पर भी आजकल इसकी गणना घर की शेष अचल सम्पत्ति के साथ होती है। इसे ढोनेवाले कहार भी न जाने कब से अलग हो गए हैं और नये भी पुरानों के स्थान पर रक्खे नहीं गए। अतः यह निर्विवाद वैज्ञानिक तथ्य है कि पालकी जहाँ की तहाँ रक्खी रहती है, दिन में भी, रात्रि में भी, बारहों महीने और छहों ऋतुओं में। महल का कोई निवासी, कोई आगत-अभ्यागत स आँखों-देखे सत्य को प्रमाणित कर सकता है। पर यह वास्तव में सत्य नहीं है। यह पालकी चलती है और बहुत दूर-दूर जाती है।

गर्मियों की लम्बी दोपहरी है। घर के नौकर-चाकर तक सो रहे हैं। पालकी पर बाहर से पर्दा पड़ा है। खिड़कियाँ भी बन्द हैं। पालकी के भीतर एकरस अन्धकार है जो बाहर के घटते-बढ़ते आलोक के प्रति नितान्त निरपेक्ष है। दोपहर के दो बजे या शाम के पाँच, पालकी के भीतर के सीमित जगत् में इससे कुछ परिवर्त्तन नहीं होता। वहाँ एक-कालिकता का साम्राज्य है जिसमें सुदूर भविष्य का छोर विस्मृत अतीत से सहज ही जुड़ जाता है और प्रकाश के आधार पर बने हुए काल के अस्वाभाविक टुकड़े उसमें कोई बाधा नहीं डाल पाते। इस ऐककालिकता के समग्र लोक का एकच्छत्र सम्राट् है एक छोटा-सा बालक, जो प्राय: गृह-शिक्षक के नुकीले पंजों और पाठमालाओं के दुर्भेद्य जालों से किसी प्रकार मुक्ति पाकर यहाँ आ बैठता है——कल्पना-लोक के शाश्वत सौन्दर्य का रसपान करने के लिये।

बालक आँखें बन्द कर लेता है और पालकी उठकर चल देती है——सोलह कहारों के कन्धों पर। वे कहार कानों में सोने की मोटी-मोटी चमकीली बालियाँ पहने हैं और हाथों में मोटे-मोटे सोने के भद्दे ढंग से गढ़े हुए कड़े। उनकी पोशाक है बिना बाँहों के चमकीले लाल मखमल के कोट, जिनपर सोने का पक्का काम बना हुआ है। पालकी कहाँ-कहाँ जाती है, कौन कह सकता है! कभी वह राजमहलों के नीचे से निकलती है तो कभी घने और भयावने वनों से होकर; इन घने और भयावने वनों में रहनेवाले हिंस्र जन्तुओं की चमकीली आँखें बालक के कल्पना-पूर्ण नेत्रों को साफ़ दिखाई पड़ती हैं। वह देखता है, पालकी की दोनों खिड़कियों के बाहर हरे-भरे कान्तारों में मृगशावक उछल-कूद रहे हैं। दूर से आते हुए झरनों के झर्झर रव को उसके कान स्पष्ट सुन रहे हैं। वह एक अदृश्य और अज्ञात परीलोक की यात्रा पर जा रहा है। भूखण्ड पार हो जाता है; आगे सात समुद्र हैं। तट पर पहुँचकर कहार पालकी रख देते हैं और कहते हैं, 'मालिक, अब हम लोग आगे न चल सकेंगे। आगे तो जल भरा है, गहरा और अनन्त!' पर कहार चाहे रुक जाएँ, परीलोक की यात्रा पर निकले हुए नायक की पालकी तो अप्रतिहतगति है, वह नहीं रुक सकती। समुद्र हों चाहे पहाड़, वह कहीं नहीं रुकेगी;

वह तुरन्त जल-नौका बन जाती है और भयानक तूफ़ानी समुद्र की लहरों से अठखेलियाँ करती हुई आगे बढ़ती है। दक्षिण दिशा में धुँधले मेघों की छाया दीख पड़ती है। मल्लाह पुकारते हैं, सावधान! सावधान! तूफ़ान आ रहा है। और देखते-देखते टाइफ़ोन आ जाता है। जल बल्लियों उठकर हहर-हहर करता हुआ भीमवेग से नौका की ओर आता है और उसके थपेड़े खाकर नौका पत्ते की भाँति थरथराने और काँपने-कराहने लगती है। कभी बीस गज़ ऊपर जाती है, कभी बीस गज़ नीचे। मल्लाह उसे बचाने के लिये सभी प्रयत्न करते हैं। कभी बादवान खोलते हैं, कभी डाँड़ चलाते हैं। कभी पतवार के सहारे दिशा बदलने का प्रयत्न करते हैं। नौका अन्त में करवट लेती है और जल उसके पेंदे में भरने लगता है। मल्लाह शोर करते हैं; पानी को भर-भरकर फेंकते हैं; पर जितना पानी वे फेंकते हैं उससे बीसगना भीतर आता है। नौका पानी में बैठ जाती है।

समुद्र की अतल गहराई में छिपा हुआ है पाताल-लोक; नीचे की ओर बराबर चलते-चलते नाव उसी लोक से जाकर टकराती है। स लोक में अपार शान्ति है, अनन्त शीतलता। न अब समुद्र का तूफ़ान है न मल्लाहों का कोलाहल। न यहाँ गृहशिक्षक का बेंत है न श्याम का नियंत्रण। न यहाँ रेखागणित या बीजगणित जैसे रूखे विषयों की ही कोई चर्चा सुन पड़ती है। कुछ दूर पर वीणा का मधुर स्वर सुनाई पड़ता है और उसी से मिला हुआ कलकण्ठ का गान। बालक आँखें खोल-कर देखता है, वह राजोद्यान में खड़ा है। इस उद्यान में सोने के पौधे हैं और नीलम के फूल। मरकत की घास बिछी है। सोने के सुन्दर महल के आगे एक स्फटिक का चबूतरा बना है जिसपर बैठी हुई राजकन्या वीणा के स्वरों के साथ अलाप रही है। उसके संगीत और सौन्दर्य की लहरें निकल-निकलकर वायुमंडल में व्याप्त हो रही हैं।

बाहर से सुनाई पड़ता है, अब्दुल अपने रोज़ के अभ्यासानुसार पुकार कर कह रहा है—'जमादार!' परीलोक उड़ जाता है और किसी अचिन्त्य शक्ति के आकर्षण से पालकी फिर जहाँ की तहाँ पहुँच जाती है। बालक किवाड़ खोलकर देखता है, सामने खड़ा है अब्दुल—अपना

घुटा सिर लिए। उसके हाथ में हैं कछुए के ताज़े अण्डे और हिलसा मछली! जमादार आकर उससे ये सब वस्तुएँ ले लेता है और रसोईघर की ओर चल देता है। और अब्दुल पड़ जाता है इसी कल्पनालोक में विहार करनेवाले बालक के हाथ।

'अब्दुल वही कहानी सुना दो, चीतेवाली।'

और अब्दुल कहने लगता है—

'वैसाख का महीना था; आँधियों के दिन। मैं हिलसा के शिकार के लिये डोंगी पर सवार होकर निकला। उधर से आ गई आँधी। अब न डाँड़ काम देते हैं न पतवार! डोंगी की यह दशा है कि अब डूबी, अब गई। मैं झट नदी में कूद पड़ा और डोंगी की रस्सी दाँतों में दाबकर पूरे ज़ोर से तैरने लगा। बड़ी कठिनता से किनारे लग पाया।'

अब्दुल की कहानी पूरी हो गई। पर बालक का मन इसे पूरी कहानी मानने को तैयार नहीं। अवश्य इसके मरुस्थल में कहीं रस का स्रोत छिपा हुआ है, अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति। उसे खोदकर देखना होगा, उसके लिये तप करना होगा। अन्यथा रस की निष्पत्ति न हो सकेगी और कहानी की धारा नग्न तथ्य के मरुस्थल में प्रवाहहीन छिपी रह जाएगी। नाव तूफ़ान में पड़ी, न डूबी न उल्टी। और अब्दुल उसे खींचकर तट की ओर ले गया। यह भी कोई कहानी हुई? वह कहानी ही क्या जिसका नायक आपत्ति के समुद्र में पड़कर भी सूखे वस्त्र लेकर निकल आये! न परीलोक पहुँचे, न परलोक? न कुछ दुस्साहस, न कौतूहल! मानो अब्दुल की कल्पना को उत्तेजन देने के लिये बालक ने प्रश्न के अंकुश का प्रहार किया—'फिर क्या हुआ, अब्दुल?'

और मानो सचमुच कहानी का खोया हुआ सूत्र फिर अब्दुल की पकड़ में आगया हो, वह कहने लगा, 'फिर बड़ी-बड़ी बातें हुईं। वहीं किनारे पर खड़ा था एक चीता। इतनी बड़ी-बड़ी उसकी मूँछें थीं। और अब्दुल ने अपनी भुजाओं से उनकी लम्बाई का जो प्रमाण निर्दिष्ट किया, संसार के किसी अजायबघर का संरक्षक यदि उसे देख पाता तो इस अलौकिक जीव को किसी भी मूल्य पर प्राप्त करने के लिये उतावला हो जाता। 'वह चीता आँधी को आया देखकर नदी-किनारे के पाकर

पर चढ़ गया था। आँधी के वेग से पाकर उखड़कर नदी में जा गिरा और उसी के साथ वह चीता भी। फिर लहरों से लड़ता-झगड़ता और डूबता-उतराता वह उसी घाट जाकर लगा जहाँ उसके कुछ ही पीछे मैं पहुँचा था।

'चीता न जाने कब का भूखा था। मुझे पास ही देखकर उसके मुँह में पानी भर आया और वह दबेपाँव मुझपर झपटने के लिये बढ़ा। मैं पहले ही से चौकन्ना था। चीते को अपनी ओर बढ़ते देखकर मैंने नाव की रस्सी का एक फन्दा बनाया और चीते के पास पहुँचते-न पहुँचते वह फन्दा उसके गले में था। फिर क्या था चीताराज जैसे जैसे फड़कते और फन्दे से गला छुड़ाने का प्रयत्न करते, वैसे-वैसे फन्दा और कड़ा होता!'

परिणति के द्वार पर पहुँचकर कहानी को ठिठकते देखकर बालक का हृदय धक-धक करने लगा। कहीं ऐसा न हो कि फिर कृपण तथ्य प्रबल हो उठे और कहानी उसके द्वार से आँखों में निराशा के आँसू लिए फिर जाए! अत: एक क्षण के आगे-पीछे के पश्चात् उसने पूछा—

'फिर क्या हुआ, अब्दुल?' उसे डर था कि कहीं अब्दुल उत्तर में यह कहकर पीछा छुड़ाने का यत्न न करे कि चीता मर गया और मैंने उसे नदी में बहा दिया या मिट्टी में दबा दिया और उसके साथ ही न केवल कहानी को, कहानी-कला को भी सदैव के लिये जल-प्रवाहित कर दे या मिट्टी के नीचे दबा दे। पर अब्दुल ऐसा अरसिक नहीं था, वह जल के उस कुण्ड को जानता था जिसमें मिलकर कहानी की अल्पस्रोता नदी परिणति के समुद्र तक पहुँचने भर को पर्याप्त जल संग्रह कर लेती है और फिर उसके सूख जाने का कोई भय नहीं रह जाता। वह बोला—

'नदी बाढ़ में थी; मैंने चीते को जल में डाला और उससे डोंगी खिंचवाने लगा। खींचते-खींचते वह कभी गरजता, कभी गुर्राता और अवसर पाकर झपट भागने का प्रयत्न भी करता, पर ठीक उसी समय उसकी पीठ पर सपाक से मेरा हंटर पड़ता और वह सीधी तरह डोंगी खींचने लगता। एक ही घंटे में वह हमारी डोंगी को इतनी दूर बहा ले गया जितनी दूर पहुँचने में मुझे दस या बारह घंटे लगते थे।'

इसके बाद क्या हुआ ! अब्दुल ने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर चीते को मुक्त कर दिया—भूलोक के कानन में विहार करने के लिये या वीरों को प्राप्त हो सकनेवाले नंदनकानन का सुख भोगने के लिये, इसकी विवेचना का कहानी के रस से कोई संबंध नहीं है। यहीं पहुँचकर कहानी बालक की उस उत्कण्ठा को पूरा कर देती है जिसकी प्रेरणा से अनागत आशंका से कहानी और श्रोता की रक्षा करने के लिए वह बार-बार अब्दुल के मुँह की ओर देखता रहता है।

[२]

जोड़ासाँको के भीतरी बरामदे के किसी कोने में एक पाठशाला लगी है। शिक्षक महोदय हैं पाँच-छः वर्ष की आयु के एक दिव्यकान्ति बालक, उनसे भी विचित्र हैं उनके छात्रगण। यह पाठशाला अध्यापक महोदय की अपनी है। छात्रों पर उनका पूरा-पूरा रोब है। बरामदे के बीच एक छोटी-सी चौकी पर अध्यापक का आसन जमा हुआ है और उनके ठीक सामने छात्र श्रेणी-बद्ध बैठे हैं। ये छात्र और कुछ नहीं, बरामदे की एक ही आकार की बनी हुई कुछ रेलिंग हैं। पर इससे क्या, अध्यापक महोदय की जीवन्त कल्पना ने उन्हें सजीव छात्रों के रूप में परिणत कर दिया है। यही नहीं उनकी विवेचकबुद्धि यह भी निर्णय कर चुकी है कि इन छात्रों में से कौन प्रतिभावान् है और कौन मन्दबुद्धि। कौन विनीत और शिष्ट है और कौन उद्धत तथा अशिष्ट।

सामान्य पाठशालाओं में शिक्षक का व्यवहार कुशाग्रबुद्धि छात्रों के प्रति स्नेहसिक्त रहता है और मन्दबुद्धि छात्रों के प्रति रूक्ष। शिष्टता और अशिष्टता के कारण भी व्यवहार-भेद देखा जाता है। शिष्ट लड़के चाहे पढ़ने में उतने अच्छे न हों, पर अशिष्ट छात्रों की अपेक्षा अवश्य कुछ अधिक कृपाभाजन बने रहते हैं। फिर जो छात्र मन्दबुद्धि भी हों और धृष्ट भी, उनकी तो सचमुच पूरी दुर्गति की जाती है। हमारे इन शिशु-शिक्षक की पाठशाला में इस सनातन नियम का कड़ाई के साथ पालन होता है। यहाँ पढ़ाने-लिखाने की ओर उतना

ध्यान नहीं दिया जाता जितना अनुशासन की ओर। जो छात्र मन्दबुद्धि हैं उनके सिरों पर विशेष कार का चिह्न लगा हुआ है जिससे उनके पहचानने में शिक्षक महोदय को असुविधा न हो। हाथ में लाठी जैसा मोटा बेंत लेकर वर्षणोन्मुख जलद-गम्भीर आकृति के साथ शिक्षक महोदय ज्यों ही पाठशाला में पधारते हैं कि उनका ध्यान इन विशेष चिह्नित छात्रों की ओर सबसे पहले आकृष्ट होता है। उनपर दण्ड की अनवरत वर्षा होने लगती है। किसी पर देर से आने के अपराध में, किसी पर गुरु को प्रणाम न करने के अपराध में, किसी पर कल का दिया हुआ काम पूरा करके न लाने के अपराध में, और किसी पर किसी अन्य अपराध के कारण। इस दण्ड का प्रहार ऐसा कठोर है कि यदि वे छात्र सजीव होते तो चीख़-चीख़कर सारी पाठशाला को सिर पर उठा लेते, या फिर पढ़ने की अपेक्षा पाटशाला छोड़कर भागने को, या अगत्या मर जाने को ही अच्छा समझते। आज भी सनातन नियमानुसार अध्यापक महाशय दुष्ट लड़कों पर दण्ड-प्रहार कर रहे थे; आज क्रोध के कारण उनके मस्तक का रुधिर अधिक उत्तेजित हो गया था। लाठी-प्रहार से छात्रों की देह पर जितने निशान बनते उतना ही अध्यापक महाशय का क्रोध और बढ़ता। मानो उन्हें इस दण्ड से सन्तोष न था और वे सोच रहे थे कि ऐसा कौन-सा नया दण्ड आविष्कार करें जिससे इन दुष्ट लड़कों का सुधार हो सके।

जिस समय ताड़ना अपनी चरमसीमा पर थी, एक छोटी बालिका वहाँ अचानक आगई। उसने कौतुक से पूछा, "यह भी कोई खेल है? काठ की रेलिंग को क्यों तोड़ रहे हो?"

"देखती नहीं, स्कूल लगा है; ये लड़के बड़े शैतान हैं; इन्हें सजा दे रहा हूँ", अध्यापक महाशय ने वैसी ही गम्भीर आकृति के साथ उत्तर दिया।

"वाह रे! ये तो रेलिंग हैं। ये लड़के कैसे हो सकते हैं?"

"और मैं भी तो छोटा बच्चा हूँ। मैं मास्टर कैसे बन गया? मेरे स्कूल में जो कुछ होता है वही तो मैं भी यहाँ कर रहा हूँ। मुझे जीवित लड़के इतने कहाँ मिलें, इसी लिये मैंने रेलिंग को ही लड़का मान लिया है।"

विस्मय-विस्फारित नेत्रों से बालिका ने पूछा, "वहाँ भी ऐसी ही मारपीट होती है।"

शिक्षक ने उत्तर दिया, "केवल मारपीट ही नहीं, और भी अनेक प्रकार के दण्ड दिए जाते हैं जिन्हें मैं अपने इन लड़कों को नहीं दे पाता, जैसे मुर्ग़ा बनाकर खड़ा कर देना और ऊपर से पीठ पर सड़ासड़ बेंतों की मार।"

"क्या तुम भी पिटते हो?" बालिका ने प्रश्न किया। गम्भीर मुख करके शिक्षक ने उत्तर दिया, "मैं तो दुष्टता करता नहीं, फिर मैं क्यों पिटूँ। मैं तो इन लड़कों की भाँति विनम्रता के साथ सिर झुकाए चुपचाप कक्षा में बैठा रहता हूँ।"—यह कहकर उसने कुछ रेलिंगों की ओर संकेत कर दिया जिनपर 'विनीत छात्र' होने का चिह्न लगा था।

[३]

कवि उन दिनों युवक थे। उनकी 'कीर्त्तिसुधा से दिग्भित्तियाँ धौत' नहीं हुई थीं, पर बंगाल उन्हें पहचानने लगा था। उनके काव्यगत भावों की सूक्ष्मता साहित्यिकों की चर्चा का विषय बन रही थी और गले की लोच और मिठास संगीतज्ञों की। सभी कहते थे कि ऐसा सुरीला गला तो कभी सुनने को ही नहीं मिला और फिर जब वे अपने गले से अपने गीत गाते तब साहित्यिक और संगीतज्ञ दोनों रस-विभोर हो जाते। एफ़ उनका स्थायी पर्दा था। पर कवि गाने के लिये किसी बाजे के मोहताज न थे। उनके लोचदार कण्ठ में वातावरण और संगीत दोनों की एक साथ सृष्टि कर देने की अभूतपूर्व क्षमता थी, पर उनके गीत उन्हीं के गले से सुनने का सौभाग्य उस समय तक परिजनों और इष्टमित्रों को छोड़कर बाहरवालों को कम प्राप्त होता था और जिसे ऐसा सुयोग एक बार भी मिल जाता वह अपनी गोष्ठी में उनकी प्रशंसा करते न अघाता।

इस प्रशंसा से आकर्षित होकर रंगमंच के प्रबन्धक भी उन तक पहुँचते। कोई स्टेज पर एक गीत सुनाने की प्रार्थना करता, कोई अपने

रचे नाटक का गेय भाग पूरा करने या शुद्ध करने की याचना करता। सिनेमा की महामारी उन दिनों कलकत्ता जैसे शहर में भी न फैली थी, इसलिये रंगमंचों, संगीत-गोष्ठियों और पारिवारिक गायनों से कला का बहिष्कार भी न हुआ था। उत्सवों व संगीत-मंडलियों में उनकी उपस्थिति की प्रार्थना तो साधारण बात थी। पर कवि को इतना अवकाश कहाँ? उनकी सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की खोज जारी थी; प्रकृति के साथ हृदय का, आत्मा का समन्वय हो रहा था। वे जहाँ रहते, देश-काल की सीमाओं से परे किसी अतीत-काल के राजप्रासादों में अथवा कल्पनाप्रसूत परीलोक की रंगरलियों के बीच।

साहित्य-प्रेमी नवयुवक भी प्रयत्न करके उनके पास आने लगे थे; कुछ साहित्य-चर्चा के प्रसंग से कवि का सान्निध्य प्राप्त करने के लालच से, कुछ और नहीं तो उनके कण्ठ से एक गीत सुनने के लिये और कुछ रेशमी कपड़े की जिल्द से सुशोभित अपनी डायरी पर उनके हस्ताक्षर लेने के प्रयोजन से। सभी को समय दे सकना उनके लिये कठिन था।

ऐसा ही एक उत्साही युवक 'जोड़ासाँको' पहुँचा। कवि उस समय भीतर थे—न केवल गृह के, गृही के भी; इसलिये बार-बार परिचारिका-द्वारा भेंट के लिये कहलाने पर भी कुछ फल न हुआ। अन्ततः सर्वनाश के स्थान पर अर्धनाश को ही ग्रहण करने के विचार से केवल हस्ताक्षर दे देने की प्रार्थना की तब कवि ने एक सादे से काग़ज़ पर अपना नाम लिखकर भेज दिया। न भेंट हुई, न साहित्यिक चर्चा, डायरी पर हस्ताक्षर तक न मिल सके। सम्भव है, इससे युवक के आत्माभिमान को ठेस लगी हो और उसने कवि को अभिमानी समझा हो। पर कोई चारा न था। वह चला गया उसी सादे काग़ज़ के टुकड़े पर सन्तोष करके!

कुछ महीने बीते, और बात आई-गई हो गई। गर्मियाँ आईं। कलकत्ते की सड़कें तवे की तरह जलने लगीं। कोलतार का पलस्तर उन दिनों नहीं चला था, फलतः सड़कों पर बिखरे हुए पत्थरों के टुकड़े सहस्रांशु की जलती हुई किरणों को निर्दयतापूर्वक पथिकों की आँखों में झोंक दिया करते थे। दोहपर में राजपथ सुनसान रहते थे। लम्बी दोपहरियाँ काटने के लिये लोग घरों में बैठकर या तो चौसर-ताश खेलते

थे, या ग़पशप करते थे। बाहर कभी-कभी घोड़ागाड़ी के हालदार—उन दिनों रबर-टायर का आविष्कार नहीं हुआ था—पहियों की खड़खड़ाहट और उसके बीच-बीच में अस्थिचर्मविशिष्ट घोड़े की पीठ पर पड़ते हुए हंटर की सड़ाकें की आवाज़ सुनाई दे जाती थी, जो लू की सरसराहट से अभिन्न-सी लगती थी। कलकत्ता व्यापारिक नगर तब भी था, पर आज-कल की तरह पैसे के पीछे रात और दिन को, दोपहरी और अर्धरात्रि को एक करने की आदत उसे न पड़ी थी। तब वह काम के समय काम करना जानता था तो आराम के समय आराम करना भी।

ठीक ऐसी ही एक दोपहरी थी। हस्ताक्षरों को संग्रह करने का शौकीन हमारा परिचित उक्त नवयुवक अपनी बैठक में इष्टमित्रों और परिजनों के साथ ग़पशप और हास्य-विनोद कर रहा था। एक घोड़ागाड़ी जिसपर आधा हुड लगा हुआ था, अचानक आकर उसके द्वार पर रुक गई और उसमें से गौरवर्ण, प्रशस्त ललाट, कुंचित केशराशि और आकर्षक अंगयष्टिवाला एक युवक लम्बा-चौड़ा क़ीमती कपड़े का चोग़ा लहराते हुए उतरा और बैठक की ओर बढ़ा। कुटुम्ब के सदस्यों में से कुछ उसे पहचानते थे; कुछ ने केवल अनुमान से काम लिया और युवक के बैठक में पहुँचते-पहुँचते सबने उठकर उसका स्वागत किया तथा उसे घेरकर खड़े हो गए। इस समय घरवालों के चेहरों पर रहस्यपूर्ण मुस्कराहट थी, पर आगन्तुक के चेहरे से विस्मय और परेशानी के भाव प्रकट हो रहे थे।

युवक की ओर लक्ष्य करते हुए आगन्तुक ने कहा—"क्यों भाई, ये एक हज़ार रुपये मैंने कब ऋण लिए हैं; और यदि सचमुच मैंने लिए हैं तो मुझे चुकाने भी चाहिए।" घरवाले पीछे को मुँह फेर-फेरकर मुस्कराने लगे। पर आगन्तुक के चेहरे पर विषाद की रेखाएँ गहरी और स्पष्ट थीं।

उसने लम्बे चोग़े की जेब से एक काग़ज़ निकाला और उसे खोलकर उपस्थित व्यक्तियों के आगे पेश कर दिया। सचमुच यह एक रुक्का था, जिसमें एक हज़ार रुपये क़र्ज़ लेने और तकाज़े पर चुकाने की बात लिखी थी। नीचे बँगला वर्ष के अखीरी महीने की एक तिथि लिखी थी। ऋण

लेनेवाले का नाम उसी के हस्ताक्षरों में—ये हस्ताक्षर असली थे और शेष रुक्के की लिखावट भी उन अक्षरों से मिलती थी—'रवीन्द्रनाथ ठाकुर' लिखा था।

हिसाब लगाकर देखा तो ज्ञात हुआ कि बँगला वर्ष के अन्तिम महीने की उक्त तिथि 'पहली अप्रैल' को पड़ी थी।

यह था एक विनोद और उस कलाकार नवयुवक की कुशलता का परिचय। भेद खुलते ही हँसी का फ़ौवारा छूट पड़ा। अब सब हँस रहे थे, कवि भी और घरवाले भी! कुछ देर तक यह अट्टहास कमरे भर में गूँजता रहा। अन्त में कवि बोले—"मैं सब समझ रहा था। और यह भी समझ गया था कि यह मेरे लिये निमंत्रणपत्र है। अच्छा तो अब तो मैं आ ही गया हूँ तो लगे हाथ अपना ऋण भी चुकाता चलूँ।" और फिर संगीत आरम्भ हो गया। कवि स्वरचित गीत गा रहे थे और श्रोता मंत्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। पास ही हारमोनियम रक्खा था, पर वह बेचारा बिना खुला रक्खा रहा। नपी-तुली ध्वनियों पर निर्मित तीव्र और कोमल—केवल दो प्रकार के पर्दोंवाली झंकारोत्पादक तारों के विधान से रहित, अत: बीच के व्यवधान को भरने में असमर्थ बाजा समझा जानेवाला, बेचारा हारमोनियम तीव्र, कोमल, कोमलतर और कोमलतम स्वरों का, स्पष्ट विभाजन कर सकनेवाले कवि-कण्ठ का साथ भला कैसे दे सकता था?

सूर्य अस्ताचल की ओर पहुँचा। दक्षिण की वायु राजपथों के उत्ताप को हरने लगी; बाहर आनन्द का संचार होने लगा पर उससे भी अधिक आनन्द था अभ्यन्तर में, उस बैठक में; जहाँ प्रकृति के साथ पुरुष का तादात्म्य हो रहा था, वहाँ इन क्षणिक प्राकृतिक परिवर्तनों की ओर ध्यान देने की किसे चिन्ता थी; किसे अवकाश था?

कवि चले गए; पर उनके स्वर, उनकी तानें श्रोताओं के कानों में, मस्तिष्कों में, भवन के वायुमंडल में बहुत देर तक वैसी ही गूँजती रहीं। अचल भित्तियों का, चलवायु का और चलाचल मानव-हृदयों का अणु-अणु, कण-कण बाह्याभ्यन्तर संगीत-संवेदन में एकाकार हो रहा था।

वातावरण

बंगाल के तीन आन्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में बंगाल में तीन आन्दोलन ज़ोरों पर चल रहे थे। पहला आन्दोलन धार्मिक था जिसके मूल सूत्रधार राजा राममोहन राय थे। राजा साहब की विचार-धारा के साथ बंगाल की तत्कालीन अवस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सन् १७५७ में पलासी की पराजय के पश्चात् से बंगाल की राजनीति अँगरेज़ों के हाथ आ गई थी और उसके साथ ही साथ बंगाल में आया था अँगरेज़ी शिक्षा और संस्कृति का प्रबल आकर्षण, जिसने बंगाल के धार्मिक और सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया था। इस समय न केवल बंगाल के राजनैतिक अधिकार पुराने शिथिल हाथों से निकलकर नये सशक्त हाथों में जा रहे थे, वहाँ की पुरानी सामाजिक व्यवस्था भी शिथिल होने लगी थी। अँगरेज़ों की बढ़ती हुई शक्ति का आतंक जनता में इस प्रकार फैल रहा था कि वह समझने लगी थी कि पाश्चात्य देशों की भौतिक सफलता ही सब कुछ है और उसके सामने भारत की

आध्यात्मिक सफलता का कुछ भी मूल्य या महत्त्व नहीं है। बंगाल का तरुण-समाज तो यहाँ तक प्रभावित हो रहा था कि उसे अपने समाज की रूढ़िगत रीतियाँ फूटी आँख न सुहाती थीं। इतना ही नहीं, वह यह भी मानने को तैयार न था कि हमारे सामाजिक ढाँचे में कुछ त्रुटियाँ आ गई हैं जिनके दूर हो जाने से काम चल जाएगा। उसकी तो माँग थी समाज के इस दकियानूसी ढाँचे को आमूल नष्ट करके पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार उसका संगठन नये सिरे से करने की। कमी केवल यह थी कि इस तरुण-समाज के हाथ पर्याप्त शक्तिशाली नहीं थे।

इन्हीं दिनों कलकत्ता का महत्त्व बढ़ा। अठारहवीं सदी के दूसरे चरण में जहाँ अँगरेज़ों की केवल एक छोटी-सी कोठी थी और उसके आस-पास मछुहों के कुछ छोटे-छोटे गाँव। वहाँ अब आबादी बढ़ने लगी। सरकारी दफ़्तर आ गए, शानदार भवन बन गए। ऊँची कोठियाँ खड़ी हो गईं और अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटिश राज्य का वैभव दिखलाते हुए कलकत्ता सिर उठाकर खड़ा हो गया। धीरे-धीरे वह धार्मिक आन्दोलनों का भी केन्द्र बन बैठा। शिक्षित नागरिकों का एक दल उठ खड़ा हुआ जिसने अशिक्षित और निम्नवर्ग के हाथों से आध्यात्मिक नेतृत्व छीन लिया। इसी समय जनता की रुचि अँगरेज़ी पढ़ने की ओर बढ़ने लगी क्योंकि अँगरेज़ व्यापारियों के साथ काम चलाने के लिये अँगरेज़ी का ज्ञान अनिवार्य था।

इसी समय प्रकाण्ड मनस्वी राजा राममोहन राय कार्यक्षेत्र में आए जिन्होंने जनता की परिवर्तित विचार-धारा का अध्ययन किया और उसे एक निश्चित दिशा की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया। राय महोदय पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी में नौकर थे। १८१४ में उन्होंने अपना पद त्याग दिया और आकर कलकत्ते में बस गए। उनका जन्म १७७२ ई० में बर्दवान के पास राधानगर में हुआ था। उनके पूर्वज दरबारी थे। पर राय महाशय के आगमन के समय उनकी शान-शौक़त कम रह गई थी। राममोहन राय की माता ग़रीब वैष्णव ब्राह्मण की लड़की थीं। राय महोदय की आरम्भिक शिक्षा पटना के एक मुस्लिम स्कूल में हुई थी।

वहाँ उन्होंने अरबी और .फ़ारसी का अध्ययन किया था। मुस्लिम सम्पर्क का उनके जीवन पर गहरा असर पड़ा. यहाँ तक कि १६ वर्ष की आयु में ही उन्होंने मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध .फ़ारसी में एक पुस्तक लिखी। इन्हीं दिनों उनकी प्रवृत्ति जनता का धार्मिक नेतृत्व करने की हुई। उनके जीवन पर ईसाई-धर्म का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। परन्तु ईसाइयों के त्रित्ववाद (Trinity) के वे विरोधी थे और इसे कुफ़ का विकृत रूप कहा करते थे। उनके मस्तिष्क में एक ऐसे आदर्श विश्वधर्म का रूप था जो इस्लाम के 'ला इलाह इल्लिल्लाह' उपनिषदों के 'एकमेवाद्वितीयम्' और ईसाइयों के आचारशास्त्र का सम्मिलित रूप हो। यद्यपि वे साधारण मूर्त्तिपूजा और धार्मिक अन्ध-विश्वास के कट्टर विरोधी थे फिर भी वेदान्त के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' रूपी सर्वेश्वरवाद और उस ज्ञान-द्वारा पोषित बहुदेववाद के विरोधी नहीं थे जो न समस्त ईश्वरप्रतिमाओं को प्रतीक-मात्र समझकर उनके पीछे उस अलौकिक एकता का दर्शन करता है जिसका उपदेश उपनिषद् ने 'तत्त्वमसि' (वह तू है) द्वारा दिया है। फिर भी उनका उद्देश्य एक ऐसे धर्म की स्थापना करना था जो लोकप्रिय भी हो और ज्ञान-सम्मत भी, अतः उन्होंने बहुदेववाद का विरोध किया और केवल एक ऐसे ईश्वर की उपासना करने का उपदेश किया जो सर्वशक्तिमान्, अद्वितीय और अनन्त है। उनके मतानुसार भारत के मूर्त्तिपूजक-सम्प्रदाय उस धर्म के विकृत रूप थे जिसका उपदेश पूर्व ऋषियों ने उपनिषदों-द्वारा दिया है। वे देवमूर्त्ति के आगे बकरे का बलिदान करने के विरोधी थे। उनके सिद्धान्तानुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिये गृहत्यागी या वनवासी बनने की कोई आवश्यकता नहीं है, धार्मिक व्यक्ति के रहने के लिये घर और मानव-समाज ही सर्वोत्तम स्थान हैं।

१८२८ ईसवी में कुछ अपने अनुयायियों के सहयोग से राजा राम-मोहन राय ने 'ब्रह्म-सभा' की स्थापना की। इसी वर्ष की २० अगस्त को कलकत्ते में इसका एक मन्दिर स्थापित हुआ जिसमें 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म की किसी प्रकार की प्रतिमा नहीं रक्खी गई थी। सप्ताह में एक बार इस मन्दिर में सत्संग

हुआ करता था। इस सत्संग में उपनिषदों का पाठ और उनके सिद्धान्तों की व्याख्या हुआ करती थी।

इस प्रकार एकेश्वरवादी ब्रह्म-सभा की स्थापना करके राजा राम-मोहन राय ने रूढ़ियों से परित्रस्त हिन्दुओं के लिये और विशेषतया उन नवयुवकों के लिये जो ईसाई-धर्म से आतंकित हो रहे थे, सुधार का एक मार्ग खोल दिया।

इस धार्मिक सुधार के साथ ही साथ राजा साहब का ध्यान समाज-सुधार की ओर भी आकर्षित हुआ। हिन्दू-समाज में कुछ ऐसी प्रथाएँ थीं जिनका होना समाज के लिये भीषण कलंक था। सती-प्रथा भी इनमें से एक थी। यों तो मृत पति के साथ विधवा स्त्री का प्राण-त्याग कर देना हमारे देश में गौरव और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता रहा है, पर इस प्रथा ने बढ़ते-बढ़ते बड़ा बीभत्स रूप धारण कर लिया था। पति की चिता पर उसकी विधवा पत्नी को पकड़कर बिठा दिया जाता था और उसके विरोध करने व रोने-कलपने पर ध्यान न देकर उसे जीवित ही सती हो जाने के लिये विवश किया जाता था। इसे देखकर सहृदयों को बड़ा दुःख होता था। पर न तो उनमें धर्म के नाम पर चलती हुई इस प्रथा का विरोध करके समाज में नक्कू बनने का साहस था, न सरकार ही इस अमानुषिक कृत्य को रोक सकती थी क्योंकि सरकार देशवासियों की धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं में हस्तक्षेप न करने के लिये नियम कर चुकी थी। बड़े परिश्रम और आन्दोलन के पश्चात् प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुर के सहयोग से अन्त में राय महाशय तत्कालीन लार्ड विलियम बैंटिक को इस प्रथा को रोकने के लिये राज़ी करने में सफल हो सके।

पर इन समस्त शुभ विचारों के साथ ही साथ राय महोदय आश्चर्य-जनक शीघ्रकारी थे। वे चाहते यह थे कि हिन्दू-समाज की रगों में से इस कचड़े को जो सदियों की प्रवाहमंथरता के कारण वहाँ इकट्ठा हो रहा है, एक साथ निकालकर फेंक दें। वे चाहते थे कि हिन्दू जाति की नसों में विशुद्ध रक्त का अबाध गति से संचार हो और यह जाति संसार की अन्य उन्नत जातियों के साथ प्रगति की दौड़ में भाग ले सके। वे धर्म को उसके मौलिक रूप में तो स्वीकार करते थे पर बाह्याचारों को

दम्भ कहकर उनका घोर विरोध करते थे। उनके तीव्र आक्षेपों का फल यह हुआ कि पंडितों का एक बड़ा दल जो धर्मशास्त्र के प्राचीन पाषाण-प्राचीरों के घेरे में छिपकर बैठे रहने को ही धर्मरक्षा का सर्वोत्तम साधन मानता था, उनका विरोधी हो गया। भूतकाल के ऐश्वर्य पर जीवित रहनेवाले पंडितवर्ग में और प्रगति के लिये प्रयत्नशील राय महोदय में बहुत बड़ा संघर्ष छिड़ गया जो उनकी मृत्यु तक बराबर जारी रहा। २७ नवम्बर १८३३ में इँग्लैंड में उनका देहावसान हो गया और फिर उनका कार्य महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के ऊपर आ गया। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्रह्म-समाज की स्थापना करके इस आन्दोलन को एक नया रूप प्रदान किया।

समाज-सुधार का जहाँ तक सम्बन्ध था, महर्षि की गति उतनी तीव्र नहीं थी, और उनकी यह मंद गति उनके कुछ सहकारियों को सहन न हो सकी। केशवचन्द्र सेन (१८३८-८४) उनमें प्रमुख थे। वे इस आन्दोलन में १८५७ ई० में सम्मिलित हुए थे। बचपन से अनाथ हो जाने के कारण केशव बाबू की शिक्षा-दीक्षा एक ईसाई स्कूल में हुई थी, इसी कारण उनके जीवन पर ईसाई-मत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वे स्वयं भी अपने को ईसा का सेवक कहा करते थे। उनका यह भी कथन था कि ईसाई-मत योरप की देन नहीं है, यह तो एशिया की वस्तु है क्योंकि ईसा का जन्म एशिया में ही हुआ था। उनका उपदेश था कि ईसा के नाम पर योरप और एशिया—इन दोनों को एक हो जाना चाहिए। परिणाम यह हुआ कि १८६६ में ब्रह्म-समाज में मतभेद हो गया और महर्षि देवेन्द्र-नाथ ठाकुर अपने थोड़े से अनुयायियों के साथ पृथक् हो गए। इस गोष्ठी का नाम 'आदि ब्रह्म-समाज' पड़ा। अधिक लोग केशव बाबू के अनुयायी बने। यह समाज जैसा-जैसा आगे बढ़ता गया, भारतीय रीति-रवाजों और समाज-संगठन की भारतीय पद्धति से दूर होता गया।

इसके बाद केशवचन्द्र सेन के हृदय में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। उन्होंने भारत के प्राचीन योगियों की भाँति समाधिस्थ होना प्रारम्भ किया। उनका कथन था कि इस समाधि की अवस्था में उन्हें प्राचीन सन्तों के दर्शन होते हैं, और संत भी न केवल भारतीय, ईसा, जान दी

बेपटिस्ट, एर्यांसिल पाल आदि। अब वे धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म के निकट आने लगे। उनके इस कार्य से ब्रह्म-समाज में फिर भेद होने की नौबत आई, विशेषतया १८७८ में जब केशवचन्द्र सेन ने अपनी चतुर्दशवर्षीया कन्या का विवाह कूच बिहार के षोडशवर्षीय राजा के साथ कर दिया। यह बाल-विवाह था और ब्रह्म-समाज के सिद्धान्तानुसार अनुचित कृत्य था। कुछ और भी मतभेद उत्पन्न हो गए और ब्रह्मसमाजी लोगों के एक दल ने पृथक होकर 'साधारण समाज' की स्थापना की। शिवनाथ शास्त्री इसके नेता थे। इधर इन्हीं दिनों उत्तर-भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती के नेतृत्व में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी, उसका भी बंगाल पर प्रभाव पड़ रहा था और बंगालियों का एक दल उसकी ओर भी आकृष्ट हो रहा था। पर बंगाल का लोक-धर्म भी इन नये धर्मों की चकाचौंध में सर्वथा अप्रतिभ हो गया हो, यह बात नहीं थी। महात्मा रामकृष्ण परमहंस (१८३३-८६) चंडीदास और चैतन्य महाप्रभु के पदांकों के अनुसार मा काली के रूप में अनन्त शक्ति का आत्मा के साथ—जो उसी का एक अंश है—समन्वय करा रहे थे और उनके वचनों का घर-घर में आदर के साथ प्रचार हो रहा था। यहाँ तक कि केशवचंद्र सेन पर भी उनके वचनों का प्रभाव पड़ा था। पर तब, जब उनका जीवन केवल एक वर्ष शेष रह गया था।

दूसरा आन्दोलन साहित्यिक था। इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक थे प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय। आयु में चट्टोपाध्याय महाशय रवीन्द्रनाथ ठाकुर से बहुत बड़े थे। फिर भी उनके दीर्घायु होने के कारण रवि बाबू को उनके समसामयिक होने का अवसर मिला था। बँगला-भाषा और साहित्य के सुधारकों में वे अग्रणी थे। उनसे पहले बँगला-भाषा रूढ़ियों की शृंखलाओं में जकड़ी हुई थी। नये शब्दों और विचारों का ग्रहण करना बँगला-लेखकों की दृष्टि में अपराध था और जो शब्द थे वे इतने पुराने और घिसे-मँजे थे कि उनमें नये भावों और विचारों को व्यक्त करने की क्षमता नहीं थी। बंकिम बाबू ने इस रूढ़िवादिता का विरोध किया और जहाँ एक ओर पुराने और व्यंजनाहीन शब्दों के अनावश्यक भार से भाषा को मुक्त किया वहाँ दूसरी ओर अनेक नये

और व्यंजक शब्दों के समावेश से उसकी शक्ति को कई गुना बढ़ा दिया। वस्तुतः बंकिम बाबू की क़लम के स्पर्श से बँगला-भाषा पुराने युग से एकदम प्रगति और प्रकाश के युग में आगई।

तीसरा आन्दोलन राष्ट्रीय था। यह यद्यपि सच्चे अर्थों में राजनैतिक नहीं था फिर भी यह जाति के विचारों और भावनाओं को वाणी प्रदान कर रहा था।

यह भारतीय राष्ट्र की एक सम्मिलित आवाज़ थी—उस अपमान, उस तिरस्कार और उस अवमानना के विरोध में, जो उसपर बलपूर्वक उस जाति-द्वारा, जो पूर्वीय नहीं थी, लाद दिया गया था। और जिसकी आदत थी संसार को अच्छे और बुरे—दो भागों में बाँट डालने की; जो उनकी रहन-सहन और जातीय जीवन के अनुरूप हो वह अच्छा और जो उससे भिन्न हो वह बुरा!

हमारे प्रति, हमारे राष्ट्र के प्रति यह उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ घृणा का भाव न केवल हममें अपने को क्षुद्र समझने की भावना पैदा कर रहा था, हमारी संस्कृति को भी गहरा धक्का पहुँचा रहा था। हमारे नवयुवकों की ऐसी धारणा बनती जा रही थी कि जो कुछ हमारे देश का पुराना है वह सभी ग़लत है। वे लोग पुराने चित्रों और पुराने ग्रन्थों की दिल्लगी उड़ाते थे। यह गुण उन्होंने सीखा था अपने योरपीय स्कूल-मास्टरों से। फलतः उनके हृदयों में अपनी पुरानी संस्कृति के प्रति घृणा और तिरस्कार का भाव जड़ जमा रहा था। यह उस जाति की जादू की लकड़ी का असर था जिसकी आवाज़ में ज़ोर था और भुजाओं में बल!

ठाकुर-परिवार

बंगाल के इन तीनों आन्दोलनों को सबसे महत्त्वपूर्ण समर्थन और सहयोग प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्राप्त हुआ। ये तीनों महान् पुरुष ठाकुर-परिवार के रत्न थे। ठाकुर-परिवार अपनी विद्या और सम्पन्नता के कारण बंगाल में बहुत दिनों से प्रतिष्ठित है। यह परिवार बंगाली ब्राह्मणों

की राढ़ी शाखा और शांडिल्य गोत्र के अन्तर्गत है। 'ठाकुर' की उपाधि इन्हें मुग़लदरबार से मिली थी। कुलशास्त्र के अनुसार यह परिवार 'कुसारी' वंश का है। इनमें से पहले कुसारी भट्टनारायण थे। इन भट्टनारायण के पुत्र थे दीना कुसारी, जिन्हें कुसारी जाति का प्रतिष्ठाता कहना चाहिए। उनके पुत्र जगन्नाथ कुसारी का विवाह-मूल 'पिराली' वंश के जैसोरनिवासी गौरीशुकदेव की कन्या से हुआ। इसके बाद पुरुषोत्तम हुए जिन्हें ठाकुर-परिवार का पिता कहना चाहिए। इसी वंश के छठे पुरुष पंचानन सन् १६९० ई० में जैसोर छोड़कर गोविन्दपुर नामक गाँव में आ बसे। यह गोविन्दपुर वहीं पर बसा था जहाँ पर इस समय फ़ोर्ट विलियम नामक दुर्ग बना है।

भारत में अँगरेज़ी राज्य की प्रतिष्ठा और कलकत्ता में राजधानी की स्थापना के साथ ही साथ ठाकुर-वंश का भी अभ्युदय हुआ। जयराम ठाकुर ने गड़ेरमाठ और फ़ोर्ट विलियम के बीच एक विशाल और भव्य महल अपने रहने के लिये बनवाया। उनकी मृत्यु के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी को फोर्ट विलियम की वृद्धि करने की आवश्यकता हुई तब उसने जयराम ठाकुर के दो पुत्रों—नीलमणि ठाकुर और दर्पनारायण ठाकुर, को उचित मूल्य देकर महल मोल ले लिया। इसके बाद ठाकुर-परिवार जाकर पाथुरघाट पर रहने लगा। कुछ दिन बाद कलकत्ते का यह प्रसिद्ध वंश दो भागों में विभक्त हो गया। ज्येष्ठ भ्राता नीलमणि ठाकुर ने प्रचुर धन व्यय करके 'जोड़ासाँको' भवन बनवाया और स्वयं अपने परिवार के साथ उसी में आकर रहने लगे। छोटे भाई दर्पनारायण ठाकुर पाथुरघाटवाले पुराने घर में ही बने रहे। महाराजा सर यतीन्द्रमोहन, राजा सर सौरीन्द्रमोहन आदि प्रख्यात महापुरुष इसी गोष्ठी के रत्न थे।

जोड़ासाँको की गोष्ठी में भी एक से एक बढ़कर विख्यात पुरुष उत्पन्न हुए। प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर के समय में तो ऐश्वर्य और शाही रहन-सहन के कारण यह गोष्ठी मानो सम्पन्नता के मध्याह्न में पहुँच गई थी। उनका अतुल ऐश्वर्य विपुल सम्मान और असाधारण व्यक्तित्व न केवल देश में, योरप में भी आश्चर्य के साथ देखा जाता था। उन्होंने अपने उद्योग से करोड़ों रुपया पैदा किया और ख़र्च भी ख़ूब किया। दानी

भी वे उच्च कोटि के थे। उन दिनों ऐसी कोई सार्वजनिक संस्था नहीं थी जिसे प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर की सहायता प्राप्त न हुई हो। ज़मींदार-सभा, यूनियन बैंक और हिन्दू कालिज तो उन्हीं के उद्योग से स्थापित हुए थे। उनके दान की अनेक कहानियाँ अब तक जनता की ज़बान पर हैं। उनमें से एक यह है कि एक बार कोई जज साहब छुट्टी पर विलायत जाने लगे। वे अपनी पूरी तैयारी कर चुके थे और प्रस्थान ही करनेवाले थे कि उनका महाजन आगया और कहने लगा कि मेरे ऋण के जो एक लाख रुपये आप पर चाहिए उन्हें चुका कर जाइए। जज साहब के पास उस समय इतना धन नहीं था, अतः वे परेशानी में पड़ गए। यदि वे रुपया नहीं चुकाते तो विलायत के स्थान पर उन्हें जेल जाने को तैयार रहना चाहिए। जज साहब ने एक पत्र-द्वारा प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर को सारी परिस्थिति लिख भेजी और उनसे सहायता की याचना की। द्वारकानाथ ने महाजन को अपने घर पर बुला भेजा और उसका पैसा-पैसा चुकाकर रसीद लेकर जज साहब से मिलने गए। उधर जज साहब अपनी परेशानी सुनाने लगे और इधर द्वारकानाथ ने महाजन की दी हुई रसीद सामने रख दी और कहा कि आप निश्चिन्त होकर विलायत जा सकते हैं। यह देखकर जज साहब चकित हो गए और श्रद्धा तथा प्रशंसा की दृष्टि से द्वारकानाथ की ओर देखते हुए उनसे इस धन के लिये एक दस्तावेज़ लिखा लेने की प्रार्थना करने लगे। पर इसके लिये द्वारकानाथ राज़ी नहीं हुए।

सरकार में भी प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर का बहुत मान था। उच्च राजकर्मचारी अँगरेज़ पेंचीदा मामलों में उनकी सम्मति लिया करते थे। सरकार की ओर से उन्हें 'जस्टिस आफ़ पीस' की उपाधि दी गई थी। उस समय तक भारतीयों में दूसरा ऐसा कोई न था जिसे सरकार की ओर से ऐसा उच्च सम्मान प्राप्त हुआ हो। डिप्टी मजिस्ट्रेट पद की स्थापना सरकार ने उन्हीं के सुझाव से की थी। बंगाल के तत्कालीन गवर्नर अनेक बार जोड़ासाँको में प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर के मेहमान हुए थे।

सन् १८४२ में द्वारकानाथ ठाकुर योरप गए थे। वहाँ भी इन्हें अभूत-

पूर्व सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। रोम के पोप, इटली के सम्राट्, फ़ांस के सम्राट् लुईफिलिप तथा इँगलैंड की महारानी विक्टोरिया ने इनसे भेंट करना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया था। महारानी विक्टोरिया ने तो इन्हें बकिंघम पैलेस में अपने साथ भोजन करने के लिये भी साग्रह आमंत्रित किया था। योरप-भ्रमण के दिनों में इनका रहन-सहन ऐसा शाहाना था कि वहाँ के निवासी इन्हें प्रिन्स कहा करते थे। पीछे से यह शब्द इनके नाम के साथ सदा के लिये जुड़ गया।

प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर के तीन पुत्र थे—देवेन्द्रनाथ, गिरीन्द्रनाथ और नगेन्द्रनाथ। देवेन्द्रनाथ ठाकुर आगे चलकर अपनी अपार विद्वत्ता और धार्मिकता के कारण 'महर्षि' के नाम से विख्यात हुए।

१८ वर्ष की आयु में अपनी पितामही का देहान्त हो जाने पर देवेन्द्रनाथ का हृदय आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट हुआ। उनके हृदय में सत्य-तत्त्व की ऐसी प्रबल जिज्ञासा हुई कि वे ब्रह्म-धर्म में दीक्षित हो गए और उस समय से लेकर जीवन में अन्त तक सत्य और शान्ति के अन्वेषण में लगे रहे।

ठाकुर-परिवार के व्यक्ति भी जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं, राय महोदय के परिवार के पुरुषों की भाँति, मुग़लों के दरबारी रहे थे। उनका दरबार में बहुत अधिक सम्मान था। कहा जाता है कि इस परिवार का कोई पूर्व पुरुष किसी मुग़ल सम्राट् के सहभोज में सम्मिलित हुआ था, इसी कारण कट्टर बंगाली ब्राह्मणों ने ठाकुर-वंश को जातिच्युत घोषित कर दिया था। मुसलमानों के प्रभाव के कारण हो, या अपने तत्त्वज्ञान के कारण, ठाकुर-परिवार के सभी पुरुष मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी रहे हैं। देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी एक ईश्वर में विश्वास रखते थे। पर वे राजा राममोहन राय की भाँति ईसाई-धर्म से प्रभावित न थे। फ़ारसी-कविता से उन्हें बहुत अनुराग था, पर उसके अध्यात्मवाद से उन्हें सन्तुष्टि न मिलती थी। न उपनिषदें ही उनकी तत्त्वजिज्ञासा की निवृत्ति संतोषजनक-रूप से कर सकती थीं। उन्होंने उपनिषदों से कुछ वाक्य चुन लिए थे और उन्हें अपने धर्म का आदर्श बनाया था। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' के सिद्धान्त पर उनका विश्वास नहीं था।

कारण, इसकी पुष्टि किसी वैदिक मंत्र से—वेदों पर महर्षि की बहुत बड़ी श्रद्धा थी और उन्होंने स्वयं ऋग्वेद का वंग-भाषा में अनुवाद किया था—नहीं होती। १८३९ ई० में उन्होंने अपने साथियों और सहयोगियों की सहायता से एक सोसाइटी स्थापित की जिसका उद्देश्य था सर्वस्वीकृत सत्य का प्रचार और हिन्दू-धर्म का परिष्कार। इसके पश्चात् १८४५ में उन्होंने ब्रह्म-समाज की स्थापना की। ब्रह्म-समाज एकेश्वरवादी संस्था है और इसके उपदेश भावनाओं पर अधिक आधारित हैं, बुद्धि पर कम।

ब्रह्म-समाज की स्थापना हो जाने से ईसाई-धर्म का प्रचार बहुत कुछ रुक गया। वेदों का अध्ययन और अनुशीलन होने लगा। वेदों के गंभीर अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि महर्षि के हृदय से वेदों के निर्भ्रान्त होने का विश्वास उठ गया। इन्होंने 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका स्थापित की और ऋग्वेद के अतिरिक्त कई उपनिषदों का वंगानुवाद भी किया तथा अनेक ब्रह्म-धर्म-सम्बन्धी ग्रंथ लिखे। बँगला, संस्कृत, अँगरेज़ी और फ़ारसी भाषाओं पर महर्षि का पूरा अधिकार था।

सांसारिक व्यक्तियों की दृष्टि में देवेन्द्रनाथ ठाकुर सचमुच महर्षि थे। वे कितने महान् और उदार थे इसका परिचय उनके जीवन-वृत्त से मिलता है।

जिस समय महर्षि के पिता द्वारकानाथ ठाकुर की मृत्यु हुई, उनके ऊपर बहुत-सा ऋण था। विलायत में ठाट-बाट से रहने और असाधारण दान करने से वे प्रायः एक करोड़ के ऋणी हो गए थे। उस समय देवेन्द्रनाथ की अवस्था तीस वर्ष की थी। हिसाब करने पर मालूम हुआ कि दूसरों से उन्हें सत्तर लाख रुपये मिलने हैं और देना है एक करोड़। पिता के इस ऋण के चुकाने की उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सब महाजनों को बुलाकर उनसे स्पष्ट रूप से सारी बातें कह दीं। देवेन्द्रनाथ के पिता उनके लिये कुछ सम्पत्ति छोड़ गए थे। उस सम्पत्ति पर डिगरी करवाने का महाजनों को कोई अधिकार न था। देवेन्द्रनाथ जानते थे कि ऋण के कारण उनकी इस सम्पत्ति में किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती, और इसके बचे रहने से उन्हें किसी बात की कमी न होगी। परन्तु क्या यह भी कभी हो सकता था कि वे स्वयं इस सम्पत्ति का भोग

करते रहें और महाजन लोग अपना न्यायसंगत रुपया न पाएँ ! अन्य सम्पत्तियों के साथ-साथ अपनी उस सम्पत्ति को भी वे महाजनों को सौंपने के लिये तैयार हो गए। यह देखकर महाजनों के आश्चर्य की सीमा न रही। उन लोगों ने सोचा कि यदि ये चाहते तो अनायास ही अपनी सम्पत्ति की रक्षा कर सकते थे परन्तु ऐसा न करके वे अपना सर्वस्व छोड़कर फ़कीर बन बैठने को तैयार हैं। उनके सम्बन्धियों तथा मित्रों ने कितना समझाया कि इस सम्पत्ति को भी छोड़ देने पर तुम बिलकुल भिखारी बन बैठोगे, परन्तु देवेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया कि जब तक मेरे शरीर पर एक लँगोटी तक रहेगी तब तक मैं कभी नहीं कह सकता कि सब कुछ दे चुका। मैं अपनी हड्डियाँ तक बेचकर ऋण चुकाने के लिये तैयार हूँ, ईश्वर और धर्म मेरी रक्षा करें। सभी सम्पत्ति दे देने के बाद जब उनके हाथ में केवल एक बहुत मूल्यवान् अँगूठी रह गई तब उन्होंने कहा कि यह अँगूठी मेरी है, उन चीज़ों की सूची में इसे भी लिख देना चाहिए। उनकी असाधारण सरलता देखकर महाजन लोग मुग्ध हो गए। कुछ लोगों की आँखों में तो आँसू भर आए। लोग यही सोचने लगे कि आज तो ये लोग राजकुमार हैं परन्तु कल मार्ग के भिखारी हो जाएँगे। अन्त में लेन-देन के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सारी सम्पत्ति देवेन्द्रनाथ को लौटा दी गई और निश्चय हुआ कि ये अपनी ज़मींदारी का प्रबन्ध स्वयं करें और धीरे-धीरे सारा हिसाब चुका दें।

इतने बड़े ज़मींदार होने पर भी देवेन्द्रनाथ में विलासिता का नाम तक न था। एक दिन अपनी बड़ी बहन की मृत्यु के बाद वे अपनी बैठक में बहुत-से लोगों के साथ बैठे थे। अचानक उन्होंने कहा कि आज मैं कल्पवृक्ष हो गया हूँ। जिसे किसी भी वस्तु की आवश्यकता हो, वह मुझसे माँग सकता है, मैं किसी को भी ख़ाली हाथ न लौटने दूँगा। ऐसा कहकर बड़े-बड़े शीशे, अच्छे-अच्छे चित्र, ज़री की पोशाक इत्यादि जितनी बहुमूल्य चीज़ें उनके पास थीं, सब निकालकर उन्होंने बाँट दीं।

एक दिन किसी सज्जन ने आकर देवेन्द्रनाथ से कहा कि आपके पिता जी ने मेरी परोपकारिणी संस्था को एक लाख रुपये देने का वचन दिया था परन्तु वे दे नहीं सके। कृपा करके आप वे रुपये मुझे दीजिए।

उस समय देवेन्द्रनाथ के दिन बड़े कष्ट से बीतते थे, उस समय भी महाजनों का ऋण उनके सिर पर चढ़ा था, इससे इतने रुपये देने का सामर्थ्य उनमें न था और इन रुपयों के न देने पर उनकी किसी तरह की बदनामी भी न होती। परन्तु उनके पिता ने वचन दिया था, इससे उन्होंने उसे भी अपने पिता का ऋण समझ लिया। कुछ दिन के बाद उन्होंने ब्याज लगाकर एक लाख रुपये उस समिति के मंत्री के पास भेज दिए।

वे कभी कीर्त्ति के लोभ से दान नहीं करते थे। उन्हें जो कुछ किसी को देना होता वे उसे भगवान् के चरणों में अर्पण करके प्रसाद के रूप में दिया करते थे। उनके यहाँ से कोई भी असफल नहीं लौटता था। अपने सारे जीवन में भाँति-भाँति का ऋण चुकाने के बाद वे प्रायः बाईस लाख रुपये दान कर गए थे।

देवेन्द्रनाथ बड़े देशभक्त थे। अपनी मातृ-भाषा से उन्हें बड़ा प्रेम था। उनके किसी सम्बन्धी ने एक बार अँगरेज़ी में उन्हें एक चिट्ठी भेजी थी। उसे खोलकर जब उन्होंने देखा कि यह अँगरेज़ी में लिखी हुई है तब उसे चुपचाप वापस कर दिया।

गृहस्थ-धर्म का भली भाँति पालन करते हुए भी देवेन्द्रनाथ अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य ईश्वर की आराधना ही समझते थे। वे कहा करते थे कि जिस कार्य से भविष्य में सुख मिलने की आशा हो उसे अभी करो, परन्तु जिससे अनन्त काल में सुख मिलने की आशा हो, उस कार्य को आजन्म करते रहो। नाना प्रकार के सुखों तथा विलासिताओं से घिरे रहने पर भी वे जीवनपर्यन्त ईश्वर की ही आराधना करते रहे। इसी लिये वे भीड़-भाड़ से अलग होकर एकान्त में रहना पसन्द करते थे। कभी वे नौका पर बैठकर नदी में पड़े रहते, कभी निर्जन मैदान में तम्बू खड़ा करके रहते और कभी हिमालय पर्वत के शिखर पर रहा करते। इन स्थानों पर वे केवल ईश्वर की उपासना में ही महीनों पर महीने और साल पर साल बिता देते।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे रात-दिन ईश्वर के ध्यान में ही मग्न रहा करते थे। जीवन का यह भाग उन्होंने हिमालय में निवास करने, तप करने तथा आत्म-चिंतन करने में व्यतीत किया था।

महर्षि की पत्नी शारदादेवी सच्चे अर्थों में 'रत्नप्रसू' थीं। उनकी कोख से उत्पन्न सभी सन्तानें अपूर्व प्रतिभाशालिनी हुईं। ज्येष्ठ सन्तान थे ऋषिकल्प सुधी द्विजेन्द्रनाथ, द्वितीय भारत के सर्वप्रथम सिविलियन सत्येन्द्रनाथ, एक और पुत्र प्रख्यात साहित्यिक ज्योतिरिन्द्रनाथ, कन्या सुप्रसिद्धा स्वर्णकुमारी, इत्यादि। रवीन्द्रनाथ ठाकुर आपकी चौदहवीं सन्तान थे। ये अपने भाई-बहनों में सबसे छोटे थे। इनका जन्म ७ मई १८६१ ई० मंगलवार को प्रातः ३ बजे हुआ था।

शान्तिनिकेतन के पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कवि की एक जन्मपत्री फलादेश के साथ 'विशाल भारत' में प्रकाशित कराई है। जो इस प्रकार है—
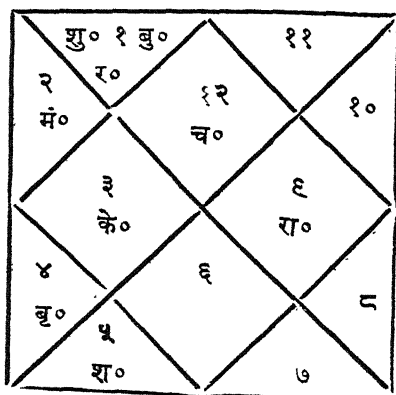
संवत् १९१८, शकाब्द १७८३, सौर वैशाख, कृष्णपक्ष, सोमवार, त्रयोदशी तिथि, रेवती नक्षत्र, मीनराशि और मीन लग्न में उनका जन्म हुआ। सूर्योदय से इष्टकाल ५३।००।००। अँगरेजी मत से सन् १८६१ ई०, ७ मई (आधीरात के बाद होने के कारण), मंगलवार, २ बजकर ३८ मिनट ३७ सेकेंड पर प्रातःकाल जन्म हुआ।

संग्रह में शुक्र दशा का भोग्य वर्षादि १४।३।११।३९ दिया हुआ है। स्पष्ट ही यह अष्टोत्तरी दशा है, क्योंकि रेवती नक्षत्र इसी दशा के

अनुसार शुक्र के अधीन है। विंशोत्तरी मत से बुध की दशा होगी। इसी पर से अनुपात करने से विंशोत्तरी मत से बुध की दशा का भोग्य मोटे तौर पर ११ वर्ष ६ महीने २२ दिन होंगे। इस प्रकार विंशोत्तरी दशा का चक्र इस प्रकार होगा :—

बुध की	दशा	७	मई,	१८६१	से	२८	नव०	१८७२	तक
केतु	"	२९	नव०	१८७२	से	२८	"	१८७९	"
शुक्र	"	"	"	१८७९	"	"	"	१८९९	"
सूर्य	"	"	"	१८९९	"	"	"	१९०५	"
चंद्रमा	"	"	"	१९०५	"	"	"	१९१५	"
मंगल	"	"	"	१९१५	"	"	"	१९२२	"
राहु	"	"	"	१९२२	"	"	"	१९४०	"
बृहस्पति	"	"	"	१९४०	"	"	"	१९५६	"

सन् १९४१ ई० में उनका देहान्त हो गया।

इसमें कुछ मनोरंजक योगों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाने के लिये यहाँ उनके जीवन की दो-एक प्रधान घटनाओं का उल्लेख किया जा रहा है। चन्द्रमा की दशा १९०५ से १९१५ ई० तक रहती है। यह काल उनके जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। इसके विषय में विचार करने के पूर्व कुछ और महत्त्वपूर्ण घटनाओं की चर्चा कर ली जाय।

विवाह—९ दिसम्बर, १८८३ ई०—शुक्र की महादशा में सूर्य की अन्तर्दशा। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि चन्द्रमा लग्नस्थ होकर कलत्रभाव को पूर्ण दृष्टि से देख रहा है, इसलिये विवाह-योग वस्तुतः शुक्र की दशा में चन्द्रमा के अन्तर में पड़ना चाहिए, अर्थात् १८८४ ई० के मार्च महीने में शुरू होना चाहिए। परन्तु यहाँ तीन महीना पहले ही हो गया है। यह ध्यान रखना चाहिए कि दशा की गणना में मोटे तौर पर २४ घंटे को १७ वर्ष मानकर हिसाब किया गया है, इसलिये जन्मकाल में अगर एक मिनट की भी देर हो, तो क़रीब-क़रीब १ सप्ताह का अन्तर पड़ सकता है। हमने हिसाब लगाकर देखा है कि रवीन्द्रनाथ की जन्मकुण्डली में सभी योग कुछ देर से आते हैं। क्या जन्मकाल के लिखने में ५–१० मिनट की ग़लती हुई है ?

पत्नी-मृत्यु—नवम्बर, १९०२—सूर्य की महादशा में शनि की अन्तर्दशा।

गीतांजलि की रचना—१९१० ई०—चन्द्रमा की महादशा में बृहस्पति की अन्तर्दशा।

द्वितीय योरप-यात्रा—२७ मई, १९२२ ई०—चन्द्रमा की महादशा में बुध की अन्तर्दशा।

'गीतांजलि' का प्रथम प्रकाशन—नवम्बर, १९१२ ई०—चन्द्रमा की महादशा में बुध की अन्तर्दशा।

नोबेल-पुरस्कार—१३ नवम्बर, १९१३ ई०—चन्द्रमा की महादशा में शुक्र की अन्तर्दशा।

यहाँ विचारणीय और ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि की जन्म-पत्री में चन्द्रमा, बृहस्पति और शुक्र बहुत ही उत्तम ग्रह हैं। बृहस्पति उच्च का होकर लग्नेश है और चन्द्रमा के साथ उसका विनिमय योग है। शुक्र और मंगल का भी ऐसा ही विनिमय योग है; पर वह अच्छा नहीं है। बृहस्पति विद्या-स्थान में है। प्रथम योग बहुत ही महत्त्व का है। इस योग का फल निस्सन्देह बहुत ऊँचे दर्जे का कवि, विद्वान् तथा कीर्त्ति-शाली होना है। एक और मार्क की बात है बुधादित्य योग। शुक्र इस योग को और भी महत्त्वपूर्ण बना देता है। धन-स्थान में बुध और सूर्य का योग बहुत फलप्रद बताया गया है। यह लक्ष्य करने की बात है कि 'गीतांजलि' की रचना का आरम्भ चन्द्रमा की दशा और बृहस्पति की अन्तदशा में हुआ है, उसका प्रकाशन चन्द्रमा की दशा और बुध की अन्तर्दशा में हुआ है और उसका पुरस्कृत होना चन्द्रमा की दशा और शुक्र की अन्तर्दशा में हुआ है। ये तीनों ही योग अद्‌भुत भाव से घटे हैं।

जीवन-प्रभात

घर पर

रवीन्द्रनाथ ने 'मेरे बचपन के दिन' नामक पुस्तक में अपने बचपन का बड़ा मनोरंजक वृत्तान्त लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि इनका शैशव उतना स्वच्छन्द भी न हो सका था जितना कि किसी साधारण बच्चे का होता है। महर्षि धार्मिक आंदोलनों के कारण प्रायः घर से अनुपस्थित रहा करते थे। रवीन्द्र की माता को फुस्फुस विकार था अतएव वे भी इनकी परिचर्या की ओर विशेष ध्यान न दे पाती थीं। अतएव इनकी देखरेख का पूरा भार नौकरों पर छोड़ दिया गया था। नौकर, जैसा कि उनका स्वभाव होता है, परिश्रम से बचने का अधिक से अधिक प्रयत्न किया करते। उन्हें यह पसन्द न था कि बालक रवीन्द्र महल के बाहर घूमें-फिरे और वे इसके पीछे-पीछे लगे रहें, इसी लिये वे इसे बाहर निकलने ही न देते थे। इस प्रकार जोड़ासाँको की दीवालों से बाहर की दुनिया भी बालक रवीन्द्र के लिये आकर्षण की वस्तु थी। वे उसे देखने को सदैव लालायित रहा करते। श्याम नाम का जो मुख्य नौकर इनकी देखरेख को नियुक्त किया गया था उसका बर्ताव इनके साथ और भी

कठोर था। वह न्हें महल के किसी कमरे में बिठाकर इनके चारों ओर खड़िया से एक रेखा खींच देता और डाँटकर कह देता कि इस परिधि से बाहर निकलने में तुम्हारी खैर नहीं है। डर के मारे बेचारे रवीन्द्र वहीं बैठे रहते, जब तक वह नौकर वहाँ से हटने की आज्ञा न देता। और वह आज्ञा भी बड़ी देर में मिलती क्योंकि वह नौकर भी, जैसा कि स्वाभाविक है, इन्हें उस घेरे में बाँधकर स्वयं कहीं गप-शप करने या बाजार की सैर करने चला जाता; और वहाँ से जब जी चाहता, लौटता। इसका फल यह हुआ कि रवीन्द्र की प्रवृत्ति शैशव से ही अन्त-र्मुखी हो गई। वे बाहर की दुनिया के दृश्य एकान्त में बैठे-बैठे अपने मन के दर्पण में ही देखा करते। घर के पास ही एक नहाने का तालाब था। कमरे की खिड़की से ये उस तालाब पर नहाने के लिये आनेवाले व्यक्तियों को ध्यानपूर्वक प्रतिदिन देखा करते। तालाब के पश्चिमी तट पर एक वृक्ष था और दक्षिणी तट पर नारियल-वृक्षों की एक पंक्ति। बालक रवीन्द्र देखते कि नहानेवाले विविध प्रकार के हैं। उनमें से कोई ऐसा था जो जल में प्रवेश करने का साहस न करके एक भीगे तौलिए से शरीर अगौंछ लिया करता और स्नान के इसी संक्षिप्त संस्करण से अपने को पवित्र कर लेता। कोई जल में प्रवेश करके पहले धीरे से ऊपर की काई और कूड़े को एक ओर हटाता फिर जोर से पानी में हिलोर देकर डुबकी लगाता। कुछ ऐसे भी थे जो तालाब की सबसे ऊपरवाली सीढ़ी पर से धम से जल के भीतर कूद पड़ते और घंटों उसमें जल-विहार करते। कुछ शनैः-शनैः मंत्रों का उच्चारण करते हुए जल में उतरते और फिर इतमीनान के साथ स्नान करते। स्नान करते हुए भी किसी स्तोत्र का पाठ जारी रहता। एक व्यक्ति ऐसा भी था जो प्रति-दिन स्नान करने आता था। वह स्नान में घंटों का समय लगाता था। वह पहले अपने वस्त्रों को धोकर सुखाता, फिर स्नान करके अपने शरीर को सुखाता, तब सावधानी से उन धुले वस्त्रों को धारण करता, फिर महल के बाहर के बाग़ से कुछ फूल चुनकर शान्ति और सन्तोष के साथ वहाँ से बिदा होता। अन्त में दोपहर के समय जब घाट सूना हो जाता तब रवीन्द्रनाथ बरगद के नीचे के दृश्य को ध्यान के साथ देखा करते।

वट-वृक्ष ने अपने अनेक हाथ मानो अपनी सत्ता को अनन्त काल तक के लिये बद्धमूल रखने को भूमि के अंक में फैला दिए थे। वह स्थान उन्हें बड़ा रहस्यमय प्रतीत होता था।

यही नहीं कि उन्हें घर के बाहर निकलने की रुकावट थी, घर के भीतर भी वे सभी स्थानों पर नहीं जा सकते थे। पर इतने बन्धनों के होते हुए भी उनका मन आनन्द के निर्बन्ध गगन में विहार किया करता। वे झरोखों की साँसों से बाह्य प्रकृति को निर्निमेष देखा करते और उनका हृदय आनन्द से बल्लियों उछला करता। घर के भीतर एक छोटा-सा बाग़ था, उसमें एक पेड़ मिट्ठे का था, एक बेर का, एक आमड़े का और एक नारियल का। यह बाग़ रवीन्द्रनाथ को स्वर्ग जैसा सुन्दर प्रतीत होता। सवेरे आँख खुलते ही वे इस बाग़ में जा पहुँचते। कभी ओससिक्त घास की सुगन्ध इन्हें मोहित करती, कभी नारिकेलपत्रों की अँगुलियों के रंध्रों से छन-छनकर आनेवाली प्रातःकाल की कोमल धूप इनके ुँह पर पड़कर इन्हें आनन्दविभोर कर देती।

दोपहर का सन्नाटा रवीन्द्रनाथ के लिये अनोखा आकर्षण लेकर आता। उस समय जनहीन राजपथों की ओर देख-देख ये न जाने कितनी कल्पनाएँ किया करते। मस्तक पर नील विस्तृत आकाश, उसमें प्रदीप्त सूर्य की किरणें, बीच-बीच में चील का कर्कश स्वर, रास्ते में फेरीवालों की कर्णकुहरभेदी चीख 'लो चूड़ी', 'लो खिलौना'! ये सब दृश्य एक रूप होकर उनके मन को किसी अज्ञात लोक को खींच ले जाते।

साधारण से साधारण वस्तु भी उन्हें बड़ी रहस्यमयी प्रतीत होती थी। या उनकी दृष्टि ही ऐसी थी जो केवल बाह्य आवरण पर न अटककर वस्तु के अन्तराल को छूने का प्रयत्न करती थी। बरामदे के एक किनारे शरीफ़े का एक बीज बोकर वे प्रतिदिन उसे सींचा करते। जिस समय उन्हें इस बात की याद आती कि इसी बीज से वृक्ष तैयार हो सकता है, तो उन्हें कितना आनन्द आता—वे कितने आश्चर्य में पड़ते! कई दिनों तक वे केवल इसी विषय पर विचार करते रह जाते कि पृथिवी के ऊपर के भाग को तो मैं देख रहा हूँ परन्तु इसके नीचे का हिस्सा न

जाने कैसा होगा ! वे इस बात की न जाने कितनी कल्पना किया करते कि पृथिवी के ऊपर के मटीले रंग को किस प्रकार खोलकर फेंक सकते हैं। वे सोचते कि अगर एक-एक करके तमाम बाँस धाँसते चले जाएँ तो कदाचित् इसकी तह का पता चल सके। बरसात के दिनों में बादल को रोकने के लिये दरवाज़े पर थाम गाड़ने के लिये गड्ढा तक खोदा जाता। इस गड्ढे के खोदने में उन्हें बड़ा आनन्द आता। वे देखते कि गड्ढा जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है उसमें मनुष्य का सारा शरीर छिप जाता है, परन्तु उसके भीतर से होकर पातालपुरी में नहीं पहुँचा जा सकता। वे सोचते कि अगर यह गड्ढा ज़रा-सा और गहरा हो जाता तो सब ठीक हो जाता, परन्तु बड़े लोग इसपर कुछ ध्यान ही नहीं देते थे।

अपने महल के विषय में भी उनके विचार बड़े रहस्यमय थे। वे लिखते हैं—"अन्तःपुर जो बाहर से देखने में बन्दीगृह लगता है, मेरी नज़रों में स्वच्छन्दता का आगार था। न वहाँ स्कूल था, न पंडित, न किसी को अपनी इच्छा के विपरीत ही कुछ करने को वहाँ बाध्य होना पड़ता था। जिसकी जैसी इच्छा होती, खेलता, ग़पशप करता या आराम करता। किसी को अपने काम का हिसाब देने की उसे ज़रूरत न थी। मेरे साथ मेरी एक छोटी बहन भी पढ़ती थी, नीलकमल पंडित की कक्षा में, पर वह चाहे अपना पाठ तैयार करे या न करे, उससे कोई कुछ कहता न था।"

घर पर रक्खे गए ट्यूटरों, नौकरों के कठोर शासन और चारों ओर के अवरुद्ध वातावरण ने बालक रवीन्द्र का हृदय क्षुब्ध कर दिया। यह इस बंधन से मुक्ति पाने की चाह करने लगा। इन्हीं दिनों इन्हें स्कूल में भरती करा दिया गया। इससे इन्हें कुछ सन्तोष मिला, क्योंकि वहाँ रहने पर घर के नौकरों के बन्धन से कुछ मुक्ति मिली। पर वहाँ का वायुमंडल इनको और भी प्रतिकूल पड़ा; वहाँ के मास्टर लोग इनकी ओर पर्याप्त ध्यान न देते थे; अतः वहाँ से भी इनका मन उचट गया और ये नार्मल स्कूल में भरती करा दिए गए।

नार्मल स्कूल में इन्होंने देखा कि क्लास लगने से पहले स्कूल के छात्र

एक पंक्ति में खड़े होकर स्तोत्र की भाँति एक अँगरेजी कविता का पाठ करते हैं। न वे जानते हैं कि उस कविता का क्या अर्थ है और न अध्यापक लोग ही उसका अर्थ समझाते हैं। यह देखकर रवीन्द्रनाथ का मन विद्रोही हो उठा। फिर भी ये कुछ दिनों तक वहाँ अध्ययन करते रहे। आयु इनकी उस समय सात-आठ बरस की थी, अनुभव-शक्ति अत्यन्त प्रबल। ये यद्यपि अपने मुँह से कुछ न कहते पर मन ही मन स्कूल की त्रुटियों को भाँपते रहते। कक्षा में सबके पीछे चुपचाप खोए-खोए से बैठे रहते। एक बार एक अध्यापक को किसी छात्र के प्रति कुत्सित व्यवहार करते और गाली बकते देखा; बस उससे अत्यन्त द्वेष हो गया। उसके क्लास में पहुँचते तो पूर्ण रूप से मौनीबाबा बन जाते। मास्टर हज़ार कोशिश करता पर इनके मुँह से एक शब्द न निकलवा पाता। अन्ततः वह भी इनसे चिढ़ने लगा।

उधर मास्टर साहब पढ़ाने खड़े होते, इधर बालक रवीन्द्रनाथ अपने मनोराज्य में विचरण करने लगते—'अच्छा मैं तो निरस्त्र हूँ; यदि मेरे ऊपर बहुत-से शत्रु आकर टूट पड़ें तो मैं अपनी रक्षा किस प्रकार करूँ? और फिर स्वयं ही उसका उत्तर भी देते, शिशु-सुलभ-कल्पना के द्वारा और सुनी-सुनाई कहानियों के आधार पर—'यदि सिंहों, बाघों, रीछों, कुत्तों और भेड़ियों को सिखा लिया जाए और इन्हें अग्रपंक्ति में खड़ा करके लड़ाई शुरू होने पर शत्रु पर झुका दिया जाए तो शत्रु-सेना में कैसी भगदड़ मचे?' क्लास में पढ़ाई चलती और ये महाशय इस व्यूह-रचना के संबन्ध में सोचा करते!

उक्त अध्यापक महाशय भी इस विद्रोही छात्र के प्रति सतर्क थे। उन्होंने निश्चय कर रखा था कि वार्षिक परीक्षा के अवसर पर इसे ऐसी शिक्षा दूँगा कि जीवन भर याद रहेगी। परन्तु सबको अत्यन्त आश्चर्य हुआ जब परीक्षा में रवीन्द्रनाथ के नंबर सबसे अधिक आए।

कल्पना के उन्मुक्त गगन में विहार करनेवाले इस शिशु को स्कूल का पिंजड़ा अनुकूल न पड़ा और वह उससे मुक्ति पाने के लिये तरह-तरह के उपाय करने लगा। साथी लड़कों ने बताया—जूते को पानी में भिगोकर पहने रहो, जुकाम हो जाएगा, सिर में दर्द भी हो जाएगा और

संभव है ज्वर भी हो जाए ! स्कूल आने से छुट्टी मिल जाएगी। यह सब किया; और यही क्यों, क्वार-कार्तिक की रातों में घण्टों बाहर खुली छत की ओस में लेटकर देखा गया; पर चाही बात न हुई। विधाता ने शरीर का निर्माण ऐसे कठोर मसाले से किया था कि छोटे-मोटे कुपथ्य उसका कुछ बिगाड़ न पाते थे।

उन दिनों की दिनचर्या इस प्रकार थी—बालक रवीन्द्रनाथ तड़के ही जाग जाते और कुश्ती लड़ने का अभ्यास करते। कलकत्ते का प्रख्यात काना पहलवान इनको कुश्ती सिखाने को नियुक्त किया गया था। कुश्ती के अन्त में अखाड़े की मिट्टी से लथपथ ये घर के भीतर जाते। माता को इनका यह रूप पसंद न आता। उन्हें भय था कि कहीं इस प्रकार मिट्टी में लिसे-पुते रहने के कारण इनके हिमोज्ज्वल शरीर के वर्ण में श्यामता न आ जाए; इसलिये वे उबटनों से इनके शरीर को रगड़ा करतीं। रविवार के दिन यह मर्दन अन्य दिनों की अपेक्षा कुछ अधिक हुआ करता।

अखाड़े से निवृत्त होते ही मेडिकल स्कूल के एक छात्र प्रतीक्षा में बैठे मिलते। दीवाल पर नरअस्थिपंजर लटका रहता और वे भावी डाक्टर महोदय बालक रवीन्द्र को शरीरशास्त्र की बातें सिखलाया करते।

घड़ी में ज्यों ही सात बजते, मास्टर नीलकमल अपने दुबले-पतले शरीर को लेकर आते दिखाई देते। वे अपने समय के बड़े पाबन्द थे। यद्यपि शरीर से दुबले-पतले थे, पर बीमार कभी नहीं पड़ते थे। वे इन्हें बँगला, अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित पढ़ाया करते। पर इनकी रुचि काव्यों की ओर अधिक थी। बीच-बीच में मास्टर सीतानाथ दत्त आकर विज्ञान की बातें बताया करते। कुछ दिन बाद हेरम्ब तत्त्वरत्न संस्कृतव्याकरण पढ़ाने को नियुक्त किए गए और उन्होंने इन्हें मुग्धबोध पढ़ाना शुरू किया। परन्तु अध्ययन का भार ज्यों-ज्यों गुरुतर होता गया, बालक रवीन्द्र को वैसी ही उससे विरक्ति होती गई। इनका मन कविता और संगीत में बहुत लगता। घर पर उन दिनों संगीत की अविरल धारा प्रवाहित रहा करती। इनके बड़े भाई हेमेन्द्रनाथ की दो लड़कियाँ संगीत सीख रही थीं। इधर घर में दो परदेशी अतिथि भी कुछ

दिनों से स्थायी रूप से अड्डा जमा चुके थे। ये दोनों संगीत-विषय में बहुत व्युत्पन्न थे। नौ बजे गोविन्द नाम का नौकर आ जाता और इन्हें स्नान कराने को ले जाता। ९॥ पर भोजन होता और १० बजते-बजते घोड़ागाड़ी पर बैठकर स्कूल चला जाना पड़ता, जहाँ से ४॥ पर छुट्टी होती। घर आते ही जिमनास्टिक-मास्टर तैयार मिलते। आध घंटे उनके सामने व्यायाम करना पड़ता। उनके जाते ही जाते ड्राइंगमास्टर आ जाते। शाम होते ही मास्टर अघोर आते और अँगरेज़ी पढ़ाते। पढ़ते-पढ़ते प्राय: नींद का बोझ पड़ता; कुछ पढ़ते, कुछ सोते जाते। जितना पढ़ते उससे अधिक भूलते। इस प्रकार इन दिनों इनका समस्त समय सवेरे से रात के १० बजे तक व्यस्त रहता। अवकाश घंटे भर का न मिलता।

इन दिनों के सम्बन्ध में कवि महोदय स्वयं लिखते हैं—"उन दिनों शहर में गैस नहीं थी, न बिजली की बत्तियाँ। जब पहले-पहल घासलेट का तेल आया तब उसके प्रकाश ने हम सबको चकाचौंध कर दिया। शाम को परिचारक घर में रेंडी के तेल के दिए जला देते थे। एक दिया हमारे पढ़ने के कमरे में भी रहता था। उसमें दो बत्तियाँ डाली जाती थीं। इसी के धुँधले प्रकाश में मुझे मास्टर महाशय प्यारे सरकार लिखित पहली पोथी पढ़ाया करते थे। किताब खोली कि मुझे जँभाई आई और आँखों में न जाने कहाँ से अक्षय्य नींद फट पड़ी। मैं बार-बार अपनी आँखें मींजता, पर नींद कम होने का नाम न लेती। बीच-बीच मुझे मास्टर साहब के एक अन्य सुयोग्य शिष्य सतीन की प्रशंसा भी सुनने को मिलती, जिसने ऐसा ग़ज़ब का दिमाग़ पाया था कि उसके समान मेधावी बालक शायद ही कलकत्ते में दूसरा होगा। उसे जब नींद लगती तब वह आँखों में सुरती मल लिया करता और इस प्रकार कभी-कभी तो रात-रात भर वह पढ़ता ही रह जाता! ऐसा होनहार विद्यार्थी था वह! और मैं? मेरे बारे में कुछ कहना ही बेकार था; मास्टर साहब की सम्मति थी कि अपने कुल में सबसे गावदी मैं ही रहूँगा। पर उनकी यह धमकी भी मेरी नींद पर कुछ असर न करती और ज्योंही नौ बजते और मुझे छुट्टी मिलती कि मैं झट अन्दर पहुँचता।"

सन् १८७३ में दो अन्य भाइयों के साथ बालक रवीन्द्रनाथ का उपनयन-संस्कार हुआ। इस अवसर पर महर्षि भी, जो उन दिनों या तो शान्तिनिकेतन में रहते थे या बाहर अन्यत्र, जोड़ासाँको आगए थे। अपने निरीक्षण में ही उन्होंने यह संस्कार संपादित कराया था और स्वयं संस्कार के अवसर पर वेद की ऋचाओं का पाठ किया था। संस्कार-पद्धति के अनुसार इस समय तीनों भाइयों का मुण्डन हुआ था और उन्हें गायत्री का उपदेश दिया गया था। रवीन्द्रनाथ लिखते हैं कि इस संस्कार में सबसे अधिक आकर्षण की वस्तु थी मेरे लिये गायत्री का मंत्र। उसका तालमय पाठ मेरे हृदय में अपूर्व आनन्द की सृष्टि कर देता था। इसके कुछ समय पश्चात् महर्षि रवीन्द्रनाथ को नाव पर अपने साथ भ्रमण के लिये ले गए। महर्षि के पुस्तकसंग्रह में एक प्रति 'गीतगोविन्द' की थी। यह भद्दे ढंग से वंगाक्षरों में छपी थी और श्लोकों का भी पृथक्-पृथक् निर्देश इसमें नहीं किया गया था। स्वर और ताल का रवीन्द्रनाथ को उस समय तक इतना बोध हो गया था कि इसके छंदों को वे विराम-चिह्नों के न रहने पर भी ठीक-ठीक पढ़ सकते थे।

इसी वर्ष महर्षि इन्हें हिमालय की यात्रा पर अपने साथ ले गए। हिमालय पहुँचने के पूर्व ये उनके साथ कुछ समय शान्तिनिकेतन में ठहरे। बोलपुर के पास महर्षि ने सन् १८६३ में २० बीघा ज़मीन मोल लेकर एक बग़ीचा लगाया था। वहीं उन्होंने एक मकान बनवाया था और एक साधनाभवन, जिसमें बैठकर वे जगन्नियंता का चिन्तन किया करते थे। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बड़ा मनोरम था। थोड़ी दूर पर एक पतली-सी सरिता बहती थी और समस्त वायुमंडल फूलों की सुगंध से पूर्ण रहता था। आदि ब्रह्म-समाज के सदस्यों तथा शिष्यों से महर्षि यहीं वार्तालाप किया करते थे। यहीं वे अपने मनोनीत शास्त्रों व दर्शनों का भी अनुशीलन-मनन किया करते थे। यहाँ रवीन्द्र-नाथ को पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी। महर्षि उनके खेल-कूद व सैर-सपाटे में कोई बाधा न देते थे और न उन्हें कभी हतोत्साह ही करते थे। इनके ऊपर वहाँ नौकरों का शासन न था। चारों ओर मैदान ही मैदान था, जहाँ जी चाहता, मनमाना चारों ओर घूम सकते थे। बोलपुर के

मैदान में कहीं-कहीं खाइयाँ भी थीं। वहाँ से तरह-तरह के पत्थर इकट्ठे करके अपने कपड़ों में भरकर ये पिता के पास ले आते। इन्हें देखकर महर्षि प्रसन्नतापूर्वक कहते कि ये बहुत सुन्दर हैं! रवीन्द्रनाथ खुशी के मारे गदगद् होकर कहा करते कि ऐसे पत्थर वहाँ हज़ारों हैं, मैं प्रतिदिन ला सकता हूँ। उनके पिता उत्तर देते कि यह तो बड़ा अच्छा है, इन पत्थरों से मेरे इस पहाड़ को तुम सजा दो।

वहीं किसी एक खाई में एक स्थान पर गड्ढा था; वहाँ ऊपर से चू-चूकर पानी इकट्ठा होता और जब गड्ढा भर जाता तब सारा पानी उफनाकर बह जाता और गड्ढे में छोटी-छोटी मछलियाँ इधर-उधर खेलने लगतीं। यह देखकर रवीन्द्रनाथ मन ही मन फूलते हुए पिता के पास आकर कहते कि मैं जल की एक बड़ी अच्छी धारा देख आया हूँ। अगर वहीं से हमारे स्नान करने और पीने का जल लाया जाय तो बड़ा अच्छा हो। पिता भी उन्हें उत्साहित करने के लिये वहाँ से जल लाने का प्रबन्ध कर दिया करते थे।

यहाँ रवीन्द्रनाथ केवल घूमते ही न थे बल्कि कविता भी लिखा करते थे। एक छोटे से नारियल के पेड़ के नीचे ज़मीन पर ही वे पलथी मारकर बैठ जाते और ढेर की ढेर कविता लिख जाते।

बोलपुर से चलकर साहबगंज, दानापुर, इलाहाबाद, कानपुर आदि स्थानों पर होते हुए रवीन्द्रनाथ महर्षि के साथ अमृतसर पहुँचे।

अमृतसर में सिक्खों का प्रसिद्ध गुरुद्वारा है। सिक्ख-जाति एकेश्वरवादी है। उनके गुरुद्वारे में रवीन्द्रनाथ को साथ लेकर महर्षि प्रायः प्रतिदिन जाया करते और उनके धर्म-ग्रंथों का पाठ ध्यान के साथ सुना करते। यही नहीं, वे सिक्खों के साथ उनकी धार्मिक पूजा में भी सम्मिलित हुआ करते और स्वयं भी कलकंठ से गुरु साहब के यशोगान में योग दिया करते। उनकी धार्मिक सहिष्णुता उदाहरणीय थी और इस आदर्श का रवीन्द्रनाथ के जीवन पर भी आवश्यक प्रभाव पड़ा। कुछ दिन अमृतसर में ठहरने के बाद पिता-पुत्र हिमालय को चल पड़े और मनोहर घाटियों को पार करते हुए हिमालय के उच्च शिखर पर जा पहुँचे। वहाँ एक कुटी में उनके रहने का प्रबन्ध किया गया था। उससे कुछ नीचे वृक्षों का एक वन था

जिसमें दैत्याकार वृक्ष सिर ऊँचा उठाए वर्षों से खड़े थे। झरनों का दृश्य अलग ही चित्त को खींचता था। सुदूर उँचाई पर धवल हिमराशि और उसपर बिछलती हुई उषा की सुनहरी किरणें—ये दृश्य रवीन्द्रनाथ को आत्मविभोर कर दिया करते। यहीं से उन्होंने प्रकृति की अनन्तता का पाठ पढ़ा और यहीं से उनके हृदय का सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के साथ समन्वय हुआ। साथ ही साथ महर्षि बालक रवीन्द्र के शिक्षक का भी काम करते थे। अन्य बन्धन न रहने पर भी नियम-पालन वहाँ कड़े प्रकार का था। बड़े तड़के पिता जी इन्हें जगा दिया करते और सवेरा होने से पहले ही ये पहाड़ की ठंडक में कंबल ओढ़कर 'नरः, नरौ, नराः' याद किया करते। सूर्योदय होने पर पिता के साथ खड़े होकर उपासना करते। इसके बाद दोनों व्यक्ति बाहर घूमने निकल जाते। लौटकर एक घंटा अँगरेज़ी पढ़ते, तब हिम-शीतल जल में स्नान करते। भोजन के बाद दोपहर को एक घंटा इन्हें फिर पढ़ना पड़ता, पर इस समय नींद का बड़ा ज़ोर रहता और इस कारण महर्षि इन्हें छुट्टी दे दिया करते। छुट्टी मिलते ही नींद भी चली जाती और बालक रवीन्द्र छड़ी लेकर पहाड़ों पर घूमते फिरते। इन दिनों महर्षि इन्हें बंगाली साहित्य, इतिहास और ज्योतिष की भी शिक्षा दिया करते। कुछ दिनों वहाँ ठहरने के बाद पिता ने इन्हें फिर कलकत्ते भेज दिया।

हिमालय से लौट आने के बाद स्कूल की पढ़ाई रवीन्द्रनाथ के लिये और भी कड़ुई हो गई। नके बड़े भाई इन्हें स्कूल भेजने के लिये बराबर समझाते-धमकाते; पर इनपर उसका कुछ असर न होता। अन्ततः उन लोगों ने इन्हें इनकी स्वतंत्र इच्छा पर छोड़ दिया। अब इनके ऊपर से नौकरों का शासन भी जाता रहा था। जब घर की सब स्त्रियाँ इनकी माता के कमरे में जमा होतीं तब रवीन्द्र भी एक उच्च आसन पर बैठकर अपनी भ्रमण-कहानी सुनाया करते। यही नहीं, संध्या-समय छत पर वायु-सेवनार्थ जब माता का दरबार लगा करता, तब यही उस दरबार के प्रधान वक्ता होते। पुत्र के मुख से भ्रमण की अद्भुत चर्चा सुनकर मा फूली न समाती। इन्हीं दिनों बँगला-साहित्य से इनका प्रथम परिचय हुआ। बड़े भाई के पास 'विविधार्थ संग्रह' नामक बँगला मासिक आता था, इसे राजेन्द्रलाल

मित्र ने १८५१ से निकाला था। वंकिमचन्द्र चटर्जी का 'वंगदर्शन' मासिक भी रवि बाबू को बहुत पसंद था। वंगदर्शन में वैज्ञानिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक लेखों के अतिरिक्त साहित्यिक निबंध और पुस्तकों की समालोचनाएँ भी छपा करती थीं। उन दिनों आर्यदर्शन में छपनेवाले बिहारीलाल चक्रवर्ती के गीत भी रवीन्द्र को बहुत पसंद आते थे। इन्हीं के अनुकरण पर रवीन्द्र ने गीत लिखने का निश्चय किया था।

रवीन्द्रनाथ की साहित्यिक और कला की शिक्षा के लिये उनका घर ही सर्वश्रेष्ठ स्थान था। स्कूल की पढ़ाई छूट जाने पर उन्हें इस दिशा में अपना मनोविकास करने का पूरा अवसर मिला। घर पर प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कलाविद् प्रायः आते रहते थे। घर का वायुमंडल पूर्ण साहित्यिक था। संगीत तो वहाँ सबका प्रिय विषय था, चित्रकला और कविता की भी सदैव चर्चा हुआ करती थी। परिवार का प्रत्येक सदस्य किसी न किसी प्रकार की साहित्य-रचना में अवश्य योग देता था। कलकत्ते में उन दिनों मित्र-गोष्ठियों का बड़ा चलन था। इन गोष्ठियों को 'मजलिस' कहते थे। किसी प्रकार का गुणी आ जाय; इस मजलिस में उसका स्वागत होता था।

आठ मार्च १८७४ को रवीन्द्र की माता का स्वर्गवास हो गया। उस समय इनकी अवस्था पूरे तेरह वर्ष की भी न थी। इसके दो वर्ष बाद 'ज्ञानांकुर' नामक एक नये मासिक के निकालने का निश्चय हुआ। इसमें लिखने के लिये रवीन्द्र से भी कहा गया। इनका पहला लेख जो इसी पत्र में निकला, भुवनमोहिनी नामक एक पुस्तक की आलोचना थी। इसके बाद इनकी वनफूल नामक कविता भी इसमें निकली। इसके आगे के वर्ष में ज्योतिरिन्द्रनाथ ने 'भारती' का प्रकाशन आरम्भ किया। इसके संपादक बनाए गए द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर; संपादकीय-विभाग में रवीन्द्रनाथ भी रखे गए। इस पत्र में इनके कई लेख निकले। 'कवि-काहिनी' नामक इनकी प्रसिद्ध रचना 'भारती' में ही निकली थी।

सन् १८७७ में इनकी रचनाएँ 'भानुसिंहेर पदावली' के नाम से 'भारती' में छपीं। ये पुस्तकाकार में १८८४ में निकलीं।

इन्हीं दिनों ज्योति बाबू ने एक स्वदेशी सभा की स्थापना की। एक

खंडहर में इस सभा की बैठक हुआ करती थी। सभापति थे वृद्ध राजनारायण वसु। वसु महोदय अपने समय के गिने-चुने विद्वानों में से थे। पर अपनी पकी सफ़ेद डाढ़ी और प्रगाढ़ विद्वत्ता लेकर भी वे लड़कों में हिल-मिल करके लड़के बन जाते थे। रवीन्द्र भी इस सभा के सदस्य थे। दोपहर के समय ये सब लोग चुपके से घर से निकलते और सभा करने जाते। सभा की कार्यवाही भी गुप्त रखी जाती थी। उस सभा का उद्देश्य था देशी कारीगरी की उन्नति और देशी कारखानों की स्थापना। वहाँ पर होनेवाली आलोचना का प्रधान विषय था—मशीनें और कारखाने।

एक बार सभासदों का निश्चय दियासलाई बनाने का हुआ। अनेक प्रकार के परीक्षण हुए। काफ़ी उद्योग के बाद एक बक्स बनकर तैयार हुआ, पर उसी में इतनी लागत लग गई जितनी से पूरा एक गाँव साल भर ईंधन जलाता। इसपर भी एक कमी रह गई। आग से छुए बिना वह जलती न थी।

ठाकुर-परिवार के सदस्यों के प्रयत्न से उन दिनों कलकत्ते में एक 'हिन्दू मेला' भी लगा करता था। इस मेले में देशी सिल्क और कपास आदि का प्रदर्शन हुआ करता था। गुणी लोगों को इसमें पुरस्कार भी मिलता था तथा अनेक प्रकार की साहित्य, संगीत और कला की चर्चाएँ हुआ करती थीं। इसी मेले में सर्वप्रथम रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक रचना एक वृक्ष के नीचे खड़े होकर सुनाई थी। यह हिन्दू मेला की एक प्रधान घटना है। यह रचना देश-प्रेम-विषयक थी। यह पहली कविता थी जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम से २५ फ़रवरी १८७५ की अमृतबाज़ार पत्रिका में छपी थी। जनता के सामने अपनी रचना सुनाने का रवीन्द्र-नाथ के लियें यह पहला अवसर था।

इँगलैंड में

रवीन्द्रनाथ की आयु १७ वर्ष की हो जाने पर उनके बड़े भाई सत्येन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें विलायत ले जाने का प्रस्ताव किया और महर्षि ने इसे स्वीकार भी कर लिया। रवीन्द्रनाथ को भी इस समाचार

से प्रसन्नता हुई। सत्येन्द्रनाथ ठाकुर भारत में पहले सिविलियन थे। उन दिनों वे अहमदाबाद में जज थे और उनकी पत्नी तथा बच्चे इँगलैंड में थे। फलतः विलायत जाने के पहले रवीन्द्रनाथ को कुछ दिन तक अहमदाबाद में ठहरना पड़ा। अहमदाबाद में सत्येन्द्रनाथ जिस महल में रहा करते थे वह किसी समय बादशाहों के लिये बनवाया गया था। वहाँ का प्राकृतिक दृश्य बड़ा रहस्यपूर्ण था। राजभवन के नीचे साबरमती नदी बहती थी और नदी के तट की ओर महल की एक बड़ी-सी खुली छत थी। जब सत्येन्द्रनाथ कचहरी जाते तब रवीन्द्रनाथ को इतने बड़े महल में अकेले रहना पड़ता। ये इस महल के एक से दूसरे कमरे में घूमा करते। सत्येन्द्रनाथ के पास अँगरेज़ी की पुस्तकों का एक सुन्दर संग्रह था। ये पुस्तकें इस एकान्त जीवन में रवीन्द्रनाथ की मित्र बन गईं और ये इन्हीं के सहारे कालक्षेप करते थे। ये उन्हें चाहे समझ पाते या न समझ पाते, पर बड़े चाव से पूरा पढ़ डालते थे। इस प्रकार इनको अँगरेज़ी का बहुत कुछ अभ्यास हो गया।

इँगलैंड में सत्येन्द्रनाथ के बच्चे ब्राइटन में रहते थे। वहीं रवीन्द्रनाथ को भी रहना पड़ा। इस प्रकार सन् १८७८ में इनका परिचय एक नये संसार से हुआ। सत्येन्द्रनाथ की पत्नी इन्हें पुत्रवत् प्यार करतीं और उनके बच्चों के साथ हिल-मिल जाने के कारण इन्होंने यह अनुभव न किया कि परदेश में हैं। ब्राइटन के ही एक स्कूल में इन्हें दाख़िल करा दिया गया। स्कूल के छात्र और अध्यापक सब इनसे प्रेम करते थे। स्कूल के प्रधानाध्यापक ने इनका स्वागत करते हुए कहा था—'तुम तो बड़े मेधावी प्रतीत होते हो।' मानो प्रधानाध्यापक महोदय को रवीन्द्रनाथ की भावी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में उसी समय से अनुमान हो गया था। स्कूल के लड़के—शायद इन्हें विदेशी समझकर—इनकी जेब में चुपचाप फल डाल देते और बिना कुछ कहे-सुने ही भाग जाते।

घरवालों का विचार रवीन्द्रनाथ को क़ानून की शिक्षा दिलाने का था अतः कुछ ही समय बाद ब्राइटन के स्कूल से निकालकर इन्हें लन्दन भेज दिया गया। यहाँ ये यूनिवर्सिटी कालेज में लेक्चर सुनते तथा घर पर लेटिन का अभ्यास करते। इँगलैंड के इस प्रवास का रवीन्द्रनाथ के

जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। न्हीं दिनों इन्होंने अँगरेज़ी के प्रधान लेखकों—शेक्सपियर, मिल्टन और बायरन की कृतियाँ पढ़ीं। साथ ही विदेशी लेखकों, यथा—गायटे, दान्ते, टेसो आदि के अँगरेज़ी अनुवाद भी पढ़े और इनके काव्य के सम्बन्ध में कई आलोचनात्मक लेख 'भारती' में लिखे। विक्टर ह्यूगो, शेली, ब्राउनिंग, टेनीसन आदि के अध्ययन का यह फल हुआ कि रवीन्द्रनाथ के हृदय में भी पुराने छन्दों के स्थान पर नये प्रकार के छन्दों में रचना करने की प्रवृत्ति हो गई। साहित्य के साथ-साथ इन्होंने योरपीय संगीत के सम्बन्ध में भी पूरी जानकारी प्राप्त कर ली।

सन् १८७९ और ८० में इन्होंने अपने योरप-प्रवास के कुछ अनुभव 'भारती' में छपवाए।

इँगलैंड का रवीन्द्र के हृदय पर जो व्यापक प्रभाव पड़ा उसका कुछ-कुछ आभास उन पत्रों से मिलता है जो इन्होंने वहाँ से अपने भाई को लिखे थे। पहले पत्र में इन्होंने लिखा था—

"योरप की भूमि में यह मेरा पहला ही चरण है। आप तो समझते ही हैं कि मैं कैसा काल्पनिक हूँ। मैंने सोचा था कि योरप पहुँचते ही एक अपूर्व दृश्य मेरी आँखों को आकर्षित करेगा।..........परन्तु मैं लड़कपन से देखता चला आ रहा हूँ कि कल्पना और सत्य का प्रायः कभी मेल नहीं होता। इस नवीन देश में आने से पहले मैंने उसे जिस नवीन रूप में सोच रक्खा था, पहुँचने पर मुझे वह नवीनता न दिखलाई पड़ी।..........योरप मुझे वैसे नवीन रूप में नहीं मिला।"

इँगलैंड से इटली होते हुए वे पेरिस गए। वहाँ से उन्होंने लिखा था—

"प्रातःकाल जाकर पेरिस पहुँचा, यह कैसा सुहावना नगर है।...... मालूम पड़ता है कि कदाचित् यहाँ का कोई भी आदमी निर्धन नहीं है। मैंने सोचा कि तीन हाथ के मनुष्य के लिये एक इतने बड़े और सुसज्जित मकानों की क्या आवश्यकता है। मैं एक होटल में जाकर ठहरा। उसके सारे कमरे इतने बड़े थे कि ढीला कपड़ा पहनने से जैसी असुविधा होती है, ठीक वैसी ही असुविधा मुझे इस होटल में भी मालूम पड़ने लगी। उस मकान के विस्तार का कोई ठिकाना न था। फाटक,

दालान, बग़ीचा, अँटारी, पत्थर की गली, गाड़ी-घोड़ा और आदमियों का कोलाहल सुनकर मैं दङ्ग हो गया।"

इनके हृदय में यह धारणा थी कि इँगलैंड एक छोटा-सा द्वीप है और उसमें चारों ओर बड़े-बड़े कवियों की कविताओं और बड़े-बड़े पंडितों की वक्तृताओं की धूम मची रहती होगी। और, जहाँ दो-तीन हाथ भी जगह रहती होगी, वहाँ भी सुनाई पड़ती होगी। वे समझते थे कि वहाँ के सभी लोग तरह-तरह की विद्याओं की आलोचना में लगे रहते होंगे। परन्तु इन्होंने वहाँ पहुँचकर देखा कि स्त्रियाँ अपने शृङ्गार में ही रात-दिन व्यस्त रहती हैं, पुरुष सरकारी काम करते रहते हैं, जैसे संसार चलता है वैसे ही ये भी चलते हैं। ये सब बातें उनकी धारणा के विपरीत थीं, इससे ये बहुत ही हताश हुए। वहाँ की भीड़-भाड़ और वहाँ का आडम्बर रवीन्द्रनाथ को बड़ा ही विचित्र मालूम पड़ा। न्होंने लिखा है—

"इँगलैंड में आकर सबसे अधिक मैंने क्या देखा, जानते हो? लोगों का व्यस्तभाव। जो लोग रास्ते पर चलते हैं, उनका मुँह देखने से बड़ा मज़ा आता है। बग़ल में छड़ी लेकर हुशहुश करते हुए वे चला करते हैं। आस-पास के आदमियों के ऊपर उनकी दृष्टि ज़रा भी नहीं पड़ती। उनके मुँह पर घबड़ाहट झलकती रहती है, वे इस बात का हृदय से प्रयत्न करते रहते हैं कि कहीं उनका समय व्यर्थ न बीत जाए। यहाँ न जानें कितनी रेल की लाइनें निकली हुई हैं। सारा लन्दन इन लाइनों से भरा हुआ है। हर पाँच-पाँच मिनट पर गाड़ियाँ छूटती रहती हैं।.........देश तो ऐसे ही नन्हा-सा है, घूमने-फिरने को जगह नहीं है, दो पग चलने में भी डर लगता है कि पीछे कहीं समुद्र में न जाकर गिर पड़ें। यहाँ इतनी ट्रेनें हैं कि हम उनका अन्दाजा नहीं लगा सकते।.........इस देश के निवासियों की प्रकृति दुलारा लड़का बनने की नहीं है। यहाँ कान में तेल डालकर गद्दी पर बैठा रहना किसी को अच्छा नहीं लगता। एक तो इस देश में हमारे देश की भाँति ज़मीन को खुरचने से खेती नहीं होती और दूसरे यहाँ सर्दी से भी युद्ध करना पड़ता है। शीत के उपद्रव से बचने के लिये इन्हें न जाने कितने कपड़ों की ज़रूरत पड़ती है।

इसके अलावा भोजन में कमी करने से जीवन तक की आशा नहीं रहती। शरीर में गर्मी पैदा करने के लिये बहुत-सी चीजें खानी पड़ती हैं।.........हमारे देश में नाम-मात्र को भोजन और वस्त्र की आवश्यकता पड़ती है।"

पहले वहाँ के समाज की चाल-ढाल और बर्त्ताव इन्हें अच्छा नहीं लगता था, परन्तु यह भाव अधिक दिनों तक न रहा। रहते-रहते वहाँ के गुण भी इनकी दृष्टि में पड़ने लगे। वहाँ की स्वाधीनता इन्हें सबसे अधिक पसन्द आई। इन्होंने अपने भाई को लिखा––

"यहाँ के बालकों की ऐसी स्वाधीनता और पुरुषत्व का भाव देखकर दङ्ग हो जाना पड़ता है। इसका मुख्य कारण है यहाँ के गुरुजनों का इनके कार्यों में पग-पग पर बाधा न डालना और समानभाव से व्यवहार करना।.....यहाँ के नौकरों में दासता का भाव कितना कम है, इसे देखे बिना कदाचित् आप न समझ सकें।...........यहाँ के परिवारों में स्वाधीनता सजीवभाव से विराजमान है, कोई किसी को भी अपना स्वामी बनाकर उसकी आज्ञा का पालन नहीं करता और न किसी को अन्ध-आज्ञा का पालन ही करना पड़ता है। यदि ऐसा न होता तो एक जाति में इतना स्वाधीन भाव कहाँ से आ सकता ?...........हमारा समाज सिर से पैर तक दासता की बेड़ी से जकड़ा है।"

रवीन्द्रनाथ विलायत में रहकर भी देशी ही पोशाक पहना करते थे। लोग इसके लिये इनकी बहुत हँसी उड़ाया करते थे, परन्तु ये कुछ भी परवा नहीं करते थे। इन्होंने लिखा था––

"हमारे देशी कपड़ों को देखकर रास्ते में एक आदमी सचमुच हँस पड़ा। किसी-किसी को इतना आश्चर्य होता है कि वह हँस-हँसकर लोट-पोट हो जाता है। मेरे लिये बहुत-से लोग तो गाड़ी के नीचे दबने से बचे। वे लोग मेरी ओर ऐसे ध्यान से देख रहे थे कि उन्हें इस बात का होश तक न रह गया कि पीछे से गाड़ी आ रही है। स्कूल के कोई-कोई लड़के मेरे मुंह पर हँस पड़ते हैं और कोई-कोई चिल्लाकर कहते हैं–– 'इस 'काले' को तो देखो!' परन्तु मैं उनकी ओर ध्यान नहीं देता, मुझे इससे तनिक भी लज्जा नहीं आती।"

विलायत के साधारण आदमियों के सम्बन्ध में भी इनकी बड़ी अच्छी धारणा थी। इनका कथन है—

"एक बार जाड़े के दिनों में...मैंने देखा, रास्ते के किनारे एक आदमी खड़ा है। फटे जूतों के भीतर से उसके पैर दिखाई पड़ रहे हैं। पैर में मोज़े नहीं हैं। सीना कुछ खुला है। भीख माँगने की रुकावट होने के कारण उसने मुझसे कुछ कहा नहीं, केवल क्षण भर मेरी ओर देखता रहा। मैंने जो अशरफ़ी दी, उसकी उसे आशा न थी। जब मैं कुछ दूर निकल आया तब वह दौड़ता हुआ मेरे पास आकर कहने लगा—महाशय जी, आपने मुझे भूल से एक अशरफ़ी दे दी है, यह कहकर वह उसे वापस करने लगा।"

इसी प्रकार की एक घटना वे और भी बताते हैं—

"...पहले मैं स्टेशन पर पहुँचा तो एक क़ुली ने मेरा सामान ले जाकर गाड़ी पर रख दिया। रुपयों की थैली खोलने पर उसमें एक भी पेनी न मिली। एक अर्द्धक्राउन था, उसी को क़ुली के हाथ पर रखकर गाड़ी हाँकने को कहा। कुछ देर के बाद मैंने देखा कि वह क़ुली गाड़ी के पीछे दौड़ता हुआ आकर गाड़ीवान से गाड़ी रोकने को कह रहा है। मैंने सोचा कि वह मुझे अनजान विदेशी समझकर कुछ और लेना चाहता है। गाड़ी रुकने पर उसने मुझसे कहा कि शायद पेनी समझकर आपने मुझे अर्द्धक्राउन दे दिया है।"

रवीन्द्रनाथ देश लौटने से कुछ दिन पहले डाक्टर स्काट नामक एक गृहस्थ के घर पर रहे थे। उनके घरवालों का व्यवहार इन्हें बहुत ही अच्छा लगा। वे मानो अपने ही घर के आदमी थे। उनके सम्बन्ध में इन्होंने लिखा है—

"थोड़े ही दिनों में मैं उनके घर का-सा हो गया। श्रीमती स्काट मुझे अपने लड़के ही के समान चाहती थीं। उनकी लड़कियाँ मेरे साथ जैसा बर्त्ताव करती थीं, वैसा अपने सम्बन्धियों से भी सम्भव नहीं है।"

बिदा होते समय मिसेज़ स्काट ने रवीन्द्र बाबू का हाथ पकड़कर रोते रोते कहा था कि यदि तुम्हें इसी प्रकार चला जाना था तो इतने थोड़े दिनों के लिये आए ही क्यों थे?

विलायत से लौटकर

विलायत से लौटकर रवीन्द्रनाथ अपने भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर के साथ कुछ दिन तक चन्द्रनगर में रहे। चंद्रनगर गंगा के किनारे पर है। यहाँ वे उज्ज्वल और उन्मुक्त आकाश के नीचे विस्तृत हरीतिमामय जाह्नवी तट पर बैठकर प्रतिदिन लहरों के अबाध संगीत को सुनते। प्राकृतिक सौंदर्य के इस अबाधित उपभोग ने इनकी भावना को अभिनव स्फूर्त्ति प्रदान की। इन दिनों इन्होंने कई सुन्दर गीत लिखे जिनका संग्रह 'संध्या-संगीत' के नाम से बाद में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह को रवीन्द्र के कवि का प्रथम उन्मेष कहा जा सकता है। इसके सम्बन्ध में हम आगे चलकर लिखेंगे। इसके गीत पढ़कर यह स्पष्ट प्रकट होता है कि रवीन्द्रनाथ पर 'शेली' का प्रभाव पड़ा है। इनके बंगाली मित्र रवीन्द्रनाथ को इन्हीं गीतों के कारण बंगाल का 'शेली' कहने भी लगे थे। पर इन गीतों में, जैसा कि रवीन्द्र की रचनाओं में आगे चलकर देखा जाता है, प्रेयसी का शुभागमन नहीं हुआ है। इस संग्रह से बंगाल के साहित्यिकों को रवीन्द्रनाथ का परिचय प्राप्त हुआ और वे इनकी कवि-प्रतिमा के प्रशंसक हो गए। 'संध्या-संगीत' से संबंधित एक कहानी प्रसिद्ध है। रमेशचन्द्र दत्त की पुत्री का पाणिग्रहण-संस्कार था और प्रसिद्ध साहित्यिक श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय भी आमंत्रित थे। जब बंकिम बाबू पहुँचे तब प्रथानुसार रमेशचन्द्र दत्त ने फूलों का हार उन्हें पहनाया। पास ही खड़े थे रवीन्द्रनाथ। बंकिम बाबू ने एक बार रवीन्द्रनाथ की ओर देखा और फिर अपने गले का हार उतारकर उनके गले में डाल दिया और कहने लगे—'यह हार कवि रवीन्द्र के लिये समर्पित है। रमेश, क्या तुमने इनका 'संध्या-संगीत' नहीं पढ़ा?'

रवीन्द्रनाथ की स्वच्छन्द काव्य-सेवा में एक अन्तराय फिर आया। कुछ मित्रों ने महर्षि को सम्मति दी कि क़ानून की पढ़ाई समाप्त करने के लिये रवीन्द्र को फिर विलायत भेज दिया जाए। अतएव महर्षि ने इन्हें दोबारा इँगलैंड भेजने का निश्चय कर लिया। सन् १८८१ में ये आशुतोष चौधरी के साथ कलकत्ते से जहाज़ पर सवार हुए। मद्रास तक

पहुँचते पहुँचते चौधरी महाशय समुद्री बीमारी से ऐसे परेशान हो गए कि उन्हें मद्रास से घर लौट आने को विवश होना पड़ा। रवीन्द्रनाथ भी उनके साथ ही लौट आए और अपने पिता के पास मंसूरी चले गए। महर्षि ने भी समझ लिया कि अदृष्ट की इच्छा रवीन्द्र को बैरिस्टर न बनाकर कुछ और बनाने की है, अतः उन्होंने इन्हें फिर विलायत भेजने का विचार छोड़ दिया।

इस बार इँगलैंड-यात्रा आरंभ करने के पहले कलकत्ते में रवीन्द्रनाथ ने संगीत पर एक बड़ा सुन्दर भाषण दिया था। इस भाषण में इन्होंने बतलाया था कि कविता में जो भाव शब्दों-द्वारा व्यक्त होने से रह जाता है वह संगीत-द्वारा व्यक्त होता है। योरपीय और भारतीय संगीत में जो मौलिक पार्थक्य है उसका भी दिग्दर्शन इन्होंने अनेक प्रमाणों और उदाहरणों-द्वारा कराया। जनता इस भाषण को सुनकर अपने इस नवयुवक कवि के संगीत-ज्ञान पर मुग्ध हो गई।

सन् १८८१ में 'भारती' में इनके प्रथम उपन्यास 'बो ठाकुरानीर हाट' का प्रकाशन आरंभ हुआ। सन् १८८४ में इनकी 'करुणा' नामक रचना भारती में ही छपनी आरंभ हुई पर वह अपूर्ण ही रह गई।

जहाँ तक इन उपन्यासों का संबंध है, यह कहा जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ के आरंभ के इन दोनों उपन्यासों पर बंकिम बाबू की शैली की छाप विद्यमान है, मानो उन्हें यह विश्वास था कि बंकिम बाबू का पदानुसरण किए बिना उन्हें उपन्यास के क्षेत्र में सफलता मिल ही नहीं सकती। कारण स्पष्ट है; बंकिम बाबू ने अपने उपन्यासों के रूप में बँगला-भाषा को एक नई वस्तु दी थी; अतएव वहाँ घर-घर में उनकी चर्चा थी और बंकिम बाबू का नाम आदर के साथ लिया जाता था। इस दशा में किसी नये उपन्यास-लेखक को उनकी प्रतिभा से प्रभावित हो जाना कोई आश्चर्य की बात न थी। यही रवीन्द्रनाथ के साथ भी हुआ। इन दोनों उपन्यासों में चरित्र-चित्रण और वातावरण दोनों में अस्पष्टता दिखाई देती है।

'बो ठाकुरानीर हाट' की कथावस्तु इस प्रकार है—राजकुमार उदयादित्य, उसकी पत्नी सुरमा तथा उसकी बहन विभा अपने पिता प्रतापादित्य का विरोध करना चाहते हैं। युवराज राजा के कोपानल से अपने चाचा वसंतराय की प्राणरक्षा करने में किसी प्रकार सफ़ल होता

है। विभा का पति रामचन्द्र राय भी एक आन-बानवाला किन्तु सनकी राजा है। वह अपनी ससुराल आता है पर उसके विदूषक के कामों से क्षुब्ध होकर उसका श्वशुर उसको प्राणदंड की आज्ञा देता है। उदयादित्य उद्योग करके किसी प्रकार अपने बहनोई को बचाकर निकाल देता है। इधर सुरमा एक दूसरी स्त्री रुक्मिणी के विष-प्रयोग से मर जाती है। युवराज कारागार में डाल दिया जाता है जहाँ से उसे सीताराम किसी प्रकार मुक्ति दिलाता है, वह वसन्तराय के साथ रायगढ़ चला जाता है। राजा प्रतापादित्य के भेजे हुए गुण्डे वसंतराय की उसके घर पर हत्या कर डालते हैं। विभा अपने स्वामी के घर जाती है, पर वह उसे अंगीकार नहीं करता। अन्त में वह परित्यक्ता होकर और उदयादित्य विरक्त होकर—दोनों काशीवास करने चले जाते हैं।

इस उपन्यास से विदित होता है कि लेखक ने राजपूताने के इतिहास की एक कथा को बंगाल में लाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह कल्पनारंजित अर्द्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। जहाँ तक पात्रों का संबंध है वे कल्पनाप्रसूत अधिक हैं, वास्तविक कम ! ऐसा ज्ञात होता है कि कवि की 'संध्या-संगीत' नामक रचना की कल्पनाएँ मनुष्य का चोला देकर उपन्यास के पात्रों के रूप में खड़ी कर दी गई हैं। प्रतापादित्य ऐसा प्रतीत होता है मानो वह मूर्खता, निर्दयता और निरुद्देश्य वैर के अलावा और कुछ है ही नहीं। उसका काम है लड़ना, हिंसा करना, निर्दय आचरण करना और बिना समझे-बूझे सब पर शास्ति की वर्षा करना। न उसमें पितृत्व है, न भ्रातृत्व; मानवता का कोई अंश उसमें नहीं है। वह सदैव प्रेम और सौंदर्य के प्रति खड्गहस्त दिखाई देता है। इसके ठीक विपरीत है उसका पुत्र उदयादित्य; सब कुछ सिर झुकाकर सह लेने के लिये ही मानो उसकी सृष्टि हुई है। उसमें न मानवोचित साहस है, न अन्याय का प्रतिकार करने की युवकोचित इच्छा। वह निरा मिट्टी का पुतला है जो आघात सहने को बना है, आघात करने को नहीं। वसन्तराय ही इस उपन्यास का एक-मात्र ऐसा पात्र है जिसमें कुछ अपनी विशेषता इस प्रकार की है कि उसकी ओर हठात् पाठक का ध्यान आकृष्ट होता है और जो पुस्तक समाप्त होने के बाद पाठक के हृदय पर एक छाप छोड़ जाता है।

वसन्तराय के रूप में रवीन्द्र ने वस्तुतः एक ऐसे आदर्श की सृष्टि की है जो माधुर्य और बुद्धितत्त्व का समान मात्रा में सम्मिश्रण है और जिसका जीवन आमोद की तरलता से पूर्ण समन्वित है।

इसके बाद इनका दूसरा गीत-संग्रह 'प्रभातसंगीत' नाम से निकला। इसमें कवि-कला का दर्शन 'संध्या-संगीत' की अपेक्षा प्रौढ़ रूप में मिला। प्रसिद्ध रचना 'निर्झरेर स्वप्न भंग' ने—जो रवीन्द्र की सर्वश्रेष्ठ कविताओं में से एक मानी जाती है—बंगाल के साहित्यिकों में खलबली मचा दी और वे लोग रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा के क़ायल हो गए।

इन्हीं दिनों ज्योतिरिन्द्रनाथ ने एक साहित्यिक 'एकेडेमी' स्थापित की। इस संस्था का उद्देश्य था साहित्य और भाषा की उन्नति और परिमार्जन। उन दिनों बँगला में विदेशी शब्द और मुहाविरे बड़ी शीघ्रता से मिल रहे थे। बंगाली समाज को चिन्ता थी कि कहीं इस प्रवृत्ति से बँगला-भाषा का अनिष्ट न हो जाय, अतएव इस पर नियंत्रण रखना आवश्यक था। साथ ही यह देखना भी आवश्यक था कि ऐसे कौन से मुहाविरे व शब्द हैं जो बँगला-भाषा में आसानी से चल सकते हैं और जिनके द्वारा भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति में वृद्धि हो सकती है। इस साहित्यिक एके-डेमी का कार्य यही सब देखना-विचारना था। संस्कृत के प्रसिद्ध पंडित राजेन्द्रलाल मित्र भी इस विचार के पोषकों में से थे। पर जब यह प्रस्ताव पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सामने रक्खा गया और रवीन्द्र-नाथ ने इस सम्बन्ध में उनसे पूछा तब विद्यासागर ने अत्यंत नम्रता से उत्तर दिया—"मेरी समझ से आप लोग मुझे इस एकेडेमी से बाहर ही रहने दें। हम जैसे लोगों को लेकर आपका उद्देश्य पूरा नहीं होगा।" दुर्भाग्यवश विद्यासागर की यह भविष्यवाणी सच निकली। बंकिमचंद्र भी इस एकेडेमी के मेम्बर थे पर वे कोई क्रियात्मक भाग नहीं लेते थे।

इन दिनों सत्येन्द्रनाथ ठाकुर खारवार में जज थे। खारवार भारत के दक्षिणी-पश्चिमी किनारे पर एक रमणीय नगर है। रवीन्द्रनाथ भी वहाँ गए और कुछ दिन तक रहे। वहाँ के प्राकृतिक दृश्य उन्हें बहुत पसन्द आए और वहीं पर उन्होंने अपना पद्यनाटक 'प्रकृतिर प्रतिशोध' लिखा। इसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते कवि की

जिज्ञासा का अन्त हो चुका था और उन्होंने अपना क्षेत्र निश्चित कर लिया था। काव्य की दृष्टि से यह रचना पिछली रचनाओं से अधिक प्रौढ़ हुई है।

इन्हीं दिनों, ९ दिसम्बर १८८३ को मृणालिनीदेवी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का विवाह हुआ।

सन् १८८४ मे इनकी 'छवि ओ गान' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके साथ ही इनके कई लेख 'वालक' और अक्षयचन्द्र सरकार-द्वारा प्रकाशित 'नवजीवन' में छपे। बंकिम वाबू भी उन दिनों 'प्रचार' नामक पत्र निकालते थे। इसमें प्रधानतया बंकिम वाबू की ही सामाजिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक रचनाएँ भरी रहती थीं। इस पत्र के लिये भी रवीन्द्रनाथ ने कई गीत लिखे तथा वैष्णव गीतों पर एक समालोचनात्मक लेख भी। इन दिनों रवीन्द्रनाथ वंकिम बाबू के निकटतम संपर्क में थे। यह सत्य है कि बंकिम वावू का हेतुवाद रवीन्द्रनाथ के लिए आकर्षण की वस्तु न था फिर भी उनमें विचार-स्वातंत्र्य, सहिष्णुता, निश्छलता और यथार्थवादिता आदि कई गुण ऐसे थे जिनका रवीन्द्रनाथ पर वहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

लार्ड रिपन (१८८०–८४) इन दिनों भारत के वायसराय थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि सन् १८५७ ई० के ग़दर के वाद महारानी विक्टोरिया ने जो घोषणा भारत के सम्बन्ध में की है, उसका अक्षर-प्रत्यक्षर ईमानदारी के साथ पालन हो। उनके पूर्ववर्त्ती लार्ड बेंटिंक एक घोषणा में कह चुके थे कि उनकी हार्दिक इच्छा भारतीयों को उन्नति के पथ पर ले जाने की और उनकी साम्पत्तिक व सामाजिक स्थिति में वृद्धि करने की है। उन्हीं पदांकों का अनुसरण करते हुए लार्ड रिपन ने यह निर्णय किया कि भारतीय जजों को अपराधी अँगरेज़ों को सज़ा देने का अधिकार होना चाहिए, जो कि उस समय तक नहीं था। अँगरेज़ों ने इस प्रस्ताव का विरोध जोरों से किया। उन्हीं दिनों मिस्टर ह्यूम ने एक ऐसी सोसाइटी की स्थापना की चर्चा अपनी एक खुली चिट्ठी में की, यह चिट्ठी मिस्टर ह्यम ने १८८३ ई० में कलकत्ता-विश्वविद्यालय के नाम लिखी थी, जिसका उद्देश्य भारतीयों का आत्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक पुनर्निर्माण

था। ऐसी ही एक सभा स्थापित करने का स्वप्न प्रसिद्ध वाग्मी श्री सुरे
नाथ बनर्जी भी देख रहे थे। ये दोनों आन्दोलन शीघ्र ही मिलकर एक हो ग
और 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा' का जन्म हुआ। २७ दिसम्बर स
१८८५ को इसका प्रथम अधिवेशन हुआ और इसके प्रथम मंत्री हु
वही अँगरेज़ सज्जन मिस्टर ह्यूम, भारतीयों के प्रति जिनकी सदाशय
का उल्लेख पीछे कर आए हैं।

आरंभ में, जैसा कि कांग्रेस के इतिहास से स्पष्ट है, इस संस्था क
उद्देश्य था—'देशी प्रजा के न्यायोचित अधिकार की रक्षा करना।' प्रति
वर्ष बड़े दिन की छुट्टियों में इसका अधिवेशन हुआ करता था।

स्थापना के कुछ ही वर्ष पश्चात् कांग्रेस के रुख में परिवर्त्त
होने लगा। उन दिनों बंगाल का अभिजात वर्ग एक नए साँचे में ढ
रहा था। पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीयों के हृदय में आत्म-विश्वास क
भावना जाग्रत् कर दी थी और उन्हें विदेशी हुकूमत अभिशाप और भा
स्वरूप प्रतीत होने लगी थी। साथ ही उन्हें यह भी निश्चय हो गया थ
कि मीठे-मीठे राजनैतिक स्वप्न देखना या क्षणिक आवेश में कुछ क
डालना या कर डालना व्यर्थ है। ज्योतिरिन्द्रनाथ उन दिनों 'राष्ट्री
भारतीय उद्योग और व्यापार संस्था' के स्थापन की धुन में थे। उनक
मंतव्य था इस संस्था को बढ़ाते-बढ़ाते यहाँ तक पहुँचा देना कि इसक
द्वारा वाष्पपोतों का निर्माण होने लगे। उन्होंने कुछ दिन बाद ही एक
स्टीमर खरीद भी लिया। इसका नाम रक्खा गया 'स्वदेशी'। बारीसाल
और खुलना के बीच यह यात्रा करता था। और स्टीमरों से 'स्वदेशी' म
कुछ नई विशेषताएँ थीं। इसमें प्रायः बंगाली देशभक्त ही यात्रा किया करत
थे। इन देशभक्तों से किसी प्रकार का किराया नहीं लिया जाता था;
साथ ही स्टीमर के संचालकों की ओर से यात्रियों के भोजन की व्यवस्थ
भी निःशुल्क की जाती थी। इससे प्रत्यक्ष में संचालकों को कुछ लाभ
न था, पर स्वदेशी की धुन में 'स्वदेशी' की धूम भी खासी रही और तब
तक रही जब तक कि एक दिन स्वयं 'स्वदेशी' हवड़ा पुल के पास
जलमग्न न हो गया।

सन् १८८३ से ८७ तक रवीन्द्रनाथ की चार पुस्तकें प्रकाशित हुईं—'विविधप्रसंग', 'आलोचना', 'समालोचना' और 'चिट्ठी-पत्री'। इनमें कुछ में साहित्यिक निबंध थे और कुछ में सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं पर उनके विचार। बंगाली नवयुवक इस समय तक उनकी बातें ध्यान से सुनने लगे थे। रवीन्द्रनाथ को विश्वास था कि भारतवर्ष तब तक वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक कि सामाजिक अत्याचारों का मूलोच्छेद न हो जाय। वे अपने समकालीन देशभक्तों को यह भी बतलाने का उद्योग करते थे कि उनकी देशभक्ति रचनात्मक होनी चाहिए। जब तक भारतीय अपने उन भाइयों और बहनों के साथ समानता और सम्मान का बर्ताव करना न सीखेंगे जिन्हें कि समाज के रूढ़ बंधनों ने अछूत बना रक्खा है, तब तक वे किसी उत्तरदायित्वपूर्ण सच्चे अधिकार के पाने के पात्र नहीं हैं। अनेक लेखों, निबंधों और वक्तृताओं-द्वारा वे इन विचारों को जन-साधारण तक पहुँचाने का सतत प्रयत्न करते थे और इस प्रकार उन्होंने राष्ट्र की तत्कालीन जागर्त्ति और पुनर्निर्माण में बहुत बड़ा क्रियात्मक योग दिया।

इन्हीं दिनों एक ऐसी दुर्घटना हो गई जिससे रवीन्द्रनाथ के हृदय को गहरा धक्का लगा। उनकी भाभी, ज्योतिरिन्द्रनाथ की पत्नी, का देहान्त हो गया। रवीन्द्रनाथ परिवार की महिलाओं में सबसे अधिक उन्हीं से हिले-मिले थे। वे रवीन्द्रनाथ के लिये स्नेहमयी माता भी थीं और सच्ची मित्र भी।

प्रारंभिक रचनाएँ

बाल्यकाल में ही रवीन्द्रनाथ की बहुत-सी रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी थीं। 'बहू ठाकुरानीर हाट' तथा कुछ प्रारंभिक रचनाओं का परिचय हम यथास्थान दे चुके हैं। शेष रचनाओं के सम्बन्ध में यहाँ बतला देना उचित होगा। क्योंकि काव्य से पृथक् रवीन्द्र के जीवन को और जीवन से पृथक् उनके काव्य को समझ सकने का कोई उपाय नहीं है। न उनके जीवन से बाहर काव्य का कोई अस्तित्व है, न काव्य से बाहर जीवन

का। काव्य ही उनके जीवन की गंभीरतम सत्ता है, वही उनके जीवन का अन्तर्निहित चैतन्य है। उनके जीवन की प्रत्येक अवस्था के साथ तत्तत्काल में रचे हुए काव्य का ऐसा अच्छेद्य सम्बन्ध है कि बिना एक को जाने दूसरे के विषय में पूरी जानकारी नहीं हो सकती।

हम पिछले प्रकरण में कह आए हैं कि जोड़ासाँको के जिस वातावरण में रवीन्द्रनाथ का शैशव व्यतीत हुआ था वह काव्य के लिए सर्वथा अनुकूल था। उन दिनों जोड़ासाँको साहित्य, संगीत और काव्य-चर्चा का केन्द्र था। इधर विद्यालय के प्रति रवीन्द्र उदासीन थे ही, घर-वालों का भी उनकी ओर विशेष मोह नहीं था, अतः उनके मस्तिष्क में कला का प्रवेश यथावकाश हो रहा था। ट्यूटर की सहायता से घर पर रवीन्द्र ने १३ वर्ष की ही अवस्था में कुमारसंभव, शकुंतला, मेकबेथ और विद्यापति की पदावली आदि काव्य-ग्रथ पढ़ डाले थे। साथ ही इन पुस्तकों का ये बंगला में अनुवाद भी करते जाते और स्वयं भी थोड़ी-बहुत तुकबन्दी करते जाते थे। जोड़ासाँको के सदस्यों में से ज्योतिरिन्द्रनाथ, स्वर्णकुमारी, और द्विजेन्द्रनाथ प्रतिदिन काव्यपाठ और साहित्य-चर्चा करते थे, उसका प्रभाव इनके मस्तिष्क पर पड़ता ही था। उधर बिहारीलाल के गीत भी इनके हृदय को परिस्पंदित कर रहे थे। यह स्पष्ट है कि रवीन्द्र को इन्हीं प्रसिद्ध बंगाली कवि बिहारीलाल के पदों से 'लिरिक काव्य' लिखने की प्रेरणा मिली थी। रवीन्द्र ने काव्य-रचना का आरंभ संभवतः ११ वर्ष की आयु से किया था। उन्नीस वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उन्होंने कई काव्य, गीतिकाव्य, काव्योपन्यास, काव्यनाट्य, गीतिनाट्य आदि लिखे डाले थे। काव्य के समस्त प्रकारों की ओर इस किशोर कवि का चित्त आकृष्ट हुआ था। शैशव की इन रचनाओं में से भानुसिंह ठाकुर की पदावली और वाल्मीकि-प्रतिभा ये दो रह गईं, शेष जनता की दृष्टि से ओझल हो गईं। इन रचनाओं का साहित्यिक महत्त्व अधिक नहीं है। शेष रचनाओं में पृथ्वीराज-पराजय, वनफूल, कविकाहिनी, रुद्रचंड, शैशव संगीत, भग्न हृदय, कालमृगया, संध्या-संगीत और प्रभात-संगीत का नाम प्रसिद्ध है।

'वनफूल' काव्य एक प्रकार की कहानी है। विश्व प्रकृति के साथ मानव प्रकृति के जिस सुगंभीर संबंध ने रवीन्द्र के परवर्त्ती काव्य में और

जीवन ने बहुत बड़ा स्थान पाया है उसका आभास इसी काव्योपन्यास से मिलने लगता है। इसमें गीतिकाव्य की प्रतिभा का उन्मेष भी परिलक्षित होता है। इसी के समान 'कविकाहिनी' भी है, बाष्प और उच्छ्वासों से पूर्ण! 'वनफूल', 'कविकाहिनी' 'रुद्रचंड', 'भग्नहृदय' और 'शैशवसंगीत' ये सब रचनाएँ प्रायः एक-सी मनःस्थिति में लिखी गई हैं। यह धारा 'संध्या-संगीत' तक चली गई है। उन दिनों इस किशोर कवि के मन में सत्य की स्वयं अनुभूति नहीं थी, फलतः रचनाओं की प्रेरणा बाहर से ही उसे मिली है। ये सभी रचनाएँ दुःखान्त हैं। उन्हें देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य ज्ञान से वंचित और जोड़ासाँको में अवरुद्ध बालक रवीन्द्र उस विशाल महल के झरोखे से बाह्य प्रकृति की जो कुछ झाँकी पा लेता है उसी का चित्रण अपनी मनोव्यथा के प्रकाशन के साथ करता है। 'शैशव-संगीत' और 'संध्या-संगीत' के गीतों में बहुत कुछ भावसाम्य है। यदि विभेद है तो केवल छन्दोविन्यास में।

'भानुसिंह ठाकुर की पदावली' कवि की सोलह वर्ष की आयु की रचना है। अर्थात् 'कविकाहिनी' से कुछ और आगे की। यह रचना कवि की किशोर काल की रचनाओं से पृथक् प्रकार की है। इन दिनों बिहारी-लाल नामक बगाली वैष्णव पदकार कवि के आदर्श थे। कवि की इच्छा थी कि उन्हीं के जैसे बनने की। उनकी पदावली ने तथा अन्य वैष्णव कवियों की पदावली ने कवि के हृदय को स्पर्श किया था, फलतः वैसी ही रचना करने की इच्छा रवीन्द्र के हृदय में भी जाग्रत् हो गई थी, यद्यपि उनकी अनुभूति अभी उस कोटि की नहीं थी। भाव से काम चलाना इस दशा में अनिवार्य था। इसके लिये कवि को बचपन में ही वैष्णव-साहित्य का अनुशीलन करना पड़ा था। इस अनुशीलन की छाप उनके पिछले जीवन पर भी दिखाई देती है। वैष्णव कवियों के स्वच्छन्द छ द, ललित और संगीतपूर्ण शब्द तथा उन्मुक्त भावप्रवाह—सभी कुछ ऐसे गुण थे जो कवि के हृदय पर जीवन भर के लिये अंकित हो गए। यदि ध्यान से देखा जाय तो कालिदास और वैष्णव कवियों को छोड़कर और संसार का कोई ऐसा बड़ा कवि नहीं है जिसका प्रभाव रवीन्द्र-काव्य पर इतने व्यापक रूप में पड़ा हो। 'भानुसिंह ठाकुर की पदावली' में रवीन्द्रनाथ ने

अपना छद्मनाम 'भानुसिंह' दिया है। इसमें न केवल वैष्णव कवियों की शैली का, उनके विषय-निर्वाचन और भावांकन का भी सफल अनुकरण मिलता है। कृष्ण की आपात निष्ठुर लीला, राधा की विरह-वेदना, अंधकारपूर्ण श्रावण-रजनी, घनघोर वृष्टि, तरंगित यमुना, वंशीस्वर, अभिसार, मिलन, कुञ्जवन, कुछ भी छूटा नहीं। कहीं-कहीं भावोत्कर्ष देखकर प्रतीत होता है कि यह रचना किसी प्रौढ़ कवि की है। वस्तुतः 'नीद-मेघ पर स्वपनि-विजलि सम राधा विलसति हासि' जैसी सुन्दर उपमा का सोलह वर्ष के कवि की क़लम से निकलना आश्चर्य की बात है। फिर भी यह खुल जाता है कि ये भाव कवि के अपने नहीं हैं, बाहर से सुन-सुनाकर एकत्र किए गए हैं। 'भानुसिंह ठाकुर की पदावली' के बाद उल्लेखनीय रचना 'संध्या-संगीत' है।

'संध्या-संगीत' में कवि का हृदय अवरुद्ध और वाष्पपूर्ण दिखाई पड़ता है। इसके छंदों में कुछ नवीनता है और परंपरागत बंगला छन्दों के स्थान पर ऐसे छन्दों का प्रयोग हुआ है जो उस समय तक बँगला-साहित्य में अपरिचित थे। ये रचनाएँ बतलाती हैं कि अभी तक कवि अपने में अवरुद्ध, निराशापूर्ण, विरहव्यथित, अज्ञात दुःख के भार से पीड़ित है। शीर्षक ही देखिए—तारका की आत्महत्या, आशा का नैराश्य, परित्यक्त, सुख का विनाश, दुःख, आवाहन, असह्य निवास-हलाहल, पराजय संगीत, इत्यादि। 'संध्या' कविता में—

व्यथा बड़ो बाजियाछे प्राणे
संध्या तुइ धीरे-धीरे आय,
काछे आय—आरो काछे आय—
संगीहारा हृदय आमार
तोर बुके लुकाइते चाय*।

---

*हे संध्या, मेरे हृदय में बड़े जोर की व्यथा उत्पन्न हो उठी है। तू आ, धीरे-धीरे आ। मेरे और समीप आ जा। मेरा हृदय, जिसका संगी बिछुड़ा हुआ है, तेरी गोद में अपने आपको छिपाना चाहता है।

या 'आशा की निराशा' में—

वलो, आशा, बसि मोर चिते
आरो दुःख हइबे बहिते,
हृदयेर जे प्रदेश हयेछिल भस्म शेष
आर जारे ह'त ना सहिते
आबार नूतन प्राण पेये
से ओ पुनः थाकिबे दहिते।*

या 'दुःख आवाहन' कविता में—

आय, दुःख, आय तुइ,
तोर तरे पेतेछि आसन
हृदयेर प्रति शिरा 'टानि-टानि' उपाड़िया
विच्छिन्न शिरार मुखे तृषित अधर दिया
बिन्दु-बिन्दु रक्त तुइ करिस् शोषण
जननीर स्नेह तोरे करिब पोषण
हृदये आ वे तुइ हृदयेर धन।†

जो दुःख का स्वर फूट उठा है वही 'संध्या-संगीत' की समस्त

---

*ओ री आशा, ज़रा बता तो कि मेरे हृदय में स्थान ग्रहण करके इस तरह की परिस्थिति उत्पन्न करने जा रही है कि मुझे और भी घोर दुःख की याद वहन करनी हो। हृदय का जो प्रदेश जलकर भस्म के रूप में परिणत हो गया था, जिसमें इस प्रकार की जड़ता आ गई थी कि दुःख-क्लेश का किसी प्रकार का प्रभाव ही नहीं पड़ता था, वह नवीन सजीवता प्राप्त करके फिर दग्ध होता रहेगा।

† रे दुःख, तू आ। तेरी ही प्रतीक्षा में आसन बिछाये मैं बैठा हूँ। तू आकर हृदय की प्रत्येक शिरा को खींच-खींचकर उखाड़ डाल और भग्न हो गई प्रत्येक शिरा के मुख में अपना तृषा से पूर्ण ओष्ठ लगाकर—बूँद-बूँद रक्त सोख ले। तू हृदय का धन है, इसलिये हृदय में जब आयगा, माता के से-ही स्नेह से मैं तेरा पोषण करूँगा।

रचनाओं का स्वर है। कवि व्यथाभाराकान्त जीवन से मुक्ति पाने के लिये व्यग्र हो उठा है। 'विहंगेर गान', 'तटिनीर कथा', 'वसन्तेर कुसुमेर मेला', आदि रचनाएँ ऐसी हैं जो बीच-बीच में आकर कुछ शान्ति प्रदान कर देती हैं, मन अवरुद्ध अवस्था से कुछ समय के लिये मुक्तिलाभ कर बाह्य जगत का स्पर्शलाभ करता है, पर दूसरे ही क्षण संध्या के अस्पष्ट अन्धकार मे सब कुछ ढक जाता है। ये अस्पष्टता और व्यथा से पूर्ण दिन कवि को अब सुहाते नहीं। वह बहिर्जगत् की प्राप्ति के लिए व्यग्र है और इस दुःस्वप्नमयी अवस्था को विदा करना चाहता है—

जाओ मोरे जाओ छेड़े
निओना—निओना केड़े
निओना निओना मन मोर;
सवादेर काछ हते, छिनिया निओना मोरे;
छिड़ोना ए प्राणेर डोर
आवार हाराइ यदि एइ गिरि, एइ नदी
मेघ वायु कानन निर्झर
आवार स्वपन छूटे एकेवारे जाय टूटे
ए आमार गोधूलिर घर,
आवार आश्रय-हारा घुरे घुरे हइ सारा,
झटिकार मेघखंड सम—
दुःखेर विद्युत्फना भीषण भुजंग एक
पोषण करिया वक्षे मम।
ता, हले ए जनमे निराश्रय ए जीवने
भाँगा घर आर गड़िवेना
भाँगा उर आर जुड़िवेना।*

---

*जाओ, जाओ मुझे छोड़कर चले जाओ। मेरा हृदय निकाल मत लेना, अपने साथियों, अपने सहचरों के वीच से मुझे छीन मत लेना।

कवि बार-बार प्रतिज्ञा करता है कि वह इस दुःखमयी परिस्थिति के निकट और पराजय स्वीकार नहीं करेगा, पर उसकी प्रतिज्ञा बार-बार टूट जाती है। तब भी प्राणपण से प्रयास करके बचना ही होगा। इस बार फिर जग की ओर मुख करके खड़ा होना ही होगा। कवि स्वयं से कहता है—

जाग, जाग, जाग, ओरे
ग्रासिते एसेछे तोरे
निदारुण शून्यतार छाया
आकाश गरासी तार काया।
गेल तोर चन्द्र सूर्य गेल तोर ग्रह तारा,
गेल तोर आत्म आर पर,
एइ बेला प्राण-पण कर !
एइ बेला फिरे दाँड़ा तुइ
स्रोतो मुखे भासिस् ने आर।
जाहा पास आँकड़िया धर
सम्मुखे असीम पारावार।*

प्राणों के डोरे को मत तोड़ो, इस बार भी यदि इस पहाड़, इस नदी, मेघ, वायु, वन और निर्भर को भूलूँगा, इस बार भी यदि स्वप्न छूटेगा, तो हमारा गोधूलि का घर टूट जायगा; इस बार भी आश्रयहीन होकर वायु में पड़े मेघ-खण्ड की तरह घूमना पड़ेगा। दुःखों के विद्युत्-कण भीषण भुजंग की भाँति हृदय में पाल रखे हैं। इसलिये इस जन्म मे, इस निराश्रय जीवन में, भग्न घर फिर नहीं बनेगा, भग्न हृदय फिर नहीं जुड़ेगा !

*ओ रे, जाग, आलस्य और निद्रा का परित्याग करके सावधान हो जा। तुझे निगलने के लिए अत्यन्त भयंकर शून्यता की छाया जो अपने शरीर की विशालता के कारण आकाश को भी निगल जाती है, आई हुई है। तेरे सूर्य-चन्द्रमा तथा ग्रहनक्षत्र आदि उस छाया के अन्तराल में चले गये। तेरा अपने-पराये का भाव भी जाता रहा। इस समय तू पीठ फेरकर खड़ा हो और प्राणों की बाजी लगा। अब प्रवाह की ओर मत

यह भाव 'संग्राम-संगीत' में और भी प्रबल हो उठता है—

हृदयेर साथे आजि
करिब ऐ करिब संग्राम !
एत दिन किछुना करिनु
एत दिन बसे रहिलाम ।
आज एइ हृदयेर साथे
एक बार करिब संग्राम ।*

इस संग्राम में कवि का हृदय मथित हो गया है, किन्तु अंत में कवि विजयी हो गया है । इसकी सूचना उसकी 'प्रभातसंगीत' नामक रचना से मिलती है । इस संग्रह की प्रथम कविता 'आवाहन-संगीत' में 'संध्या-संगीत' का ही स्वर ध्वनित हो रहा है—

निजेर विश्वासे कुयासा घनाये
ढेकेछे निजेर काया
पथ आँधारिया पड़े छे समुखे
निजेर देहेर छाया ।†

पर कुछ आगे बढ़ने पर कवि को नूतन जगत् का आह्वान सुनाई पड़ता है । विश्व-जीवन उसे पुकारकर कहता है—

ओर शोन ओइ डाकिछे सवाइ बाहिर होइया आय ।‡

बहना । अवलंबन के लिये जो कोई भी वस्तु मिले, उसे ही चिपटकर पकड़ ले, क्योंकि सामने असीम सागर है ।

*आज मैं हृदय के साथ संग्राम करके ही रहूँगा । इतने दिनों तक मैंने कुछ किया नहीं, चुपचाप बैठा रहा, परन्तु आज एक बार हृदय के साथ संग्राम करूँगा ।

†अपने ही विश्वास का कुहरा घना होकर अपने ही शरीर को ढँके हुए है । अपने शरीर की छाया रास्ते को अन्धकारमय किए हुए पड़ी है ।

‡ओ ! सुनो, वह देखो, सभी बुला रहे हैं, (अब) बाहर निकलना चाहिए ।

'प्रभात-संगीत' की दूसरी कविता, 'निर्झरेर स्वप्न भंग' बहुत प्रख्यात है। इसमें 'प्रभात-संगीत' के कवि-जीवन का मूल स्वर ध्वनित हो रहा है। 'संध्या-संगीत' के हृदयारण्य में से कवि को बाहर निकल सकने का जो सौभाग्य लाभ हुआ उसका परिचय इस 'निर्झररे स्वप्न भंग' से मिलता है। यह रचना कवि की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में एक मानी जाती है—

आजि ए प्रभाते रविर कर
केमने पाशिल प्राणेर पर
केमने पाशिल गुहार आँधारे
प्रभात पाखीर गान !
ना जानि केनरे एतदिन परे
जागिया उठिल प्राण
ओरे, उथिल उठेछे वारि
ओरे, प्राणेर वासना प्राणेर आवेग
रुखिया राखिते नारि।*

× × × ×

सहसा आजिए जगतेर मुख
नूतन करिया देखिनु केन ?

---

*आज इस प्रभात काल में सूर्य की किरणें हृदय के अन्तस्तल तक पहुँच जाने में किस प्रकार समर्थ हुई हैं ? प्रभातकाल में पक्षिगण का जो मधुर संगीत हो रहा है, भला वह किस प्रकार अन्धकारमय गुहा में प्रवेश करने में समर्थ हो गया ? पता नहीं ऐसी कौन-सी बात है जिसके कारण इतने दिनों के बाद मेरे प्राण जाग उठे। (ओरे) जल उच्छ्वासमय हो उठा है। हृदय की वासना, हृदय के आवेग, को रोक रखने में मैं समर्थ नहीं हो पाता हूँ।

एकटि पखीर आध खानि तान
जगतेर गान गहिल जेन *

× × × ×

आमि-ढालिब करुणा धारा
आमि—भ गेव पाषाण कारा
आमि— जगत प्लाविया वेड़ाब गाहिया
आकुल पागल पारा ।†

उसके बाद 'प्रभात-उत्सव', 'अनंत जीवन', 'अनन्त मरण', आदि से पता लगता है कि अब 'संध्या-संगीत' के कवि ने नूतन दिशा पकड़ी है।

'प्रभात-संगीत' तक की रचनाएँ कवि की शैशवकाल की रचनाएँ हैं। 'प्रभात-संगीत' से कवि का संबंध बाह्य जगत् से हो जाता है और फिर वह समस्त जगत् को खंड-खंड रूप में न देखकर समष्टि रूप में देखने लगता है, जिसका परिचय कवि की आगे की रचनाओं से भले प्रकार मिलता है।

---

*आज सहसा जगत् का मुख नया क्यों दिखाई दे रहा है ? मानो एक पक्षी के आधे ही स्वर ने जगत् का गीत गा डाला।

× × × ×

†मैं करुणा की धारा बहाऊँगा, पत्थर का कारा तोड़ डालूँगा। इस उमड़े हुए पागल समुद्र में जगत् को डुबोकर गाता फिरूँगा।

× × × ×

पूर्वाह्न

विश्व-जीवन से परिचय

जिस बृहत्तर विश्वजीवन के सिंहद्वार में प्रवेश करने की सूचना 'प्रभात-संगीत'-द्वारा मिली थी, उसी विश्व-जीवन के साथ कवि के अन्तःकरण का परिचय धीरे-धीरे आरम्भ हुआ 'छवि ओ गान' से। इससे कुछ ही दिन पहले खारवार के समुद्रतट के पास रहते समय कवि ने 'प्रकृतिर प्रतिशोध' नामक काव्य-नाटिका की रचना की थी। यह नाटिका एक प्रकार से कवि का प्रथम नाट्य-प्रयास था क्योंकि इससे पूर्व की लिखी गई दो काव्य-नाटिकाओं—'वाल्मीकि-प्रतिभा' और 'काल-मृगया, में सिवाय गीतों के, कथावस्तु और चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी विशेषता कुछ भी नहीं है, और इसीलिये स्वयं कवि को अपने संग्रह में इनका समावेश उपयुक्त नहीं लगा था। पर 'प्रकृतिर प्रतिशोध' में गीत-माधुर्य ही प्रधान वस्तु नहीं है। इसकी कथावस्तु में भी एक प्रकार का अपनापन, एक प्रकार की नवीनता है 'वाल्मीकि-प्रतिभा' की कथावस्तु रत्नाकर डाकू की कथा पर आधारित है और 'काल-मृगया' की श्रवण-

कुमार का दशरथ-द्वारा वध होने और अन्धे-अन्धी (श्रवण के पिता-माता)-द्वारा इन्हें शाप दिए जानेवाली कथा पर। ये दोनों कथाएँ रामायण से ली गई हैं। पर 'प्रकृतिर प्रतिशोध' का कथानक लेखक की अपनी सृष्टि है जिसका विस्तार कहीं-कहीं अमित्राक्षरछन्द में और कहीं कहीं गद्य में हुआ है। बीच-बीच में कुछ गीत भी हैं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं है। उनका कथानक के साथ सीधा सम्बन्ध भी नहीं है। नायक एक संन्यासी है जो संसार के समस्त स्नेह-बन्धन तथा प्रकृति के विचित्र आकर्षणों का मायाजाल तोड़कर इन्द्रियों पर जयी होना चाहता है। इसके लिये वह अन्धकारपूर्ण निर्जन गुहा में जाकर तप-साधन करता है। एक दिन नगर के राजपथ पर चलते-चलते उसकी भेंट एक बालिका से हो जाती है जो 'धर्मभ्रष्ट अनाचारी रघु' की लड़की है और जो मातृ-पितृहीना, स्वजन-परित्यक्ता तथा असहाय होकर पथ पर मारी-मारी फिरती है। संन्यासी को इस लड़की पर दया आती है और वह उसे अपनी कुटी पर ले आता है। बालिका उसी दिन से संन्यासी को पिता कहकर संबोधन करने लगती है। स्नेह-बन्धनमुक्त संन्यासी के हृदय में इस घटना से स्नेहांकुर जमने लगता है। उसी समय से संन्यास और सांसारिक आदर्श के बीच संन्यासी के हृदय में द्वन्द्व चलने लगता है। संन्यासी बालिका को भाँति-भाँति का ज्ञानोपदेश करने की चेष्टा करता है पर बालिका की समझ में उसकी एक बात भी नहीं आती। अन्ततः बालिका का स्नेह संन्यासी को कठिन तपश्चर्या से विरत कर देता है और वह कह उठता है—

> "आज हते आमि आर नहिरे संन्यासी,
> पाषाण संकल्प भार दिये विसर्जन।
> आनन्दे निश्वास फेले बाँचि एक बार!
> हे विश्व, हे महातरी, चलेछ कोथाय,
> आमारे तुलिया लओ तोमार आश्रये—
> एका आमि साँतारिया पारिब ना जेते!
> कोटी-कोटी यात्री ओइ जेतेछ चलिया,
> आमिओ चलिते चाइ उहादेर साथे!

जे पथे तपन शशी आलो धरे आंछे,
से पथ करिया तुच्छ, से आलो त्याजिया
आपनारि क्षुद्र एइ खद्योत आलोके,
केन अन्धकारे मरि पथ खूँजे खूँजे।"*

इस घटना से संन्यासी की दृष्टि में सृष्टि का रूप ही बदल जाता है। वह देखता है कि जगत् के मुख में हास उच्छ्वासित हो उठा है। चन्द्र-सूर्य आनन्द की तरंग में नाचने लगे हैं; लताओं-पत्रों में आनन्द-हिलोरें ले रहा है जिससे वे काँपने लगे हैं। पथिक के गले में आनन्द उन्सारित हो उठा है, कुसुम-कुसुम में आनन्द फूटा पड़ता-सा दिखाई देता है।

दो सहज-विरोधी आदर्शों का संघर्ष और परिणाम में होनेवाली मधुर पराजय का चित्रण 'प्रकृतिर प्रतिशोध' में पूर्ण रूप से हुआ है। इसका एक कारण भी है। इसकी रचना करते समय कवि युवा थे। उनके प्रथम यौवन की भावधारा के बीच एक परिवर्तन आगया था। इस परिवर्तन की सूचना इससे पूर्व ही 'प्रभात-संगीत' द्वारा मिल चुकी है। 'संध्या-संगीत' का दुःख, नैराश्य और अनिर्दिष्ट अन्धकार का भाव इस समय तक लोप हो चुका था और अब कवि का हृदय विश्व-प्रकृति के अद्भुत प्रकाश का आनन्द भोग रहा था। प्रकृति की लीलाओं में, स्नेह और प्रीति के आगार संसार में अब कवि को ममता हो गई थी। इस अवस्था में वे प्रकृति और संसार से विरक्त संन्यासी का समर्थन कैसे करते?

---

* आज से (अब) मैं संन्यासी नहीं हूँ। संकल्प के पाषाण को विसर्जन कर बच जाने की खुशी में एक बार आनन्द का निश्वास लूँ। हे विश्व! हे महातरी, किधर जाती हो, मुझे अपने आश्रय में ले लो। मैं अकेले तैरकर पार नहीं जा सकूँगा! (ये) कोटि-कोटि यात्री चले जा रहे हैं। मैं भी उनके ही साथ चलना चाहता हूँ। जो पथ सूर्य और चन्द्र के आलोक से उद्भासित है, उस पथ को तुच्छ समझकर, उस प्रकाश को छोड़कर अपने इस खद्योत समान तुच्छ प्रकाश के सहारे कौन इस अन्धकार में पथ खोज-खोज मरे!"

इसी समय की एक और रचना 'छवि ओ गान' में उल्लेखनीय वस्तु केवल छवि है। रूप के छोटे-छोटे टुकड़ों को मानो एक सूत्र में पिरोकर रख दिया गया है। बाहर संसार में कवि जो कुछ देखते हैं उसका एक रेखाचित्र अंकित करने का वे प्रयास करते हैं। 'छवि ओ गान' को कवि की नव-जाग्रत् चेतना की प्रथम चित्रलिपि कहा जा सकता है। न केवल इसके दृष्टिकोण में, इसके छन्दों की रचना में भी कवि ने नवीनता का पूरा-पूरा आभास दिया है। इन रचनाओं में एक प्रकार का स्वतः उच्छ्वसित आनन्द परिस्फुटित हो रहा है। किन्तु बैठे-बैठे छवि देखने से ही तो मनस्तोष नहीं होता, इस बृहत्तर सृष्टि के मध्य में आत्म-प्रकाश करने की प्रेरणा भी स्वाभाविक है। अब कवि का मन महल के झरोखे के पास बैठकर बाहरी छवि देखते हुए सन्तुष्ट नहीं रह सकता। वह बाह्य छवि का जी भर कर दर्शन करना चाहता है और फिर उससे उत्पन्न होनेवाले आनंद का विस्तार-प्रसार भी। 'छवि ओ गान' इसी मनःस्थिति का परिणाम है।

इस बीच में दो परिजनों की मृत्यु ने कवि के जीवन में एक नई अभिज्ञता ला दी और उसे एक नई अनुभूति प्रदान की। इस घटना से जीवन के साथ कवि का गम्भीर परिचय स्थापित हो गया और मानव-जीवन की विचित्र रंगलीला कवि के जीवन को अपनी ओर आकर्षित करने लगी। कवि की इस भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति 'कड़ि ओ कोमल' में हुई है। मानव-जीवन में प्रवेश करने और उसे ग्रहण करने की एक अतृप्त आकांक्षा 'कड़ि ओ कोमल' की कविताओं का मूल सूत्र है जिसकी अभिव्यक्ति हमें प्रथम रचना में ही दिखाई देती है—

मरिते चाहिना आमि सुन्दर भुवने
मानवेर माझे आमि बाँचिवारो चाइ।*

---

*इस सुन्दर संसार में मैं मरना नहीं चाहता; मानव (समाज) में मैं जीवित रहना चाहता हूँ।

'छवि ओ गान' के पश्चात् 'कड़ि ओ कोमल' की रचनाएँ कवि के मानसिक विकास का ठीक परिचय देती हैं। इन दिनों उनकी आयु २५ वर्ष की हो गई थी। उनकी सुन्दर और छरहरी अंगयष्टि, गौरवर्ण, प्रशस्त ललाट, बड़ी-बड़ी, भावुक और रहस्यमयी आँखें---जिनकी कोरों में समस्त वसुधा की अनुरक्त वेदना सिमटकर एकत्र हो गई थी, पुरुषोचित आकार-प्रकार और परम रमणीय कंठस्वर तथा स्वाभाविकरूप से घुँघराले श्याम केश दर्शक के चित्त को हठात् आकर्षित कर लेते थे। कलकत्ता के साहित्यिक-जीवन के वे इन दिनों प्राण थे। 'कड़ि ओ कोमल' के गीतों को रसिक-समाज ने बहुत पसन्द किया और घर-घर उनकी चर्चा होने लगी।

इस संग्रह की रचनाओं में मानव की मूल आकांक्षा प्रतिध्वनित है। वह आकांक्षा है सच्चे और पूर्णरूप में सांसारिक सुखोपभोग की। इस संग्रह के गीतों का मध्यविन्दु है प्रेयसी, जिसका मुख आकाश की भाँति प्रदीप्त है; जिसके हृदय में प्रभात की आग है; कवि की समस्त भावनाएँ एक अतृप्त तृषा के साथ इसी मध्यविन्दु के चारों ओर चक्कर लगाती हैं। २५ वर्ष का तरुण कवि जीवन के आनन्द का सबसे बड़ा समर्थक है। वह इस जीवन के आनन्द की अब तक कल्पना करता आ रहा था। पर अब उसका उसके सच्चे रूप में रसास्वादन करना चाहता है। इन गीतों में जीवन का उष्ण रक्त है; उनमें समुद्र की लहरों का प्रसार और आकुंचन है। पाठक को इन गीतों को पढ़ते-पढ़ते अनुभव होता है कि कवि के मस्तिष्क में भावनाओं का समुद्र उमड़ रहा है। वह संसार के आनन्दमय सौन्दर्य को देखकर भावातिरेक से विभोर-सा हो गया है। साथ ही उसके शब्दों में अमूर्त्त भावनाओं का सुन्दर चित्रण करने की ऐसी अपूर्व क्षमता आ गई है जिसे देखकर आश्चर्य होता है। शब्द मानो उसके इंगित पर चलते हैं; उसके आज्ञानुवर्ती परिचारक हैं।

पर कवि इस सांसारिक सुख का उपभोग करने मात्र को लालायित नहीं, वह स्वयं आनन्द की सृष्टि करना चाहता है। उसका आशावाद 'भोग' से नहीं, 'सृष्टि' से अनुप्राणित है। अतएव उसमें जो कुछ है, उसका

नैतिक मूल्य बहुत अधिक है। पुस्तक के आरम्भ में दी हुई 'प्राण' शीर्षक कविता मानो शेष रचनाओं की प्रतिनिधि है—

मरिते चाहिना आमि सुन्दर भुवने
मानवार माझे आमि बाँचिवारे चाइ
एइ सूर्य करे एइ पुष्पित कानने
जीवन्त हृदय माझे यदि स्थान पाइ।*

जीवन की यही उद्दाम अभिलाषा 'कड़ी ओ कोमल' में आद्योपान्त मौजूद है। कवि इस अवस्था में पहुँचकर पुरातन और असुन्दर का नहीं, नूतन और सुन्दर का दर्शन करना चाहता है—

हेथा हते जाओ पुरातन,
हे थाय नूतन खेला आरम्भ ह'येछे।
आवार बाजिछे बाँशि, आवार उठिछे हासि
बसन्तेर बातास बयेछे।†

वह मेघाच्छन्न आकाश के बाद उज्ज्वल सूर्य-रश्मि देखकर आन्दोलित हो उठता है—

बहुदिन परे आजि मेघ गेछे चले,
रविर किरण सुधा आकाशे उथले।
स्निग्ध श्याम पत्रपुटे आलोक झलकि उठे
पुलक नाचिछे गाछे गाछे।

---

* इस सुन्दर संसार में मैं मरना नहीं चाहता, मानव (समाज) के मध्य में मैं जीवित रहना चाहता हूँ। इस सूर्यकिरण भरे संसार में, इस पुष्पित कानन में, किसी जीवन्त हृदय में, यदि स्थान मिले।

† हे पुरातन जाओ यहाँ से, यहाँ नूतन का खेल आरम्भ हो गया। अब वंशी बज रही है, हँसी की लहर उठ रही है (और) वसन्ती वायु बह रहा है।

नवीन यौवन येन प्रेमेर मिलने काँपे
आनन्द विद्युत् आलो नाचे।*

वह संसार को क्रीड़ा और सुखोत्सवों का क्षेत्र समझ रहा है, यहाँ मृत्यु की, दुःख और वेदनाओं की कल्पना उसे स्वीकार नहीं है—

नहे, नहे, सेकिहय! संसार जीवनमय।
नहि हेथा मरणेर स्थान!
आयरे, नूतन, आय, संगे करे निये आय,
तोर सुख, तोर हासि गान।†

इन दिनों कवि जीवन के मध्य में, मनुष्यों के मध्य में स्थान चाहता है। उसके लिए खंडशः जीवन का कुछ मूल्य नहीं, जीवन की समग्रता में जो रस प्रत्येक दिशा में प्रवाहित हो रहा है, वही कवि के चित्त को लुभा रहा है। 'कड़ि ओ कोमल' में उसी से उत्पन्न होनेवाली जीवन-विचित्रताओं का दर्शन होता है। यौवन के विचित्र स्वप्न, प्रेम, प्रकृति, नारी, सौन्दर्य-रहस्य, शिशु-जीवन, स्वदेश, कुछ भी कवि के हृदय-स्पर्श से बचा नहीं। स्वदेश-सम्बन्धी रचनाओं में 'बंगवासीर प्रति' और 'आह्वान गीत' में देशभक्ति की जिस गम्भीर वेदना और अनुरक्ति का अंकन हुआ है वह अन्य कवियों की उस प्रकार की रचनाओं में बहुत कम देखने को मिलेगा। परन्तु कविता चाहे शिशु-सम्बन्धी हो, चाहे समाज-सम्बन्धी, चाहे राष्ट्र-सम्बन्धी, सबमें कवि का यौवन-स्वप्न विद्यमान है—

---

*बहुत दिनों के बाद आज मेघ चले गए, सूर्य की अमृतमयी किरणें आकाश में नाचने लगीं। (वृक्षों के) चिकने श्यामल पत्तों पर आलोक झिलमिला उठा; वृक्ष-वृक्ष पर आनन्द नाच उठा, नवीन यौवन प्रेम-मिलन में काँप उठा, आनन्द विद्युत्-प्रकाश में नाच उठा।

†नहीं नहीं, यह क्या हो सकता है! संसार जीवनमय है। यहाँ मरण का स्थान नहीं है। आओ नूतन आओ (और) अपने साथ अपने सुख, हँसी और गान को भी लिए आओ।

आमार यौवन-स्वप्ने येन छेये आछे विश्वेर आकाश,
फुलगुलि गाये एसे पड़े रूपसीर परशेर मतो।
पराणे पुलक विकाशिया बहे केन दक्षिणा बातास,
जेथा छिल जत विरहिणी सकलेर कुड़ाये निःश्वास।
शत नूपुरेर रुनझुन वने येन गुंजरिया बाजे।
मदिर प्राणेर व्याकुलता फुटे-फुटे बकुल मुकुले।
के अमारे करे छे पागल—शून्ये केन चाइ आँखि तुले,
येन कोन उर्वशीर आँखि चेये आछे आकाशेर माझे।*

इस यौवन-स्वप्न ने कवि के मानस को विकसित कर दिया है। इसी यौवन-स्वप्न ने कवि की सौन्दर्य-प्रेरणा को उद्बुद्ध कर दिया है। वह सौंदर्य है नारी में, प्रकृति में, भोग और मिलन में, प्रेम में और मिलनातीत विरह में। इसी सौंदर्य के कारण कवि मृत्यु को नहीं चाहता, वह जीवन चाहता है। नारी का सौंदर्य कवि की दृष्टि में तुच्छ नहीं है। वह परम रमणीय है और परम उपभोग्य। इस प्रकार शारीरिक मिलन भी उसकी परम काम्य वस्तु है। कारण, शारीरिक मिलन हुए विना शारीरिक आकर्षण से मुक्ति नहीं मिल सकती।

यौवन का प्रथम स्वप्न और प्रथम आकांक्षा है भोग का स्वप्न और भोग की आकांक्षा। यदि जीवन सत्य है, यदि यौवन सत्य है, तो भोगाकांक्षा भी सत्य है और कामना-वासना भी।

---

* हमारे यौवन-स्वप्न ने जैसे विश्वाकाश को आच्छादित कर दिया है; फूल हमारे शरीर पर उस तरह पड़ते हैं जैसे, सुन्दरियों के शरीर का स्पर्श। प्राणों को पुलकित करके मलय वातास क्यों बह रहा है; (यहाँ तो) सभी विरहिणियों का निःश्वास संचित है।

सहस्र नूपुरों की रुनझुन वन में बजकर गुंजरित हो उठी। प्राणों की मदिर व्याकुलता बकुल कलियों में फूट-फूट पड़ती है। शून्य देखकर कौन मुझे पागल कर रहा है। जिस प्रकार कोई उर्वशी आकाश में आँखें बिछाये हो।

इस संग्रह की रचनाओं में आकांक्षाओं को दबाने का प्रयत्न नहीं है, प्रत्युत अधिक-से-अधिक आकर्षक रूप में उनकी वकालत की गई है। 'स्तन', 'चुम्बन', 'विवसना', 'पूर्ण मिलन' आदि रचनाओं से यह अच्छी प्रकार विदित हो जाता है। कुछ बंगाली पंडितों ने इन रचनाओं पर काफ़ी नाक-भौं सिकोड़ी थी, क्योंकि उस समय एक बंगाल क्या समूचे भारत के लिए इस प्रकार का साहित्य, जिसे आजकल यथार्थवाद के नाम से पुकारा जाता है, अपरिचित था। 'विवसना' में कवि कहता है—

फेलो गो वसन फेलो—घुचाओ अंचल !
परो शुधू सौन्दर्येर नग्न आवरण
सुर वालिकार वेश किरण वसन !
परिपूर्ण तनुखानि—विकच कोमल,
जीवनेर, यौवनेर, लावण्येर मेला।*

इसी प्रकार वह 'स्तन' में कहता है—

नारीर प्राणेर प्रेम मधुर कोमल,
विकशित यौवनेर वसन्त समीरे।
कुसुमित होये ओइ फूटे छे बाहिरे,
सौरभ सुधाय करे पराण पागल।
हेरो गो कमलासन जननी लक्ष्मीर,
हेरो नारी-हृदयेर पवित्र मंदिर !†

× × ×

* ओ जी ! वस्त्र फेंको—अंचल हटाओ ! पहन लो केवल सौंदर्य का नग्न आभूषण ! परिपूर्ण शरीर—विकच कोमल; जीवन, यौवन और लावण्य का मेला।

† नारी के प्राणों का मधुर कोमल प्रेम यौवन के वासन्ती समीर को पाकर विकसित-कुसुमित हो गया है। बाहर फूट रहा है, सौरभ सुधा से प्राणों को पागल कर रहा है। देखो जननी लक्ष्मी का कमलासन! देखो नारी-हृदय का पवित्र मन्दिर !

पवित्र सुमे बटे एइ से हेथाय,
देवता-विहार भूमि कनक-अचल ।
उन्नत सतीर स्तन स्वरग-प्रभाय,
मानवेर मर्त्यभूमि करेछे उज्ज्वल ।
धरणीर माझे थाकि स्वर्ग आछे चूमि,
देव-शिशु मानवेर ए मातृभूमि ।*

'देहेर मिलन' में वह कहता है—

प्रति अंग काँदे तव प्रति अंग तरे,
प्राणेर मिलन मागे, देहेर मिलन ।
हृदये आच्छन्न देह हृदयेर भये,
मुरछि पड़िते चाय तव देह परे ।†

सर्वांग ढालिया आजि आकुल अंतरे,
देहेर रहस्य माझे हइब मगन ।
आमार ए देह मन चिर रात्रि-दिन,
तोमार सर्वांग जा` होइया विलीन ।‡

---

*(क्या यहाँ) यह पवित्र सुमेरु है ! या देव-विहार की भूमि कनकाचल ! या सती का उन्नत स्तन स्वर्ग-प्रभा से मानव की मर्त्यभूमि को उज्ज्वल कर रहा है ! या धरती के बीच तुम स्वर्ग हो ! हे देव-शिशु मानव की मातृभूमि !

† अंग-प्रत्यंग तुम्हारे अंग-प्रत्यंग के लिए रो रहा है । प्राणेश मिलन चाहता है, देह का मिलन । हृदय से आच्छन्न देह हृदय के भय से तुम्हारी देह पर मूर्च्छित होकर गिरना चाहता है ।

‡ आज आकुल अन्तर में सर्वांग ालकर देह के रहस्य में मगन होऊँगा । हमारी यह देह और मन चिर रात्रि-दिन तुम्हारे सर्वांग में विलीन हो जाय ।

यद्यपि बाहर से देखने पर इन रचनाओं में नग्न विलासिता दिखाई पड़ती है, फिर भी इन रचनाओं में ध्यान रखने योग्य एक बात है। इनकी भोगाकांक्षा में यौनाकर्षण की अपेक्षा भावाकर्षण अधिक प्रबल है। विवसना नारी के शरीर में भी कवि ने लाजहीन पवित्रता का अनुसंधान कर लिया है। सुन्दरी के स्तनों में कवि ने 'देवशिशु मानवेर मातृभूमि' की कल्पना की है। यह रोमांटिक दृष्टिकोण रवीन्द्र के कवि मानस की विशेषता है। कवि दीर्घ अभिसार के पश्चात् जब शरीर-सागर के तट पर पहुँचता है तब क्षण भर में ही उसकी दैहिक भोगाकांक्षा बृहत्तर सौंदर्य भोगाकांक्षा में परिणत हो जाती है और वस्तुशरीर का भावशरीर में पर्यवसान हो जाता है। यही एक विशेषता है जो रवीन्द्र के यथार्थ-वाद को दूषित नहीं होने देती।

धर्म-प्रवृत्ति

इस यौवनावेश ने भी कवि के धार्मिक विश्वासों को शिथिल नहीं कर दिया था। इस दिशा में वे अपने पिता के सच्चे अनुयायी रहे। सन् १८८७ ई० में आदि ब्रह्म-समाज के मंत्री का कार्य उन्हें सौंपा गया जिसे उन्होंने उत्तरदायित्व पूर्ण ढंग से सन् १९१७ तक निभाया। इन दिनों समाज-सुधार के कार्यों में भी रवीन्द्रनाथ ने महर्षि का बहुत कुछ हाथ बँटाया। फिर भी रवीन्द्रनाथ में धार्मिक असहिष्णुता और विचार संकीर्णता नाम-मात्र नहीं थी। ब्रह्म-समाज के आध्यात्मिक गुरु राजा राममोहनराय पर लिखे गये अपने लेख में उन्होंने लिखा है कि किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय की योग्यता निर्णय करने की सर्वोत्तम कसौटी यह है कि यह देखा जाय कि उस सम्प्रदाय अथवा धर्म ने मानवता के कल्याण के लि` क्या और कितना दिया। उनके मतसे व्यक्तिगत और समाजगत स्वतन्त्रता का सच्चा रूप यह है कि व्यक्ति अपने स्वार्थों को समाज हितकारी स्वार्थों के अधीन रक्खे।

अभिनय

बंगाली होने के नाते रंगमंच की ओर रवीन्द्रनाथ की अभिरुचि आरम्भ से ही थी। अपने लिखे नाटकों में स्वयं अभिनय करना उन्हें

बहुत पसन्द था। उन्होंने नाटक लिखना अपने भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ की प्रेरणा से आरम्भ किया था। उन दिनों कलकत्ता में कोई स्थायी रंगमंच न था, अतएव बंगालियों की अभिनय देखने की स्वाभाविक लालसा की पूर्त्ति उन नाटकों-द्वारा होती थी जिन्हें धनिक लोग जब-तब अपने घरों में कराया करते थे। ठाकुर-परिवार के तत्त्वावधान में कुछ नाटक-मंडलियाँ जब-तब अभिनय दिखाया करती थीं। इस प्रकार के अभिनयों में दो बहुत बड़ी त्रुटियाँ थीं। एक तो यह कि दर्शकों की परिमित संख्या ही इन्हें देखने जा सकती थी और दूसरी यह कि किस खेल का अभिनय होगा, यह उस व्यक्ति-विशेष की रुचि पर ही निर्भर करता था जिसके यहाँ नाटक होता था। इन्हीं दिनों कुछ उत्साही युवकों के मन में विचार आया कि कलकत्ते में स्थायी रंगमंच का आयोजन किया जाय। यह रंगमंच सार्वजनिक हो और प्रत्येक धनिक के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो। फलतः कलकत्ते में 'नेशनल थियेटर' की स्थापना हुई और ७ दिसम्बर, १८७२ को पहले-पहल उसमें दीनबन्धु मित्र लिखित 'नील-दर्पण' का अभिनय हुआ। यह नाटक मित्र महोदय ने सन् १८५८ ई० में लिखा था। कला की दृष्टि से इस नाटक में कोई विशेषता नहीं थी, हाँ यह अवश्य था कि इसमें अँगरेज़ प्लान्टरों (वे अँगरेज़, जिनका चाय आदि के बाग़ों पर अधिकार होता है) के द्वारा ग्रामीणों पर होनेवाले अत्याचारों का प्रदर्शन कराया गया था। जनता ने इस खेल को बहुत पसन्द किया क्योंकि इसमें उसे अपने ऊपर अँगरेज़ों-द्वारा किये जानेवाले अत्याचारों का सामयिक चित्र देखने को मिला था। इस नाटक का सर माइकेल मधुसूदन-द्वारा किया हुआ आँग्ल अनुवाद भी रेवरेण्ड डाक्टर जेम्स लाँग लिखित भूमिका के सहित छपा था जिसके कारण उनपर एक हज़ार रुपये का जुर्माना हुआ था और एक महीने की सज़ा दी गई थी। इस घटना के कारण भी जनता की उत्सुकता इस नाटक के सम्बन्ध में काफ़ी बढ़ गई थी और इसी लिये अभिनय किए जाने पर आशातीत सफलता मिली।

प्रथम बार के अभिनय की सफलता ने नाटक-रचना को उत्तेजना दी, जैसा कि स्वाभाविक ही था। रवीन्द्रनाथ को तो ऐसा लगा कि उन्हें अब

सब कुछ छोड़कर नाटक ही लिखने चाहिए क्योंकि नाटकों में भाव-प्रकाशन की सुविधा साहित्य के अन्य अं ों की अपेक्षा अधिक रहती है। इस सम्बन्ध के उनके प्रारम्भिक यत्नों में से कुछ का उल्लेख पीछे कर आए हैं। ये आरम्भिक रचनायें 'मेलोड्रामेटिक' गीत हैं। इसके बाद उन्होंने पौराणिक कथावस्तु के आधार पर कुछ नाटकों की रचना की। ीछे से उन्होंने ऐसे नाटक भी लिखे जिनमें संसार और मानवता के सम्वन्ध में उन्होंने अपना दृष्टिकोण उपस्थित किया। दैनिक-जीवन की घटनाओं से अपने नाटकों के लिये कथावस्तु निकालने का कार्य तो उन्होंने आयु के शेष भाग में ही किया था।

उनकी 'मायार खेला' नाटिका 'कड़ि ओ कोमल' के बाद प्रकाशित हुई थी। यह नाटिका भी पूर्वपरिचित 'वाल्मीकि प्रतिभा' की भाँति गीति-नाटच (Melodramatic) ही है। इसमें भी नाटच की प्रधानता न होकर 'गीत' की प्रधानता है। रचनाकाल सन् १८८८ ई० है। प्लाट बहुत ही सूक्ष्म है। कुछ नवयुवक हैं जो अपने ही सुख के मोह में, प्रेम की माया में पड़कर भूलें करते हुए मर जाते हैं। इसी को गीत के स्वरों-द्वारा व्यक्त किया गया है। नाटिका का समस्त तत्त्व मायाकुमारी के निम्न गान में व्यक्त हो उठा है—

एरा, सुखेर लागि चाहे प्रेम, प्रेम मेलेना,
शुधू सुख चले जाय!
एमनि मायार छलना।
एरा, भूले जाय कारे छेड़े कारे चाय!
ताइ केंदे काटे निशि, ताइ दहे प्राण!
ताइ मान अभिमान,
ताइ एत हाय हाय! *

× × ×

---

* यह सुख के लिये प्रेम चाहता है; पर प्रेम मिलता नहीं। केवल सुख चला जाता है; ऐसी है यह माया की छलना! यह किसी को भूल जाता

एवं—

> दुःखेर मिलन टूटिवार नय
> नाहि आर भय नाहि संशय,
> नयन सलिले जे हासि फूटेगो,
> रय ताहा रय, चिर दिन रय।*

'मायार खेला' के कुछ समय बाद निर्मित 'राजा ओ रानी' ने रवीन्द्र की प्रतिभा के एक नई दिशा में विकसित होने की सूचना दी। 'राजा ओ रानी' एक दुःखान्त कहानी है जिसका सम्बन्ध प्राचीन काल के एक राजघराने से है। इसमें रवीन्द्रनाथ ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि पुरुष और स्त्री के मस्तिष्कों में विवेक किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार से काम करता है। जालन्धर का राजा विक्रमदेव अहर्निश प्रेम की आराधना में तत्पर रहना चाहता है और राज-काज की ओर ध्यान देना नहीं चाहता। जब कोई मंत्री उससे किसी राजकीय प्रश्न पर परामर्श करने आता है तब वह भागकर अन्तःपुर में शरण लेना चाहता है। न वह प्रजा के दुःखों की कहानी सुनना चाहता है, न अभावों की। काश्मीर नरेश चन्द्रसेन की भतीजी और कुमारसेन युवराज की बहन सुमित्रा उसकी रानी है। उसे यह ठीक नहीं जँचता कि उसका पति केवल 'प्रेमी' बना रहे और विदेशी काश्मीरी जिन्हें राजा ने राज्य के उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर रख छोड़ा है, मनमाने ढंग से प्रजा का उत्पीड़न और दोहन करते रहें और उनके अत्याचारों से प्रजा दिन-दिन

है, किसी को छोड़कर किसी को चाहता है। इसी तरह रोते-रोते दिन कटता है (और) इसी लिए प्राण जलते हैं। इसी लिए है मान-अभिमान; इसी लिए है इतनी हाय-हाय!

* दुःख से होनेवाला मिलन टूटनेवाला नहीं है। (इसमें) न भय है और न संशय। (हे वन्धु) नयनों के जल से जो हँसी फूटती है— वह रहती है, रहती है, चिरदिन रहती है।

ग़रीब और दुःखी होती जाय। वह राजा को समझाने का भी प्रयत्न करती है।*

वह अपने ऊपर राजा का एकान्त सर्मापित प्रेम नहीं चाहती। वह कहती है कि स्त्री लता की भाँति है जो एक दृढ़ वृक्ष का आश्रय चाहती है।

जब रानी उसकी दुर्बलता पर आक्षेप करती है तब वह अपनी सबलता का परिचय यह कहकर देना चाहता है कि वह 'प्रेमी' है और अन्तःकरण की पूरी शक्ति के साथ रानी से प्रेम करना चाहता है। रानी इसे अनुचित कहती है और यह भी कहती है कि इससे अच्छा तो यही है कि आप मुझसे प्रेम न करके घृणा करने लगें और अपना ध्यान प्रजा के कार्यों की ओर लगाएँ।

राजा की कर्त्तव्य बुद्धि को जगाने की रानी की ये समस्त चेष्टाएँ व्यर्थ होती हैं। निरुपाय होकर रानी पुरुष का छद्मवेष धारण करके कुछ विश्वस्त अनुचरों के साथ काश्मीर चली जाती है। जब राजा देखता है कि अपना सम्पूर्ण राज्य, सम्पूर्ण ऐश्वर्य और हृदय का सम्पूर्ण प्रेम देकर भी वह एक नारी-हृदय को अपने अधिकार में नहीं कर सका उस समय कर्त्तव्य का आह्वान उसके मोहाच्छन्न प्रेम को एक ओर ठेल देता है और वह कहने लगता है—

> अन्तर्यामी देव!
> तुमि जान, जीवनेर सब अपराध।

---

* शोन प्रियतम, आमार शकल तुमि, तुमि महाराज, तुमि स्वामी, आमि शुधू अनुगत छाया। तार वेशीनय, आमारे दियो न लाज, आमारे वेसोना भाल राजश्रीर चेये।

† तुमरा पुरुष दृढ़ तरुण मतन, आपनि अटल रबे, आपनार परे स्वतंत्र उन्नत........। तोमरा रहिबे किछू स्नेहमय, किछू उदासीन, किछू मुक्त किछू वा जड़ित, सहस्र पाखीरगृह पांथेर विश्राम; तप्त धरणीर छाया, मेघेर बान्धव, झटिकार प्रतिद्वन्द्वी, लतार आश्रय।

नारे भालवासा, पुण्य गेलो, स्वर्ग गेलो,
राज्य जाय अवशेषे से ओ चले गेलो।
तबे दाओ, फिरे दाओ, क्षात्रधर्म मोरं;
राजधर्म फिरे दाओ; पुरुष हृदय,
मुक्त करे दाओ एइ विश्वरंग माझे!
कोथा कर्मक्षेत्र! कोथा जनस्रोत! कोथा
जीवन-मरण! कोथा सेइ मानबेर,
अविश्रान्त सुख-दुख, विपद-संपद,
तरङ्ग उच्छ्वास! *

यहीं नाटक के प्रथम पर्याय का अन्त हो जाता है। द्वितीय पर्याय में सुमित्रा और विक्रमदेव को केन्द्र में करके प्रत्येक कथा और गति का संचार होता है। राजपथ पर बहुत लोगों की बातचीत, देवदत्त के साथ राजा का वार्तालाप, महिषी के साथ मंत्री की बातचीत आदि के द्वारा राज्य की भीतरी दशा दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। तृतीय अंक में एक शान्त, मधुर और तेजस्वी व्यक्ति से हमारा परिचय होता है। वह है शंकर, काश्मीरकुमार कुमारसेन का पुरातन वृद्ध भृत्य; यह चरित्र हमारी आँखों के सामने अधिक नहीं आता किन्तु जितना आता है उतना ही हमारा ध्यान पूर्ण रूपेण अपनी ओर आकृष्ट कर लेने को पर्याप्त है। द्वितीय दृश्य में त्रिचूड़ कानन में त्रिचूड़-राजकन्या इला के साथ कुमार की बातचीत है, इससे कुमार के चरित्र से हमारा परिचय हो जाता है। तृतीय दृश्य में छद्मवेशी सुमित्रा कुमारसेन से काश्मीर के

---

* अन्तर्यामी देव! तुम जानते हो (मेरे) जीवन का सब अपराध, उसके प्रेम में पुण्य गया, स्वर्ग गया, राज्य गया और फिर वह भी चली गई। तब (अब) दो, फिर दो मेरा क्षात्रधर्म; राजधर्म फिर दो; पुरुष-हृदय को मुक्त कर दो इस विश्व-रंग में! कहाँ है कर्मक्षेत्र! कहाँ है जनस्रोत! कहाँ है जीवन और मरण! कहाँ है मानव का वह अविश्रान्त सुख-दुःख, विपद-संपद का तरंग उच्छ्वास!

दुर्विनीत दस्युओं के अत्याचारों से होनेवाली अपनी मर्मव्यथा का ज्ञापन करती है, पर कुमार के इस अनुरोध से कि वह राजा चन्द्रसेन को ये सब बातें बतला दे, वह असहमत हो जाती है—

> "आमि कि एसे छि
> जालन्धर राज्य ह' ते भिखारिणी रानी
> भिक्षा माँगिवारतरे काश्मीरेर काछे?"*

पर कुमारसेन स्वयं काश्मीर के माथे पर लगे हुए इस कलंक को धो देने का प्रण करता है। पंचम दृश्य में इला के पास से कुमार की बिदाई का चित्रण है।

उधर इन दिनों विक्रमदेव अनेक काश्मीरी दस्युओं को पराजित कर देता है और रण के लिये उन्मत्त हो उठता है। वह

> "सन्धि नहे—युद्ध चाइ आमि! रक्ते-रक्ते,
> मिलनेर स्रोत—अस्त्रे अस्त्रे संगीतेर ध्वनि।"†

सुनने के लिये उत्कर्ण हो उठता है। उसे सूचना मिलती है कि कुमारसेन और सुमित्रा ने बहुत से भागे हुए दस्युओं को बन्दी बना लिया है और उन्हें लेकर वे लोग राजा के पास आ रहे हैं। इस समाचार से राजा को प्रसन्नता नहीं होती। वह महारानी से भेंट अस्वीकृत कर देता है। यही नहीं, दूत भाव से आए हुए शंकर का भी अपमान करता है और काश्मीर पर चढ़ाई कर देता है। 'राजा ओ रानी' की यथार्थ नाटकीय परिणति इसी स्थान पर है। विक्रम के हृदय का प्रेमावेग सुमित्रा की स्थिर और अचल कर्त्तव्य-बुद्धि के द्वारा प्रतिहत होता है, और प्रतिहत होने पर दुर्दम हिंसावृत्ति में बदल जाता है। जो अभी तक अपने हृदय को आघात

---

* मैं क्या आई हूँ जालन्धर राज्य से भिखारिणी रानी की भाँति भिक्षा माँगने के लिये काश्मीर के पास?

† सन्धि नहीं—मैं युद्ध चाहता हूँ! रक्त-रक्त में मिलन का स्रोत—अस्त्र-अस्त्र से संगीत की ध्वनि।

करता था वह अब बाहर सभी को आघात करना चाहता है। न उसके निकट क्षमा का स्थान है और न विचार-बुद्धि का। इसी रूपान्तर में नाटकीय सम्भावना निहित है। इधर सुमित्रा के स्नेहानुरोध के कारण कुमारसेन विक्रम के किए हुए अपमान का बदला लेना नहीं चाहता, और चुपचाप काश्मीर को लौट आता है। वह नहीं चाहता कि सुमित्रा के साथ उसका जो चिरजीवन का और प्राण का सम्पर्क है उसे बाहर से 'हिंसानल' लाकर 'अंगार-मलिन' कर दिया जाय।

चतुर्थ अंक से पंचम अंक की समाप्ति तक घटनाओं का वेग बढ़ गया है। एक के बाद एक घटना शृंखलाकार घटित होती हैं और पाठक के चित्त को शीघ्रता के साथ परिणति की ओर ले जाती हैं। यह परिणति क्या होगी इसका आभास तक कवि हमें पिछले अंकों में नहीं देता। घर पहुँचकर कुमारसेन अपने चाचा से विक्रमदेव के विरुद्ध अभियान करने का अनुरोध करता है, पर उसकी चाची रेवती इससे सहमत नहीं होती क्योंकि वह चाहती है कुमारसेन को वंचित करके अपने स्वामी के लिये राज्यसिंहासन को सुरक्षित कर लेना। इसी लिये वह जालन्धर-राज के साथ वैर करना नहीं चाहती। अतः जालन्धर-राज से युद्ध करने की चर्चा आने पर वह कहती है—

"युद्ध सज्जा ? केन युद्ध सज्जा ? शत्रु कोथा ?
मित्र आसिते छे! समादरे डेके आनो
तारे! करुक से अधिकार काश्मीरेर
सिंहासने! राज्य रक्षा तरे तुमि एत
व्यस्त केन! एकि तव आपनार धन?
आगे तारे निते दाओ, तार पर फिरे
नियो बन्धु भावे! ताखन ए परराज्य
हबे आपनार।"*

* युद्ध-साज ? क्यों युद्ध-साज ? शत्रु कहाँ है ? मित्र आ रहे हैं! आदर के साथ बुला लाओ उन्हें! वे आकर काश्मीर के सिंहासन पर अधिकार करें! राज्य-रक्षा के लिये तुम इतने व्यस्त

दुर्बल चित्त चन्द्रसेन पर रानी की चल जाती है। कुमारसेन लज्जित और तिरस्कृत होकर वहाँ से चला जाता है। चन्द्रसेन और रेवती यह भी चाहते हैं कि कुमार को बन्दी करके जालन्धर-राज के हाथ में सौंप दें। कुमारसेन सुमित्रा को साथ लेकर त्रिचूड़-राज्य को चला जाता है और अमरुराज से इला के दर्शन की याचना करता है। पर जालन्धर-राज के भय के कारण अमरुराज न कुमारसेन को आश्रय देने को ही तैयार होता है और न उसे इला से मिलने की आज्ञा ही देता है। भग्न-मनोरथ कुमारसेन सुमित्रा को साथ लेकर जंगल की शरण लेता है। इन्हीं दिनों आक्रमणकारी विक्रम का काश्मीर में खूब स्वागत किया जाता है। विशेषकर रेवती उससे अनुरोध करती है कि इस विद्रोही कुमारसेन को अवश्य दंड दिया जाय, और यह भी समाचार देती है कि कुमारसेन त्रिचूड़-राज्य में छिपा है। विक्रमदेव शिकार के छल से त्रिचूड़ पहुँचता है। त्रिचूड़-राज उसका स्वागत करते हुए न केवल अपना समस्त राज-पाट उसकी सेवा में निवेदित कर देते हैं, अपनी कन्या इला को भी यह कहते हुए सेवा में उपस्थित करते हैं कि 'यह मेरी कन्या आपके योग्य है, इसे स्वीकार कीजिये।'

पंचमांक के सातवें दृश्य में विक्रम और इला की बातचीत में नाटक का एक अपूर्व इंगित अभिव्यक्त हो उठा है। विक्रम सुमित्रा के विस्तृत प्रेम की याचना इला से करता है, पर इला का मन कुमार के प्रेम-प्रवाह से आप्लावित है। वह सदा उसी का ध्यान करती है—

> "पिता मोरे दिया छेन सँपि तव हाथे,
> आपनारे भिक्षा चाइ आमि, फिराइया
> पाओ मोरे। कत धन, रत्न, राज्य, देश

क्यों हो? यह क्या तुम्हारा अपना धन है? आगे आकर उसे लेने दो, फिर बाद में बन्धुभाव से फिरा लेना! उस समय यह पराये का राज्य अपना होगा।

आछे तव, फेले रेखेजाओ मोरे एइ
भूमि तले; तोमार अभाव किछू नाइ।"*

किन्तु यदि लूट में पाए हुए रत्न की भाँति मुझे ग्रहणकरना ही आपका अभीष्ट हो तो—

तोमरा जेमन करे वनेर हरिणी
निये जाओ, बके तार तीक्ष्ण तीर विंधे
तेमनि हृदय मोर विदीर्ण करिया
जीवन काड़िया आगे, तार पर मोरे
निये जाओ।.....किन्तु महाराज!
कोथा निये जावे? रेखे जाओ तार तरे
जे आमार फेले रेखे गेछे।†

कौन है वह सौभाग्यशाली? विक्रमदेव को उत्तर मिलता है—'सौभाग्य वंचित कुमारसेन।' इला को उसके प्रेम से वंचित करने के लिये विक्रम अनेक उपाय करते हैं, पर इस प्रकार का एकान्त और एकनिष्ठ प्रेम क्या कभी विच्युत हो सकता है? विक्रम को इला के मुख में, नेत्रों में उस प्रेम-ज्योति के दर्शन होते हैं जिसे वह बहुत पहले सुमित्रा के नेत्रों में देखना चाहता था। उसकी रण-लिप्सा शान्त हो जाती है और उसका समस्त अन्तर तृषित हो उठता है—

---

* पिता ने मुझे तुम्हारे हाथ में सौंप दिया, मैं आपसे भिक्षा चाहती हूँ मुझे फिरा दो। कितना धन, रत्न, राज्य, देश तुम्हारे पास है; मुझे फेंक दो, मुझे इसी भूमितल पर रख जाओ; तुम्हारे पास कुछ अभाव नहीं है।

† तुम वन की हरिणी की तरह ले जाओ, (उसी की तरह) कलेजे में तेज़ तीर बेधकर मेरे हृदय को विदीर्ण करके जीवन को पहले निकालकर (फिर) मुझे ले जाओ।........किन्तु महाराज! कहाँ ले जाओगे? आप भी मुझे उसी की तरह रख जाओ जो मुझे फेंक गया है।

"की प्रबल प्रेम ! भालोबास ! भालोबास !
एमनि सवेगे चिर दिन। जे तोमार
हृदयेर राजा, शुधू तारे भालोबास।
प्रेम स्वर्गच्युत आमि, तोमादेर देखे
धन्य हय ! देवि, चाहिने तोमार प्रेम;
आमारे विश्वास करो, आमि बन्धु तव;
चलो मोर साथे, आमि तारे एने देब्रो,
सिंहासने बसाये कुमारे—ताँर हाथे
संपि दिब तोमारे कुमारि ! *

× × ×

जुद्ध नाहि
भलो लागे शान्ति आरो असह्य द्विगुण
गृहहीन पलातक, तुमि सुखी मोर
चेये ! ये संसारे जेथा जाओ, सेथा थाके
रमणीर अनिमेष प्रेम, देवतार ध्रुवदृष्टि सम,
पवित्र किरणे तारि
दीप्ति पाय विपदेर मेघ,
स्वर्णमय संपदेर मतो। †

---

* धन्य है प्रबल प्रेम ! स्नेहमय ! जिसमें चिरदिन समान वेग रहे। जो तुम्हारे हृदय का राजा है, केवल उसी से प्रेम करो। मैं प्रेम-स्वर्ग से च्युत हूँ, तुमको देखकर धन्य हुआ ! देवी, मैं तुम्हारा प्रेम नहीं चाहता; मेरा विश्वास करो, मैं तुम्हारा भाई हूँ; चलो मेरे साथ, मैं उसे ला दूँगा, सिंहासन पर कुमारसेन को बैठा दूँगा—उसके हाथ में तुमको सौंप दूँगा, कुमारी !

† युद्ध नहीं अच्छा लगता। शान्ति और भी द्विगुण असह्य है। गृहहीन पलातक, तुम मुझसे सुखी हो ! इस संसार में जहाँ भी जाते हो वहाँ रमणी का अनिमेष प्रेम, देवता की ध्रुवदृष्टि की तरह, तुम्हारे साथ है। उसकी पवित्र किरणें विपद के मेघ में स्वर्णमय सम्पद की तरह चमकती हैं।

आमि कोन मुखे फिरि
देश-देशान्तरे, स्कन्धे बहि जयध्वजा,
अन्तरे ते अभिशप्त हिंसातप्त प्राण!
कोथा आछे कोन स्निग्ध हृदयेर माझे
प्रस्फुटित शुभ्र-प्रेम शिशिर शीतल।
धये दाओ प्रेममयि, पुण्य अश्रु जले
ए मलिन हस्त मोर, रक्त कलुषित।*

इधर वन में सुमित्रा और कुमारसेन को शंकर के बन्दी हो जाने की सूचना मिलती है और यह भी समाचार मिलता है कि जयसिंह गाँव को जलाकर प्रजा पर अत्याचार कर रहा है। सुमित्रा चाहती है कि राजा के पास उपस्थित होकर इस अत्याचार की शिकायत की जाय, पर कुमार-सेन बन्दी हो जाने के भय से वहाँ जाना नहीं चाहता। उसी के पिता के राज्य में उसपर अभियोग चले, यह उसे सह्य नहीं है। वह इससे मृत्यु को अच्छा समझता है। इसी समय उसे इला की याद आ जाती है, जिससे मिले उसे बहुत दिन बीत चुके हैं। उसके अन्तर की समस्त दुर्बलता कम्पित हो उठती है!

काश्मीर के राजसिंहासन पर विक्रमदेव विराजमान हैं। संवाद मिला है कि कुमार स्वेच्छा से बन्दी हो गया है और वह अपना पितृ-राज्य विक्रम को समर्पित करने को यहाँ लाया जा रहा है। इतने ही में एक पालकी द्वार पर आकर लगती है और उसमें से निकलती है सुमित्रा, हाथ में एक स्वर्णथाल लिये हुए। इस स्वर्णथाल में एक कटा हुआ नरमुंड रक्खा है। वह थाल सुमित्रा विस्मित राजा को भेंट कर देती है——

---

* मैं कौन-सा मुख लेकर देश-देशान्तरों में, कन्धे पर जयध्वजा लिये फिरता हूँ और अन्तर में अभिशप्त-हिंसातप्त प्राण लिये कहाँ है, किस स्निग्ध हृदय में है खिला हुआ शुभ्र प्रेम! शिशिर की तरह शीतल! धो दो प्रेम पथिक, पुण्य अश्रु-जल से मेरा यह मलिन हाथ, रक्त-कलुषित!

"फिरे छे संधाने जार रात्रि दिन धरे
कानने कान्तारे, शैले, राज्य, धर्म, दया,
राजलक्ष्मी सब विसर्जिया, जार लागि
दिग्विदिके हाहाकार करेछ प्रचार;
मूल्य दिये चेये छिल, किनिवारे जारे;
लह, महाराज, धरणीर राजवंशे
श्रेष्ठ सेइ शिर, आतिथ्येर उपहार,
आपनि भेटिला युवराज।"*

और यह कहकर सुमित्रा मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है तथा प्राण त्याग देती है। वृद्ध शंकर भी, जो उसी सभा में उपस्थित था, कुमार का पथानुसरण करता है। इला 'कुमार-कुमार' कहती हुई मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है। वृद्ध चन्द्रसेन 'राक्षसी, पापीयसी' कहकर रेवती से आँखों के सामने से हट जाने को कहता है। विक्रमदेव सुमित्रा के मृत शरीर के पास नतजानु होकर बैठ जाते हैं। उनका समस्त अन्तःकरण मथित करते हुए ये शब्द उनके मुख से निकल पड़ते हैं—

"'देवि, योग्य नहि आमि तोमार प्रेमेर,
ताइ बले' मार्जना ओ करिले ना? रेखे
गेले चिर-अपराधी करे? इह जन्म
नित्य अश्रुजले लइताम भिक्षा मागि
क्षमा तब; ताहारो दिले ना अवकाश

* जिसकी खोज में रात-दिन वनों में, काननों में, पर्वतों पर दौड़ते फिर रहे हो; राज्य, धर्म, दया, राज्यलक्ष्मी सब कुछ जिसके लिये भूल गए, (और) जिसके लिये चारों तरफ़ हाहाकार का प्रचार करते हो; मूल्य देकर जिसे ख़रीदना चाहते हो, लो महाराज, धरती के उसी श्रेष्ठ राजवंश का वही शिर! आतिथ्य का उपहार आपको राजकुमार ने भेंट किया है।

देवतार मतो तुमि निश्चल निष्ठुर,
अमोघ तोमार दण्ड, कठिन विधान।''*

× × ×

जहाँ तक चरित्र-चित्रण और नाटकीय गति का सम्बन्ध है हम 'राजा ओ रानी' को सफल नाटक कह सकते हैं। मानव-हृदय के विभिन्न तत्त्वों का निदर्शन इसमें बड़ी सूक्ष्मता के साथ हुआ है; फिर भी कुछ घटनाएँ ऐसी हैं, जिनके सम्बन्ध में पाठक को पूर्ण सन्तोष नहीं होता, क्योंकि उनके घटित होने के लिये पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण लेखक उपस्थित नहीं कर सका है। उदाहरणार्थ राजा विक्रम, जो कहता था कि मैं अपने में एक अदम्य शक्ति का अनुभव कर रहा हूँ और जिसे मैंने तुम्हारे (रानी के) प्रेम में बदल दिया है, अकारण इतना निर्दय क्यों हो जाता है कि रानी से फिर मिलना भी स्वीकार नहीं करता। रानी की मृत्यु का कारण भी पर्याप्त नहीं है। कुमारसेन भी अपना जीवन सहज ही में नष्ट कर देता है यद्यपि इला का प्रेम ऐसी वस्तु है जिसके कारण कुमार के हृदय में अपने जीवन के प्रति मोह का उत्पन्न हो जाना ही अधिक स्वाभाविक था। सभी पात्र ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो उनका संचालन सर्वथा और सर्वदा किसी वृहत्तर शक्ति के हाथ में हो।

सन् १८८७ में रवीन्द्रनाथ ने एक नया उपन्यास 'राजर्षि' लिखा था। इसे ही १८९० में उन्होंने 'विसर्जन' नाम देकर नाटक में बदल दिया क्योंकि उन्हें विश्वास था कि राजर्षि का कथानक नाटक के लिये अधिक उपयुक्त है। 'विसर्जन' का रसिक-समाज में स्वागत भी अच्छा हुआ और इसका अभिनय भी अनेक बार हुआ। इसकी कथावस्तु उसी जाति

---

* देवि, मैं तुम्हारे प्रेम के लायक़ नहीं हूँ, यही समझकर (मेरे अपराधों का) शोध भी नहीं किया? (मुझे) चिर अपराधी करके रख दिया? इस जन्म में निरत अश्रुजल से तुमसे क्षमा की भिक्षा माँगता; उसका भी तुमने अवकाश नहीं दिया; देवता की तरह तुम निश्चल निष्ठुर हो, तुम्हारा दण्ड अमोघ है, विधान कठिन है।

की है जिस जाति की 'राजा ओ रानी' की कथावस्तु है। विशेषता केवल यह है कि 'राजा ओ रानी' के प्रथम चार अंकों के घटनास्रोत में एक प्रकार की गति-मंथरता परिलक्षित होती है, वह बात इसमें नहीं है। इसमें आरम्भ से ही घटना पर घटना घटित होती है और पाठक अथवा दर्शक को बीच में कहीं रन्ध्र नहीं दिखाई देता। कथानक इसका इस प्रकार है—गोविन्दमाणिक्य त्रिपुरा का राजा है और गुणवती उसकी रानी। रघुपति राजपुरोहित है और त्रिपुरेश्वरी के मंदिर का तेजस्वी पुजारी भी। जयसिंह रघुपति का प्रतिपालित एक राजपूत नवयुवक है जो मंदिर का सेवक है। अपर्णा सरला कोमलहृदया बालिका है। त्रिपुरेश्वरी के मंदिर में पशु-बलिदान की प्रथा बहुत समय से प्रचलित है। किसी ने कभी इस प्रथा का विरोध नहीं किया। भिखारिणी बालिका अपर्णा की ओर से ही यह विरोध पहली बार होता है जब उसके स्नेह-प्रतिपालित छाग को बलि के लिये बलात् पकड़ ले जाया जाता है। बालिका राजा से इसकी फ़रियाद करती है। इस घटना से जयसिंह के हृदय को बड़ा दुःख होता है और पहली बार उसे विश्वजननी के प्रेम में सन्देह होता है। उसी दिन से गोविन्दमाणिक्य पशु-बलि की निषेधाज्ञा जारी कर देता है। इस निषेधाज्ञा में धर्म की हानि समझकर पुरोहित रघुपति क्रोध से पागल हो जाता है। प्रजागण, मंत्री लोग और युवराज नक्षत्रराय तक इस धर्म-विरोधी आचरण से आशंकित हो उठते हैं। इधर रघुपति राजा के विरुद्ध सबको भड़काकर विद्रोही बना देता है। पुरवासी राजाज्ञा के विरुद्ध बलि लेकर देवी के मंदिर में उपस्थित होते हैं और राजा कोई उपाय न देखकर सेना की सहायता से इस बलि को रोकता है। जयसिंह पैर छूकर भी राजा को इससे निवृत्त नहीं कर पाता। इधर रघुपति युवराज नक्षत्रराय को राजहत्या के लिये प्रेरित करता है और कहता है कि देवी राजा के रक्त की बलि चाहती है। जयसिंह का सन्देह और भी बढ़ जाता है! वह सोचता है कि सचमुच जगज्जननी ऐसी निष्ठुर है! क्या वह रक्तपिपासु है! नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता; भक्ति-पिपासु मा रक्त-पिपासु नहीं हो सकती! और फिर राजा का रक्त! अपर्णा उसका संशय और भी बढ़ा देती है। उससे अपर्णा से दूर रहने को कहा जाता है, पर अपर्णा से

दूर रहते ही जयसिंह के हृदय में वेदना की तंत्री झंकार उठती है। फिर भी गुरु बड़ा है, गुरु का वचन सत्य है—

"ताइ देव, गुरु देव !
चले जा अपर्णा ! दया माया स्नेह प्रेम
सब मिछे ! सरे जा अपर्णा ! संसारेर
बाहिरेते किछुइ न थाके यदि, आछे
तवे दयामय मृत्यु ! चले जा अपर्णा !"*

इस प्रकार की मर्मन्तुद वेदना हृदय में वहन करता हुआ भी वह अपर्णा को दूर ही रखना चाहता है। किन्तु अपर्णा कहती है—"क्यों जाऊँ ?"

अभिमान किछू नाइ आर ! जयसिंह,
तोमार वेदना, आमार सकल व्यथा
सब गर्व चेये बेशी ! किछु मोर नाइ—
अभिमान।"†

जयसिंह राजहत्या करने में समर्थ नहीं होता, यह देखकर रघुपति का क्रोध और भी बढ़ जाता है। जयसिंह प्रतिज्ञा करता है कि मैं श्रावण की अन्तिम रात्रि में राजरक्त लाकर देवी के चरणों में भेंट कर दूँगा। पर रघुपति को ससे भी सन्तोष नहीं होता। उसी के चक्र से मन्दिरस्थ प्रतिमा का मुख फिर जाता है जिससे युवराज व प्रजा को बड़ा भय होता है। गोविन्दमाणिक्य फिर भी निश्चल और निर्विकार रहता है एवं जयसिंह और अपर्णा भी। जयसिंह को इधर अपर्णा का सदय अनुराग अपनी ओर आकर्षित करता है और उधर गुरु की कठोर आज्ञा। दोनों आकर्षणों का मध्यवर्ती जयसिंह विचलित हो उठता है। इधर राजहत्या के प्रयत्न के आरोप में राजा-द्वारा रघुपति को आठ वर्ष का देशनिकाला

---

* चली जा अपर्णा ! दया, माया, स्नेह, प्रेम सब झूठ है ! हट जा अपर्णा ! संसार के बाहर यदि कुछ भी न रहे; तब भी है दयामय मृत्यु ! चली जा अपर्णा !

† अभिमान ! जयसिंह, और कुछ अभिमान नहीं है। तुम्हारी व्यथा हमारे समस्त दुःख, समस्त अभिमान से बढ़ कर है।

दिया जाता है। इससे रघुपति भी विचलित हो उठता है, पर उसकी हिंसा-वृत्ति अब भी नहीं दबती। देवी राजरक्त चाहती है, इस बात को वह भूलता नहीं। वह मंदिर के द्वार पर आकर जयसिंह से फिर प्रतिज्ञा कराता है कि वह देवी को राजरक्त चढ़ायेगा। उधर नक्षत्रराय त्रिपुरा-राज्य पर मुग़ल-सेना की सहायता से चढ़ाई कर देता है। गोविन्दमाणिक्य की समझ में नहीं आता कि वह क्या करे। मन्दिर के बाहर आँधी उठती है; रघुपति पूजोपकरण लिए मन्दिर में प्रवेश करना चाहता है। आँधी की उन्मत्तता उसके हृदय की उन्मत्तता को जगा देती है। इसी समय जयसिंह को खोजती हुई अपर्णा वहाँ आ पहुँचती है। पर रघुपति उसे डाँटकर वहाँ से भगा देता है। इसी समय जयसिंह दौड़ता हुआ मन्दिर में आता है। रघुपति उससे पूछता है—"राजरक्त कहाँ है?" जयसिंह स्थिर अकंपित कण्ठ से उत्तर देता है—

"आछ आछे! छाड़ मोरे!
निजे आमि करि निवेदन! राजरक्त
चाइ तोर दयामयी, जगत्पालिनी
माता, नहिले किछूते तोर मिटिबे ना
तृषा!—आमि राजपूत, पूर्व पितामह
छिल राजा; एखनो राजत्व करे मोर
मातामह वंश—राजरक्त आछे देहे!
एइ रक्त दिब! एइ जेन शेष रक्त
हय माता! एइ रक्ते शेष मिटे जेन
अनन्त पिपासा तोर, रक्त तृषातुरा।"*

---

* है, है! मुझे छोड़ो! स्वयं मैं निवेदन करता हूँ—राजरक्त चाहिए तुझे दयामयी, जगत्पालिनी माता! नहीं तो किसी से तुम्हारी प्यास मिटेगी नहीं!—मैं राजपूत हूँ, पूर्व पितामह राजा थे। इस समय भी मेरा मातृ ंश राजत्व करता है—राजरक्त है मे शरीर में! यही रक्त दूँगा! परन्तु यह रक्त अन्तिम रक्त होना चाहिए माता! हे रक्त-पिपासातुरा, मैं चाहता हूँ कि इसी रक्त से तुम्हारी अनन्त प्यास मिट जाय।

यह कहकर वह अपनी छाती में छुरा भोंक लेता है। इस भाँति जयसिंह की मृत्यु देखकर रघुपति को घोर दुःख होता है और वह अपने जीवन को व्यर्थ समझने लगता है। इसी समय अपर्णा आती है और जयसिंह की खून से लथपथ मृतक देह को देखकर—"फिरे दे, फिरे दे, फिरे दे, फिरे दे" चीखने लगती है, पर कौन लौटा दे, वहाँ कौन लौटानेवाला है! पाषाण प्रतिमा!!

जयसिंह को खो देने पर रघुपति को होश आता है। देवी तो जड़-पाषाण-मात्र है। समस्त विश्व देवी के चरणों पर मर रहा है, पर देवी देखती भी नहीं। महाराणी गुणवती पूजन-संभार के साथ मन्दिर में प्रवेश करती है, पर देवी वहाँ कहाँ? रघुपति उससे कहता है—

"तारे? ए संसारे कोथाओ थाकिते देवी
तबे सेइ पिशाचीर देवी बला कभू
सह्य कि करित देवी? महत्त्व कि तबे
फेलित निष्फल रक्त हृदय विदारि
मूढ़ पाषाणेर पदे! देवी बल तारे?
पुण्य रक्त पान करे से महा राक्षसी
फेटे मरेगे छे।"*

उसी समय देवी की मूर्त्ति लिये अपर्णा मन्दिर में आई—

"पाषाण भंगिया गेल, जननी आमार
एबार दियेछे देखा प्रत्यक्ष प्रतिमा!
जननी अमृतमयी।"†

---

*उसे? इस संसार में यदि कहीं देवी रहती होती तो भला वह उस पिशाची को देवी कहना सहन करती? हृदय को विदीर्ण करके मूढ़ पाषाण के पैरों पर रक्त फेंकने में क्या महत्त्व? उसे देवी कहती हो? पुण्य रक्त पान करके वह महाराक्षसी फट कर मर गई।

† हमारी मा पाषाण तोड़कर निकल गई। इस बार प्रत्यक्ष प्रतिमा दिखाई दे रही है! जननी अमृतमयी!

इस प्रकार यह नाटक मानव कार्यों के नैतिक आधार को लक्ष्य करके लिखा गया है। यह कवि की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से एक माना जाता है।

१९वीं सदी के अ तम दशक के अन्तिम भाग में कवि कुछ दिन गाज़ीपुर में रहे थे, उन दिनों वे एकान्त जीवन के बहुत इच्छुक थे। गाज़ीपुर अपने गुलाब के बगीचों के लिए प्रसिद्ध है। इन्हीं गुलाब के बगीचों में बैठकर एकान्त चिन्तन करते हुए कवि ने कई सुन्दर गीतों की रचना की थी। पीछे से इन कविताओं का संग्रह 'मानसी' के नाम से प्रकाशित हुआ।

'मानसी' को कवि की उत्कृष्ठ कविताओं का नमूना समझना चाहिए। इसी पुस्तक से रवीन्द्र की वास्तविक काव्य-क्षमता का सर्वप्रथम उन्मेष हुआ। इसी समय से प्रेम या निसर्ग की वस्तुओं के प्रति कवि के अपने दृष्टिकोण में एक प्रकार की निर्दिष्टता आ गई थी जो आगामी रचनाओं में एकरस चली गई। यह ज्ञात होता है कि इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उन्हें मानससुन्दरी का साक्षात् लाभ हो गया था। 'मानसी' की निसर्ग-सम्बन्धी कवितायें कवि की तीव्र अनुभूति, तीक्ष्ण पर्यवेक्षण, भाव-गांभीर्य और छन्दःशास्त्र पर उनके अपूर्व अधिकार का परिचय देती हैं। 'सिन्धुतरंग', 'मेघदूत', 'अहल्यारप्रति', प्रभृति रचनाओं में जो भाव, ध्वनि-गांभीर्य, गंभीर चिन्तन, मन का उन्मुक्त प्रसार और सबल कल्पना का ऐश्वर्य दिखाई देता है, वह इनसे पूर्ववर्त्ती रचनाओं में नहीं मिलता। 'कुहु ध्वनि', 'वधू', 'अपेक्षा', 'एकाल ओ सेकाल', आदि कवितायें इस बात का प्रमाण हैं कि कवि में शब्द-निर्वाचन की क्षमता तथा ध्वनि और छन्द को अपने हाथ का खिलौना बनाकर उनके द्वारा आत्मप्रकाश करने की शक्ति इस समय तक पूर्णरूप से आ चुकी है। साथ ही इन कविताओं से कवि-हृदय की गंभीर सहानुभूति तथा प्रकृति के साथ उसकी एकान्त आत्मीयता का प्रथमवार परिचय मिलता है जो आगे चलकर और भी अधिक व्यापक, और भी अधिक समृद्ध, हो गया है।

प्रथम कविता 'उपहार' से ही 'मानसी' की मर्मवाणी व्यक्त होने लगी है—

निभृत ए चित्त माझे निमेषे निमेषे बाजे
जगतेर तरंग आघात
ध्वनित हृदये ताइ मुहूर्त्त विराम नाइ
निद्राहीन सारा दिन रात।
ए चिर जीवन ताइ आर किछू काज नाइ
रचि' शुधू असीमेर सीमा
आशा दिये भाषा दिये ताहे भालवासा दिये
गड़े' तुलि मानसी-प्रतिमा।*

विश्व-जीवन के तरंगाघात प्रतिक्षण कवि जीवन को स्पर्श कर रहे हैं; कवि उन्हीं को वाणीरूप प्रदान कर रहा है। यही रवीन्द्र के कवि-जीवन का इतिहास है। यही वाणीरूप कवि की मानसी-प्रतिमा है। अनन्त-काल और अनन्त विश्व-जीवन रवीन्द्र के काव्यचित्र की पृष्ठ-भूमि है। कवि का मानस खण्ड वस्तु को, खण्ड जीवन को, लेकर सृष्टि करता है, किन्तु क्षण में ही वह सृष्टि व्याप्त हो जाती है विश्व जीवन की असीमता में, अनन्त काल में—

जगतेर मर्म ह' ते मोर मर्म स्थले
आनितेछे जीवन-लहरी—†

×　　　×　　　×

---

* इस एकान्त हृदय में जगत् की तरंगों का आघात निमेष-निमेष पर बज रहा है। वही हृदय में ध्वनित हो रहा है। मुहूर्त्तमात्र के लिए भी विराम नहीं है। इसी लिए समस्त दिन और रात्रि निद्राहीन ही रहना होता है। यह चिरजीवन वही है, इसकी और कोई उपयोगिता नहीं है। हम केवल असीम की सीमा का निर्माण करते करते इसे अति-वाहित करते हैं। उसी को आशा, भाषा और प्रेम प्रदान करते हुए हम केवल एक मानसी प्रतिमा का निर्माण करते रहते हैं।

† जगत् के मर्म से मेरे मर्म-स्थल में जीवन-लहरी ले आ रही है।

विश्वेर-निःश्वास लागि जीवन कुहरे
मंगल आनंद-ध्वनि बाजे ।*

'मानसी' में मुख्यतः तीन प्रकार की कवितायें हैं—निसर्ग-सम्बन्धी, प्रेम-सम्बन्धी और देश-सम्बन्धी। यद्यपि कवि-हृदय इन तीनों प्रकार की कविताओं में समान रूप से व्यक्त हुआ है, फिर भी रस, भावगांभीर्य और व्यापकता की दृष्टि से निसर्ग-सम्बन्धी रचनायें शेष दोनों प्रकार की रचनाओं से बढ़कर हैं। 'निसर्ग' का प्रयोग कवि ने यहाँ उसके संकुचित अर्थ में नहीं किया है। मनुष्य, पृथिवी, मानव-जीवन, विश्व-जीवन, सौंदर्य और अपने व्यापक अर्थ में प्रेम—सभी कुछ 'निसर्ग' के अन्तर्गत है। प्रेम-सम्बन्धी कविताओं का 'निष्फल कामना' एक सुन्दर उदाहरण है—

"वृथा ए क्रन्दन !
वृथा ए अनल-भरा दुरन्त वासना !

× × ×

वृथा ए क्रन्दन
हाय रे दुराशा,
ए रहस्य, ए आनन्द तोर तरे नय।
जाहा पास ताइ भाल
हासिटुकु, कथाटुकु
नयनेर दृष्टिटुकु, प्रेमेर, आभास।
समस्त मानव तुइ पेते चास,
ए कि दुस्साहस !
कि आछे वा तोर
कि पारिबि दिते
आछे कि अनन्त प्रेम ?
पारिबि मिटाते जीवनेर अनन्त अभाव ? †

× × ×

*जीवन-कुहर में विश्व का निःश्वास संलग्न होने से मंगल और आनंद की ध्वनि बजती है।

† स तरह के क्रन्दन से कोई लाभ नहीं है। यह अनल से भरी हुई,

क्षुधा मिटावार खाद्य नहे जे मानव,
केह नहे तोमार आमार
अति सयतने, अति संगोपने
सुखे-दु:खे, निशीथे दिवसे,
विपदे-संपदे, जीवने मरणे,
शतऋतु आवर्त्तने
विश्व जगतेर तरे ईश्वरेर परे
शतदल उठितेछे फूटि;
सुतीक्ष्ण वासना छुरि दिये
तुमि ताहा चाओ छिंड़े निते ?
ल ओ तार मधुर सौरभ
देखो तार सौन्दर्य विकाश
मधुतार करो तुमि पान
भालवास प्रेमे ह ओ बली
चेयो ना ताहारे !

अन्तरात्मा को दग्ध करनेवाली वासना व्यर्थ है, यह पूर्ण होने की नहीं। हाय रे दुराशा, तेरे कारण जो इस तरह का दुस्सह दु:ख सहन करना पड़ रहा है, उससे किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं है। इस रहस्य, इस आनन्द की सृष्टि तेरे लिए नहीं हुई है। तू जो कुछ पाता है, वही अच्छा है। रे मानव ! संसार में जितनी हँसी है, मन को प्रसन्न करने-वाली जितनी भी बातें हैं, करुणा और प्रेम से भरी हुई जितनी भी दृष्टि है, जितना भी प्रेम का आभास है, वह सभी क्या तू प्राप्त कर लेना चाहता है ? यह कितना दु:साहस है तेरा ? किस बिरते पर चाहता है तू यह सब ? क्या है तेरे पास जो तू दे सकेगा इन सबके लिए ? क्या अनन्त प्रेम तेरे पास है ? क्या तू जीवन के अनन्त अभाव को मिटाने में समर्थ हो सकेगा ?

आकांक्षार धन नहे आत्मा मानवेर ।
शान्त संध्या स्तब्ध कोलाहल
निबाओ वासना-वह्नि नयनेर नीरे
चल धीरे घरे फिरे जाइ *

नर-नारी के, शरीर-आत्मा के, लीला सम्बन्ध में यही रवीन्द्रनाथ की भाव कल्पना है, यही उनका दृष्टिकोण है । भोगवासना मानव के मन में मोह उत्पन्न करती है, मोह से विभ्रम उत्पन्न होता है, यह विभ्रम मानव की स्वच्छ दृष्टि को मलिन कर देता है और 'वृहत्' के साथ उसके योग को विच्छिन्न कर देता है । इसी लिए वासना-वह्नि को निर्वापित करने को कहा गया है । प्रेम अनन्त है; नर-नारी की, शरीर-आत्मा की, लीला में उसका एक अंश भर प्रकाशित होता है । उसी में एकान्त भाव से निमज्जित हो जाने पर प्रेम की समग्रता की उपलब्धि नहीं हो सकती ।

देश-सम्बन्धी कई सुन्दर गीत भी 'मानसी' की सम्पत्ति हैं । इन स्वदेश-संबंधी कविताओं का उद्भव स्वदेश, समाज और जातीय जीवन की अनुभूति से हुआ है । 'दुरन्त आशा' 'देशेरउन्नति', 'बंगवीर',

---

* हे मानव, कोई भी ऐसा खाद्य नहीं है, जिसके द्वारा क्षुधा की निवृत्ति करना सम्भव हो । जगत् में न कोई तुम्हारा है, न मेरा है । बहुत ही सावधानी के साथ, बहुत ही यत्नपूर्वक, बहुत ही गुप्त रूप से, सुख दुःख में, रात्रि-दिवस में, सम्पत्ति-विपत्ति में, जीवन-मरण में, सैकड़ों ऋतुओं के आवर्तन में, विश्व जगत् के निमित्त ईश्वर से परे शतदल कमल विकसित होता आ रहा है । क्या तुम वासना-रूपी पैनी छुरी से उसे काट देना चाहते हो ? उसका मधुर सौरभ तुम ग्रहण करो, उसके सौन्दर्य-विकास को देखो, उसके मधु का पान करो । प्रेम करो और प्रेम प्राप्त करके बलवान् होओ । स्वयं उसे ग्रहण करने की आकांक्षा मत करो । मानव की आत्मा आकांक्षा का धन नहीं है । शान्त सन्ध्या है । कोलाहल स्तब्ध है । वासना रूपी वह्नि को नयनों के नीर से बुझा दो । चलो धीरे-धीरे घर को लौट चलें ।

'गुरुगोविन्द', 'धर्म-प्रचार', आदि कवितायें इसी श्रेणी में आती हैं। इन कविताओं से व्यक्त होता है कि समाज का खंड खंड और धीर मंथर गतानुगतिक जीवन कवि को पसंद नहीं है। इसी प्रकार समाज और जाति में व्याप्त मिथ्याडंबर, कायरता, मानसिक दैन्य, भिक्षा की प्रवृत्ति, मूढ़ निश्चेष्टता को भी कवि सहन नहीं कर सकता। इन भावनाओं की छाप 'मानसी' की अधिकांश रचनाओं पर देखी जाती है। ऐसी रचनाओं का एक सुन्दर उदाहरण है 'दुरन्त आशा'। इसमें दुःख-वरण की आकांक्षा तया एक प्रकार का स्वस्थ, सबल, उन्मुक्त और असभ्य जीवन यापन करने की इच्छा काव्य-रस से अभिषिक्त होकर प्रस्फुटित हो उठी है। पर रवीन्द्रनाथ के हृदय का सत्य और सार्थक रूप व्यक्त हुआ है 'मानसी' की निसर्ग-संबन्धी रचनाओं में। इन कविताओं में छन्द और ध्वनि की सुन्दरता, शब्द-चयन की निपुणता और शब्दों की तूलिका से छवि अंकित करने की क्षमता आश्चर्य-जनक रूप में परिलक्षित होती है। जिन काव्य-प्रेमियों ने 'मानसी' की 'एकाल ओ सेकाल', 'मेघदूत', 'अहल्यार प्रति', आदि कवितायें पढ़ी हैं वे जानते हैं कि इन रचनाओं-द्वारा कवि ने प्राचीन रत्नों की परख के लिए हमें नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। इन्हें पढ़ जाने के बाद कालि-दास, जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास और रामायण तथा महाभारत हमें एक नितान्त नये रूप में दिखाई देने लगते हैं। उदाहरण के लिए नीचे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहे हैं। इनमें जो शान्त सौन्दर्य और माधुर्य, जो करुण-कोमल सुकुमार श्री, निसर्ग का जो अनिर्वचनीय रूप विश्व-जीवन की—अनन्त काल की—पृष्ठभूमि से फूट निकला है उसे रवीन्द्रनाथ के कवि मानस की अतुलनीय सम्पत्ति कह सकते हैं। वही रवीन्द्रनाथ की कविताओं का मौलिक ऐश्वर्य है—

वर्षा एलायेछे तार मेघमय बेणी।*

× × ×

---

* वर्षा ने अपनी मेघमय वेणी को खोलकर लटका दिया है।

एमन दिने तारे बला जाय
एमन घनघोर बरसाय ।*

× × ×

प्रखर मध्याह्न ताप प्रान्तर व्यापिया काँपे
वाष्पशिखा अनल श्वसना ।†

× × ×

सकाल बेला काटिया गेल विकाल नाहि जाय ।‡

× × ×

आमि कुन्तल दिब खुले
अंचल माझे ढाकिब तोमाय,
निशीथ-निबिड़ चूड़े ।§

× × ×

आकुल सागर माझे चलेछे भासिया
जीवन-तरणी । ¶

पर निसर्ग के शान्त और मधुर रूप से ही कवि की कल्पना विहार नहीं करती, उसका उद्धत और प्रचंड रूप भी उसे समान भाव से आकृष्ट करता

---

* ऐसी घनघोर वर्षा में, ऐसे दिन में उसे पुकारा जाता है ।

† मध्याह्न काल के उत्ताप में जब कि सूर्य्य प्रचण्ड रूप से आकाश के मध्य में विराजमान होकर अनल-कण की वर्षा कर रहे हैं, मैदान भर में व्याप्त होकर वाष्प की शिखा, जिसके श्वास से आग बरसती है, काँप रही है ।

‡ पूर्वाह्न का समय तो व्यतीत हो गया, किन्तु अपराह्न नहीं व्यतीत होता ।

§ मैं बाल खोल दूँगा । अंचल में तुम्हें ढक लूँगा—निशीथ काल की निविड़ चूड़ा में ।

¶ अगाध सागर में तैरती हुई जीवन-रूपी नौका चली जा रही है।

है। 'सिन्धुतरंग' इसी प्रकार की रचना है। कहते हैं कि इस कविता की प्रेरणा रवीन्द्र को एक समकालीन दुर्घटना से मिली थी। एक जहाज़ जिसमें ८०० स्त्री-पुरुष पुरी की यात्रा को जा रहे थे, समुद्र में डूब गया। यह घटना सन् १८८७ के वसंतकाल की है। इस रचना में भावप्रकाशन की शक्ति, वर्णन की विचित्रता, ध्वनि, छन्द और भावों का समुचित योग रवीन्द्र के काव्य-कौशल के सुन्दर परिचायक हैं। पंचमहाभूतों के क्षोभ के सफल चित्रण का यह एक उत्तम उदाहरण है। इस रचना में केवल दृश्य का वर्णन भर नहीं है। रचना के अन्त में कवि ने दिखाया है कि निसर्ग में जहाँ एक ओर दया है, वहाँ दूसरी ओर भय भी। जहाँ आशा है, वहाँ निराशा भी। उसमें 'सृष्टि' और 'संहार' समान रूप से मौजूद हैं। इसी प्रकार 'धर्म प्रचार' शीर्षक रचना की पृष्ठभूमि में भी एक घटना बताई जाती है। सन् १८८८ में कुछ धर्मरक्षक हिन्दुओं ने मिलकर एक ईसाई धर्म-प्रचारक को पीटा था। इस रचना में रवीन्द्र ने उन कायरों की ख़बर बुरी तरह ली है, जो एक निहत्थे और सहायहीन ईसाई को पीटते समय तो वीर बन गये पर पुलिस को देखते ही वहाँ से बुरी तरह भाग खड़े हुए।

योरप को

रवीन्द्रनाथ अब ३० वर्ष के युवक थे। उनके हृदय की एक चिर-संचित इच्छा यह थी कि भारत के पुराने साधुओं की भाँति मधुकरी-वृत्ति धारण करके एक बार पदचारी रूप से भारत के विभिन्न स्थानों का पर्यटन किया जाय और विभिन्न स्थानों के स्वदेश निवासियों के आचार-व्यवहारों, खान-पान तथा आशा-आशंकाओं का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया जाय। पर महर्षि कुछ और ही सोच रहे थे। वे चाहते थे कि पारिवारिक भू-संपत्ति के प्रबंध का कार्य रवीन्द्रनाथ के हाथों में सौंप दिया जाय और वे शिलाइदा में रहकर उसका प्रबंध करें। इन दोनों परस्पर-विरोधी निश्चयों में सामंजस्य लाने के विचार से ही रवीन्द्रनाथ ने अन्त में अपना उक्त निश्चय तो बदल दिया, पर महर्षि से प्रार्थना की कि वे उन्हें ज़मींदारी

का भार उठाने से पहले इतना अवकाश अवश्य दे दें जिससे वे एक बार योरप-भ्रमण कर आयें। महर्षि इससे सहमत हो गये।

अपनी इस योरप यात्रा का वर्णन रवीन्द्रनाथ ने कई सुन्दर लेखों में किया है। ये लेख 'योरप यात्रीर डायरी' के शीर्षक से 'साधना' में क्रमशः छपते रहे थे। इन लेखों से ज्ञात होता है कि इस यात्रा में कवि ने इटली, फ्रांस और इंगलैंड का न केवल ऊपरी रूप देखा, उनकी आभ्यन्तरिक अवस्थाओं और संस्कृतियों का भी सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन किया। इनकी भाषा सरस, प्रांजल तथा प्रवाहपूर्ण है और रवीन्द्रनाथ के भावों की गहराई का पूरा परिचय देती है।

ज़मींदारी में

पर इन लेखों से भी अधिक महत्वपूर्ण कवि के वे पत्र हैं, जो उन्होंने अपनी ज़मींदारी के गाँव में रहते समय अपने परिचितों को लिखे थे। नमें ग्राम्य-जीवन का सत्य और कारुणिक चित्र विद्यमान है। कवि के हृदय में ग्राम-वासियों के प्रति अपार स्नेह और अखण्ड सहानुभूति की धारा वह रही है। वे दुःखियों और ग़रीबों की भावनाओं को ठीक-ठीक समझने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। वे सब कुछ भूलकर रात-दिन यही सोचते हैं कि इन मूक-दुःखियों की वेदना कैसे दूर की जाय? किस प्रकार इन्हें साधन जुटाए जायँ? कैसे इन्हें वाणी दी जाय? ग्रामीणों की छोटी सी छोटी बात भी उन्हें अत्यन्त आकर्षक और अत्यन्त स्वाभाविक लगती है। वे चाहते हैं कि प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकता की पूर्ति स्वयं कर सके और उसमें स्वावलंब पूर्ण मात्रा में आ जाय। साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि समस्त गाँव पारस्परिक सहायता और सहयोग की भावना के दृढ़ सूत्र में आबद्ध होकर एक बन जायँ। यही इन पत्रों का विषय है।

पुरानी पंचायत-प्रथा के अनुसार ग्रामों के शासन का ढंग कवि को बहुत पसंद था तथा देश की पुरानी कारीगरी के पुनरुद्धार के लिए वे प्रयत्नशील थे। रवीन्द्रनाथ ने इन भावनाओं को व्यावहारिक रूप देने का भी प्रयत्न किया था। ग्रामीण कारीगरों की वस्तुओं के प्रदर्शन और विक्रय के

लिए उन्होंने कई मेले लगवाये थे। उन दिनों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—'गाँव के निवासी मुझे बहुत प्रिय हैं। वे भोले-भाले किसान, ईश्वर के नितान्त निस्सहाय शिशु! मैं नहीं जानता कि सम्पत्ति का समान वितरणवाला साम्यवादी सिद्धान्त यहाँ व्यवहार में लाया जा सकता है या नहीं; पर यदि ऐसा सम्भव नहीं हो सकता तो भाग्य का विधान सचमुच अत्यन्त कठोर है और उसके हाथों में मानव अत्यन्त दुःखी और असहाय है? यदि भाग्य का विधान अटल है और जीवन में दुरवस्था अनिवार्य है तो फिर इसके लिए कोई चारा नहीं, फिर भी कोई न कोई मार्ग तो रहना ही चाहिए—छोटा ही सही, जिससे मनुष्य दुःखमय परिस्थिति से छुटकारा पाने की आशा कर सके।'

'छिन्नपत्र' नामक संग्रह में, जो आगे चलकर १९१२ में प्रकाशित हुआ था, उनके तत्कालीन मनोभावों का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है। उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"मैं जितने ही विचित्र ढंग के कार्य अपने हाथों में लेता हूँ, उतनी ही उनमें मेरी श्रद्धा बढ़ रही है। मैं इस बात को केवल पुस्तक का उपदेश ही समझता था कि कर्म बड़ा ही उत्कृष्ट पदार्थ है, परन्तु अब जीवन में भी इस बात का अनुभव कर रहा हूँ कि कार्य ही में मनुष्य के जीवन की सफलता है। मैं कार्य से ही किसी मनुष्य या वस्तु को पहचानता हूँ। सत्य के साथ मनुष्य का सीधा परिचय बृहत् कर्मक्षेत्र में होता है।....."

"मैं संध्या के समय बहुत देर तक घूमा करता हूँ। पूर्व की ओर जब मुँह फेरता हूँ तब एक प्रकार का दृश्य दिखाई पड़ता है और पश्चिम की ओर मुँह फेरने से दूसरे प्रकार का। मेरे मस्तक पर मानो आकाश से सान्त्वना की वर्षा हुआ करती है। मेरे दोनों मुग्ध नेत्रों से मानो एक स्वर्णमय मंगल की धारा हृदय में प्रवेश करती रहती है। इस वायु तथा प्रकाश से मेरे हृदय से मानो नये पत्ते निकला करते हैं। मैं नूतन प्राण और नूतन बल से परिपूर्ण हो उठता हूँ। संसार के सारे काम-काज करना और लोगों के साथ व्यवहार करना मेरे लिए बहुत आसान हो जाता है।"

× × ×

"मैं चाहता हूँ कि जीवन के प्रत्येक सूर्योदय को सजीवभाव से अभिवादन करूँ और प्रत्येक सूर्यास्त को परिचित मित्र की भाँति बिदाई दूँ।... मुझे मालूम पड़ता है कि ऐसे सुन्दर रात-दिन मेरे जीवन से प्रतिदिन चले जा रहे हैं—इनका समस्त अंश मैं नहीं ग्रहण कर सकता।"

× × ×

"किसी नदी के जल में या किसी गाँव की खुली जगह में जितना ही अकेले रहा जाय, उतना ही स्पष्ट मालूम पड़ता है कि अपने जीवन के प्रतिदिन के कार्यों को स्वाभाविक रीति से करते रहने से अधिक सुन्दर और श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मैदान के तृण से लेकर आकाश के तारे तक यही किया करते हैं।....मनुष्य को समाज में यथोचित शोभा तथा शान्ति वास्तव में बड़े-बड़े उद्योगों और लम्बी-चौड़ी कथाओं के द्वारा नहीं, किन्तु प्रतिदिन के छोट-छोटे कर्त्तव्यों के पालन करने से ही मिलती है।"

× × ×

"सुबह से सुहावनी हवा चल रही है....नदी का जल सूखा जा रहा है......इससे बोट को नदी के बीच में बाँध रखने में तनिक भी कठिनता नहीं पड़ती। हमारे दाहिनी ओर के कछार में किसान लोग खेती करते हैं, और बीच-बीच में पशुओं को पानी पिला ले जाते हैं....हमारी दाहिनी ओर शिलादा में नारयल और आम के बग़ीचे हैं। घाट पर स्त्रियाँ कपड़े धोती हैं, स्नान करती हैं, जल भरती हैं और उच्च-स्वर से बँगला भाषा में हँसी-ठट्ठा और बातचीत करती हैं। जो छोटी अवस्था की लड़कियाँ हैं, उनकी जल-क्रीड़ा ही नहीं समाप्त होती। एक बार स्नान करके वे घाट पर जाती हैं और तुरन्त ही फिर धम से जल में कूद पड़ती हैं।"

× × ×

"दोपहर का समय बड़ा ही सुहावना मालूम पड़ता है.....धान के छोटे-छोटे पौधे वायु के झकोरों से इधर-उधर काँपते हैं। बतख़ जल में कूद कर डुबकी मारते और चोंच से पीठ के बाल साफ़ करते हैं। बरगद

के पेड़ के नीचे तरह-तरह के आदमी इकट्ठे होकर नौका की प्रतीक्षा करते रहते हैं—नौका आते ही शीघ्रतापूर्वक सवार हो जाते हैं—नौका के दोनों ओर बहुत देर तक देखते रहने से बड़ा आनन्द आता है। नदी के उस पार बाज़ार है, इसी से घाट पर इतनी भीड़ लगती है। कोई घास का बोझा, कोई एक टोकरी और कोई अपने कंधे पर एक बोरा लेकर बाज़ार जा रहा है और कोई वहाँ से लौटा आ रहा है।"...

× × ×

"इन सब अनुरक्त प्रजाओं के मुँह पर बड़ी ही कोमल मधुरता है। वास्तव में ये लोग मानो सारे देश में फैले हुए मेरे एक बृहत् परिवार के आदमी हैं। इन सब असहाय, उपायहीन तथा अत्यन्त दुखी एवं सरल किसानों और कुलियों को अपना आदमी समझने में सुख मालूम पड़ता है....। इनके लिए मेरे हृदय में कितनी श्रद्धा है, मैं इन्हें अपने से कितना बढ़कर समझता हूँ, यह बात न लोगों को नहीं मालूम है।.....सरलता ही मनुष्य के स्वास्थ्य का एक-मात्र उपाय है,। मानो वह गंगा है, जिसमें स्नान करने से संसार के बहुत-से कष्ट दूर हो जाते हैं।"

× × ×

"इस समय मैं बोट पर हूँ। यह मानो मेरा घर है। यहाँ मैं ही अकेला मालिक हूँ; मुझ पर और मेरे समय पर और किसी का कोई अधिकार नहीं है।......जो चाहता हूँ, वही सोचता हूँ; जैसी चाहता हूँ, वैसी ही कल्पना करता हूँ; जितना चाहता हूँ, उतना पढ़ता हूँ; जितना चाहता हूँ, उतना लिखता हूँ और जितना चाहता हूँ, नदी की ओर देखते हुए टेबुल के ऊपर पैर रखकर इस आकाशपूर्ण प्रकाशमय तथा आलस्यमय दिन में निमग्न रहता हूँ।.....वास्तव में पद्मा को मैं बहुत चाहता हूँ। जैसे इन्द्र के ऐरावत हैं वैसे ही यह मेरा यथार्थ वाहन है।......यह बहुत पालतू नहीं है, बल्कि कुछ बनैला-सा है। परन्तु उसकी पीठ और कंधे पर हाथ फेरकर मैं इसे प्यार करना चाहता हूँ।"

× × ×

"थोड़ी-सी रात रह जाने पर जल के शब्द से मेरी नींद टूट गई। नदी में एकाएक एक ज़ोर की कल्लोल और वल चञ्चलता मची है।.... छल-छल, कल-कल करके नदी जाग उठी है और बड़ी धूमधाम मच गई है। बोट के तख्ते पर पैर रखने से अच्छी तरह मालूम पड़ता है कि उसके नीचे से न जाने कैसी विचित्र शक्ति निकल रही है। ज़रा-सा काँपता है, ज़रा-सा पचकता है, ज़रा-सा फूल आता है, और कभी हिलोर मारने लगता है, मानो मैं सारी नदी की नाड़ियों के स्पन्दन का अनुभव कर रहा हूँ।"

× × ×

"किसी निर्जन स्थान पर जब ोट जाकर लग जाता है तब बड़ा आनंद आता है। वह दिन और चारों दिशाएँ ऐसी सुहावनी मालूम पड़ती हैं, कि इनका वर्णन करना असम्भव है। मानो बहुत दिनों के बाद इतनी बड़ी पृथ्वी का दर्शन हुआ। उसने मेरा स्वागत किया और मैंने उसका स्वागत किया। इसके बाद हम दोनों पास ही पास बैठे रहे, परन्तु किसी के मुंह से कोई भी शब्द न निकला।......."

इस जीवन ने, जिसमें रवीन्द्रनाथ का प्रकृति के साथ पूर्ण संपर्क रहा था, उनके हृदय में अनेक प्रकार के 'इम्प्रेशनों' का भाण्डार भर दिया। इस शान्तिपूर्ण वातावरण में उनकी समझ में जीवन का प्रयोजन आ गया। उन्होंने देखा कि संसार की प्रत्येक वस्तु—पृथ्वी की घास से लेकर आकाश के तारों तक—अपना कर्त्तव्यविशेष पालन कर रही है। त्येक का प्रयत्न अपने कार्य को पूरा करने के लिए है। प्रत्येक इकाई अपनी निर्धारित सीमा के भीतर उस ध्येय तक पहुँचने का भरसक प्रयत्न करती है। इस तथ्य ने रवीन्द्र के हृदय को एक अद्भुत शान्ति दी जिसकी प्रतिध्वनि हमें 'छिन्न पत्र' के कुछ अन्य पत्रों में देखने को मिलती है। दैनिक जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से भी उनके इस विचार को पुष्टि मिली। एक दिन उनका नौकर कुछ देर से आया। आकर उसने इन्हें नियमानुसार अभिवादन किया और कुछ देर ठहरकर धीरे-धीरे सूचना दी कि मेरी आठ साल की लड़की का देहान्त हो गया है। सके बाद

उसने झाड़ू उठाई और प्रतिदिन की भाँति सफ़ाई करने में लग गया। रवीन्द्रनाथ ने स्पष्ट देखा कि दैनिक कार्यों को पूरा करते हुए अपनी वैयक्तिक विपत्ति और प्रसन्नता के आवेगों से मनुष्य किस प्रकार बच सकता है। उनके विश्वासानुसार दैनिक कार्यों का अभेद्य कवच ही नाना प्रकार के सन्तापों के विषैले प्रहारों से मानव की रक्षा करता है और जीवन के कठिनतम अवसरों पर यदि उसे किसी वस्तु से सान्त्वना मिलती है तो अपने प्रतिदिन के कार्यों से ही।

इन पत्रों के सम्बन्ध में स्वयं रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि ये पत्र उनके साहित्यिक-जीवन के एक महत्त्वपूर्ण अंश की पूर्ति करते हैं। "उन दिनों मैं युवक था, ख्याति भी अधिक नहीं हुई थी। यौवन की सम्पन्नता थी और अवकाश की पर्याप्तता; इस अवस्था में व्यक्तिगत पत्र लिखना ही मुख्य कार्य था। अन्य प्रकार की साहित्यिक कृतियाँ लेखक की सम्पत्ति होती हैं और उन्हें वह लाभ उठाने के लिए प्रकाशित करना चाहता है, पर पत्र, जो विभिन्न व्यक्तियों के पास सदैव के लिए लिखकर भेज दिये जाते हैं, बहुमूल्य भेंट होते हैं।" रवीन्द्रनाथ की भतीजी इन्दिरा ने, जिनको कवि ने उन दिनों बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पत्र लिखे थे, कवि को उनकी पचासवीं वर्षगाँठ के अवसर पर पत्रों का एक सुन्दर संग्रह भेंट किया था। इनमें से एक पत्र में कवि ने लिखा है—"यदि किशोरावस्था किसी प्रकार फिर प्राप्त की जा सके तो अधिक पूर्ण और अधिक संतुष्टिमय जीवन-निर्वाह करने का यत्न करूँ, अपने अधरों में कवि का संगीत लिए—ज्वार की लहरों पर बैठकर—संसार में जाऊँ और अपने गीत सुनाकर मानवों का हृदय जीतूँ और फिर देखूँ कि इस भाण्डार में मेरे लिए क्या है। मैं संसार को अपना परिचय दूँ और स्वयं सीखूँ संसार को अपना परिचय देना, हवा के ताज़े झोकों की भाँति जवानी और जीवन के बीच से झट निकल जाना और फिर उर्वर वृद्धावस्था लेकर घर लौट आना।"

यह मानो कवि के आत्मगत विश्वास की घोषणा थी। यही अपने उत्तर जीवन में कवि ने किया भी। उनके यौवन के वसन्त ने परिणत-

अवस्था प्राप्त की और परिणत वयस से संसार को मिली अमूल्य और अपरिमित धनराशि !

जिन दिनों रवीन्द्रनाथ अपनी ज़मींदारी के ग्राम में रहा करते थे उन दिनों की एक घटना बहुत रोचक है। इससे रवीन्द्रनाथ के तत्कालीन जीवन का कुछ आभास मिलता है। शिलाइदा ग्राम में इनका घर पद्मा नदी के तट पर था और ये अपने दो मंज़िले पर रहा करते थे। वहीं पास में रहा करती थी एक वैष्णवी, जिसे लोग पागल समझते थे। यह वैष्णवी रवीन्द्रनाथ के दो मंज़िले के सामने आकर रोज़ खड़ी हो जाती और कुछ समय तक एकटक उस ऊँचे भवन की ओर देखती खड़ी रहती; फिर किसी से बिना कुछ कहे-सुने अपनी राह चली जाती।

एक दिन नित्य नियमानुसार वैष्णवी आकर महल के सामने चुप-चाप खड़ी हो गई। उस समय रवीन्द्रनाथ दोमंज़िले की एक खिड़की के सामने खड़े थे। उनको देखकर वैष्णवी बोली—"ठाकुर, तुम अपने दोमंज़िले से नीचे कब उतरोगे ?" यह सुनना था कि रवीन्द्रनाथ तुरन्त नीचे उतर आये और प्रणाम करके नम्रतापूर्वक वैष्णवी के चरणों के पास बै गये। वैष्णवी कुछ देर तक खड़ी उनकी ओर देखती रही फिर चुपचाप एक ओर चली गई। उस दिन से रवीन्द्र-नाथ ने ऐसा नियम कर दिया था कि जब कभी वैष्णवी उन्हें देखने को आती, चाहे दिन होता, चाहे रात, उसे चुपचाप दोमंज़िले पर चला जाने दिया जाता।

इस वैष्णवी की भेंट का एक प्रत्यक्ष प्रभाव रवीन्द्र पर यह पड़ा कि इससे पहले वे केवल साहित्य के मंदिर के पुजारी थे और उनके साहित्य में या तो प्रकृति की प्रशंसा रहती थी या आत्मा के भीतर परमात्मा के स्पर्श से प्राप्त पुलक का शब्दांकन; पर उस घटना के बाद वे न केवल स्वयं को साधारण स्तर के मानवों के समान समझने ही लगे प्रत्युत उनके दुःखों-सुखों, आशाओं और आदर्शों को भी अपने गीतों में भरने लगे। मानो उस वैष्णवी से मिलने से पहले वे पहाड़ की एक ऊँची चोटी पर खड़े होकर संसार के सौन्दर्य को देखा

करते थे, पर उसके बाद से वे समतल पर उतर आये और सब प्राणियों को एक ही अनन्त जीवन की लहर में बहता हुआ अनुभव करने लगे। धर्म के, जाति के ज्ञान के सब भेद-भाव मिट गए।

रवीन्द्रनाथ की प्रख्यात नाटिका 'चित्रांगदा' सन् १८९१ में प्रकाशित हुई। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। महाभारत में संक्षेप से चित्रवाहन की कथा स प्रकार है कि राजा चित्रवाहन के पूर्वजों में से एक के संतान नहीं थी। उसकी प्राप्ति के लिए राजा ने तपस्या की। शिव जी प्रसन्न हुए और उनकी कृपा से राजा के पुत्र उत्पन्न हुआ। सके बाद उसके वंशजों में प्रत्येक के एक-एक पुत्र उत्पन्न होता रहा। राजा चित्रवाहन तक चलकर फिर यह क्रम टूट गया। चित्रवाहन के कन्या उत्पन्न हुई और उसका नाम रक्खा गया चित्रांगदा। चित्रवाहन ने अपनी कन्या चित्रांगदा का विवाह अर्जुन के साथ इस शर्त पर कर दिया कि चित्रांगदा के गर्भ से उत्पन्न होनेवाला पुत्र चित्रवाहन के कुल का उत्तराधिकारी माना जायगा।

रवीन्द्रनाथ की उर्वरा कल्पनाशक्ति ने इस कथानक को अत्यन्त सुन्दर काव्यमय रूप प्रदान कर दिया है। इस नाटिका-द्वारा रवीन्द्रनाथ ने मानो उस श्न का, जो शताब्दियों पूर्व प्लेटो ने उठाया था, कि नारी के प्रति नर के प्रेम का वास्तविक मूल्य क्या है, उत्तर देने का प्रयत्न किया है।

प्रेमातुरा चित्रांगदा मदन और वसन्त से शिकायत करती है कि मैं अर्जुन पर मोहित हो गई हूँ पर अर्जुन को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ नहीं हूँ। एक दिन मैं अश्व पर सवार आखेट खेलती-खेलती पूर्णा के तट के घने जंगल में जा पहुँ ी। वहाँ वृक्षों की घनी छाया में मैंने राह पर एक मनुष्य पड़ा देखा। उसके कपड़े फटे थे और वह मानो थका-वट से ूर था। मैंने घृणा के साथ उसे राह पर से एक ओर हट जाने की आज्ञा दी; पर उसने न तो आँखें खोलीं और न अपने स्थान से हटा ही। मुझे बड़ा क्रोध आया और मैंने अपने धनुष की नोक को उसके शरीर में ुभाते हुए फिर जोर से उसे हटने की आज्ञा दी। उसका छर-हरा शरीर अचानक बिजली की तेजी से उठकर खड़ा हो गया, जैसे घृत

डालने पर अंगार-राशि में से लपलपाती हुई अग्नि-शिखा निकलती है। क्षणभर उसने क्रोध-सूचक दृष्टि से मेरी ओर देखा, पर शीघ्र ही उसका क्रोध उतर गया और उसके चेहरे पर मुस्कान खेलने लगी। शायद मेरी पुरुषानुरूपिणी आकृति से उसे हँसी आ गई थी। मुझे यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि मैंने धनुष पर चढ़ाकर वाण चलाना तो सीखा, पर अपांगों के कोणों से आग के शोले फेंकना नहीं सीखा और न भगवान् मदन के वाण-प्रहार से अपनी रक्षा कर सकना ही। यदि मैं अर्जुन को अपने रूप की चका-चौंध में डाल सकती! मैं उन स्त्रियों में भी नहीं हूँ जो अपने हृदय में आग को छिपाये सतत अश्रुसिंचन-द्वारा चित्त को किसी प्रकार शीतल बनाये रखने का उपक्रम करती रहती है। मैं चाहती हूँ कि पुरु-षोचित शिक्षा के कारण मेरे स्त्री-सुलभ सौन्दर्य में जो त्रुटियाँ आ गई हैं उन्हें आप कृपा करके दूर कर दें और मुझे ऐसा निर्दोष रूप प्रदान कर दें—भले ही वह एक दिन के लिए ही हो—कि अर्जुन मुझे देखते ही प्रेम-विह्वल हो जाय! फिर भविष्य में चाहे जो हो। मेरे रूप का रहस्य जान लेने पर भले ही अर्जुन मुझे ठुकरा दे।

देवताओं ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसके शरीर में एक वर्ष के लिए सारी वसंतश्री को एकत्र भर दिया। संसार में इतना रूप किसी शरीरधारी को कभी प्राप्त न हुआ था। अर्जुन के हृदय की शान्ति जाती रही। चित्रांगदा बार-बार अर्जुन को चेतावनी देती है कि वह इस सौंदर्य की मृग-मरीचिका के मोह में पड़कर अपने पथ से भ्रष्ट न हो, पर अर्जुन एक नहीं सुनता। अन्त में चित्रांगदा देवों से कहती है कि अर्जुन के हृदय का सकरुण रुदन अनिवार्य है। मैं उसे भिखारी की भाँति अवमानित करने में असमर्थ हूँ। मेरी लज्जा मेरे वस्त्रों के साथ मेरे पैरों पर गिर गई है।

यहाँ पर कवि ने पुरानी कहानी को छोड़ दिया है और चित्रांगदा की मानसिक पीड़ा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। चित्रांगदा के हृदय की विचित्र अवस्था है। उसका अपना शरीर ही मानो उसके लिए सपत्नी बन गया है; वह देखती है कि उसका वही उधार लिया हुआ रूप—उसकी सपत्नी—अर्जुन के पास पहुँचता है और मोहाच्छन्न अर्जुन

उसका आलिंगन करता है। यह देखकर उसे प्रसन्नता होती है और असह्य वेदना भी। वह देवों से प्रार्थना करती है, इस रूप को वापस ले लेने के लिए! वह इसके लिए भी तैयार है कि अर्जुन सौंदर्य के अभाव के कारण उसका प्रत्याख्यान कर दे। वसन्त के फूल समाप्त हो जाते हैं और प्रकृति बीजगर्भा हो जाती है। इधर अर्जुन का विचार भी परिपक्व हो जाता है। वह चित्रांगदा से कहता है कि मैं तुमसे सौंदर्य नहीं चाहता, मैं वह वस्तु चाहता हूँ जो उसी प्रकार पकड़ी नहीं जा सकती, जिस प्रकार मेघों का रंग, फूलों की गंध और लहरों की क्रीड़ा; वह वस्तु जो इस सौंदर्य की अपेक्षा चिरस्थायी है।

देव चित्रांगदा को स्मरण दिलाते हैं कि उसके सौन्द ं की केवल एक रात्रि और शेष है और इसके बाद वह जहाँ से आया वहीं लौट जायगा। चित्रांगदा अर्जुन से पूछती है कि तुम किस लिए चिन्तित हो, और किसका स्वप्न देख रहे हो? अर्जुन उत्तर देता है कि मैं उस चित्रांगदा को स्मरण कर रहा हूँ जिसके साहस की प्रशंसा सब लोग किया करते थे। चित्रांगदा उत्तर देती है कि वह चित्रांगदा सुन्दरी नहीं है। यद्यपि वह कठिन से कठिन ढाल को भाले के प्रहार से बेध सकती है पर वह किसी नायक के हृदय को बेध सकने की शक्ति नहीं रखती। जो लोग कहते हैं कि वह शक्ति में और बुद्धि में पुरुषों का मुक़ाबिला कर सकती है तथा रूप और कोमलता में नारियों का— वे उसे मानो अपमानित करते हैं। नारी को केवल नारी होना चाहिए, और कुछ नहीं। यदि चित्रांगदा में सौन्दर्य न होता तो तुम उसकी ओर शायद आँख उठाकर देखना भी पसंद न करते। अब शक्ति और साहस की चिन्ता छोड़ दो और केवल सौन्दर्य का उपभोग करो। अर्जुन पूछता है कि आखिर उस चित्रांगदा में क्या त्रुटि थी जो वह चली गई और मेरे उपभोग के लिए केवल यह रूप छोड़ गई? चित्रांगदा पूछती है कि यदि किसी जादू के ज़ोर से यह सौन्दर्य लुप्त हो जाय और आपको वही चित्रांगदा मिल जाय, जिसके शरीर में केवल पुरुषोचित दृढ़ता है, तो क्या आप उससे प्रेम कर सकें?

अर्जुन उत्तर देता है कि मैं बाह्यरूप को नहीं चाहता हूँ। मैं तो

अपनी प्रेमिका का आभ्यन्तरिक सौन्दर्य देखना चाहता हूँ जिसका आभास मैंने उसकी उदास और चिन्तित-दृष्टि में प्रायः पाया है। उसी समय चित्रांगदा पुरुष-वेश में उसके सामने उपस्थित हो जाती है जिसके अंगों की बनावट पुरुषों जैसी है, पर जिसका हृदय नारी का है। साथ ही चित्रांगदा अर्जुन से यह भी कहती है कि मेरा असली रूप आपको देखने को तब मिलेगा जब आप अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य में मुझे भाग देंगे, और तब, जब मैं अपने जीवन की सर्वाधिक मूल्यवान् सम्पत्ति, पुत्र, आपकी सेवा में अर्पित करूँगी।

'चित्रांगदा', 'विसर्जन' और 'राजा ओ रानी' की रचना अतुकांत छंद में हुई है। यह छन्द बँगला में पहले-पहल प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त (१८२४-७३) ने चलाया था।

कहानियाँ

सन् १८९१ में 'साधना' का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसमें मुख्यतया संस्कृति-सम्बन्धी लेख रहते थे और इसका उद्देश्य था पाठकों को सांस्कृतिक शिक्षा देना। यह पत्रिका ४ वर्ष तक चलती रही। इसमें प्रकाशित होनेवाले लेखों में से आधे से अधिक रवीन्द्रनाथ के लिखे होते थे। प्रत्येक नई घटना रवीन्द्रनाथ के मस्तिष्क पर एक नई छाप छोड़ती और उसके सम्बन्ध में वे अपने विचार 'साधना' द्वारा जनता तक पहुँचाते। उदाहरण के लिए शिक्षा के माध्यम के विषय में लिखते हुए उन्होंने लिखा था कि शिक्षा का संचालन जनता और देश की आत्मा के अनुसार होना चाहिए और उसका माध्यम वही भाषा होनी चाहिए जिसे देशवासी प्रतिदिन व्यवहार में लाते हों। संभवतः उन्हीं दिनों एक ऐसी शिक्षा-संस्था की रूप-रेखा रवीन्द्रनाथ के मस्तिष्क में आ चुकी थी जहाँ शिक्षा देश की आत्मा और आवश्यकता के अनुरूप दी जाय! आगे चलकर इसी विचार ने 'विश्वभारती' का साकार रूप धारण किया। अँगरेज़ शासकों की इस धारणा का, कि भारतीय सृष्टि के निम्न वर्ग के जीव हैं, एक लेख में उन्होंने कड़ा उत्तर दिया था। इसी लेख में उन्होंने यह भी लिखा था कि हम भारतीयों में सबसे बड़ा दोष यह

है कि हम प्रत्येक बात को बिना विरोध किए हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर अंगीकार कर लेते हैं—वह चाहे हमारे शासकों का अत्याचार हो, चाहे कृति का उपद्रव या धर्म-पुस्तक का कोई वाक्य। हममें तर्क करने का भाव नहीं रहा और यही हमारे उत्तरोत्तर पतन के लिए ज़िम्मेवार है। एक लेख में स्वदेश वासियों की भार्त्सना करते हुए उन्होंने लिखा कि हमें एक बड़ी बुरी आदत पड़ गई है, अपने चारों ओर नियमों और बन्धनों की दीवाल खड़ी करने की। संसार पर हमारी दृष्टि न पड़े, इसलिए हम सावधानी से अपने सामने पर्दा डाल लेना चाहते हैं। आश्चर्य यही है कि हमने अब तक फूलों और पौधों को पर्दे से नहीं ढका और न चाँद पर घूँघट डालने के लिए किसी बड़े वितान की रचना की।

रवीन्द्रनाथ की कहानियों का प्रकाशन भी 'साधना' से ही आरंभ हुआ। इन कहानियों के कथानक बंगाल के ग्राम्य-जीवन से ही मुख्यतया लिए गए हैं, क्योंकि उन दिनों शिलाइदा में ज़मींदारी पर रहते समय ग्राम्यजीवन का समीप से अध्ययन करने का इन्हें अवसर मिला था। फिर भी इन कहानियों को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्हें पढ़ते समय सदैव पाठक को अनुभव होता रहता है कि उनके भीतर कुछ छिपी हुई शक्तियाँ हैं। लेखक उन शक्तियों का प्रभाव अपने पात्रों के जीवन पर, उनके चरित्र पर, डालता है जिससे वे समाज-व्यवस्था-सम्बन्धी उसके निजी दृष्टिकोण के अनुकूल बन जायँ; यद्यपि इन कहानियों में से अधिकांश ऐसी हैं जिन्हें पढ़ते समय यथार्थ चित्र सामने आ जाते हैं। कुछ कहानियों में समाज-सुधार की भावना भी काम करती दिखाई देती है पर यह बात केवल कहानियों के लिए ही नहीं, रवीन्द्रनाथ की उस समय की सभी प्रकार की रचनाओं के संबंध में कही जा सकती है। अनुभूति का कहानीकार रवीन्द्र की दृष्टि में बहुत बड़ा स्थान है। कहानियाँ लिखते समय वे पात्र के कार्यों का वर्णन नहीं करते। वे पहले उनका विश्लेषण करते हैं, फिर सावधानी से यथायोग्य रंग देते हुए चित्र-निर्माण करते हैं। इसके बाद इस छोटे से चित्र को सकौशल प्रक्षिप्त किरणों-द्वारा पाठक के नेत्रों में उद्भासित

करते हैं जिससे पात्र का प्रकट और अप्रकट—दोनों प्रकार का व्यक्तित्व पाठक के सामने स्पष्ट हो उठता है। कहानियों के प्लाटों में जीवन का भाग भी वे विविध आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से विभिन्न प्रकार का लेते हैं। किसी कहानी में किसी पात्र का केवल एक विशेष परिस्थिति में अंकन रहता है तो किसी कहानी में किसी पात्र के जीवन का बहुत बड़ा भाग आ जाता है। कभी-कभी एक-आध पीढ़ी तक का विवरण देने की ज़रूरत पड़ जाती है और कभी वे दो-दो, तीन-तीन पीढ़ियों तक चले जाते हैं। चित्र के प्रत्येक पहलू की स्पष्टता उनकी विशेषता है। कहानियों का विषय प्रायः बंगाल के किसी ग्राम या नगर के समसामयिक जीवन से सम्बन्धित होता है, जिसका उन्हें पूरा-पूरा परिचय रहता है। राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाली कहानी उन्होंने शायद कोई नहीं लिखी, यद्यपि राजनैतिक वातावरण का उप ोग कुछ कहानियों में अवश्य किया गया है। सुख की अपेक्षा दुःख का विश्लेषण करने में उन्हें अधिक आनन्द मिलता है। वे अपने नायक को प्रायः सामाजिक रूढ़ियों के प्रति संघर्ष करते हुए इस प्रकार दिखाते हैं जिससे उसके छोटे-छोटे अपराधों के प्रति भी पाठक के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। भारतीय विधवा या कन्या के दर्शन उनकी कहानियों में प्रायः होते हैं। कारण स्पष्ट है। हमारे समाज के ये ही दो अंग ऐसे हैं जिन्हें समाज-संचालन का मूल्य बड़े-से-बड़ा त्याग करके चुकाना पड़ता है।

इन कहानियों में सबसे अधिक सफल वे कहानियाँ हुई है जिनमें रवीन्द्रनाथ ने देहाती जीवन का चित्र खींचा है। कारण, इस प्रकार की कहानियाँ जीवन के अधिक निकट हैं। जिन कहानियों का समाज के उच्च वर्ग से सम्बन्ध है, वे जीवन के प्रति उतनी सच्ची नहीं हैं। सफ़ाई, ताज़गी, वर्णन की सुन्दरता, कलापूर्ण चित्रण, मानसिक उलझनों में घुसकर मानव का यथार्थरूप समझने की चेष्टा, उसकी वैचारिक द्विविधा को समझने का प्रयत्न और सबसे बढ़कर बंगाल के ग्राम्यजीवन का सम्पन्न और मनोमोहक दर्शन, आनंददायक वर्णन शैली, बीच-बीच में व्यंग्य के छींटे और कसकनेवाली टिप्पणियाँ—इन कहानियों की विशेषतायें हैं। इनके अतिरिक्त एक और विशेषता ायः सब कहानियों

में पाई जाती है। वह यह कि किसी चित्रण को समाप्त करने के पूर्व लेखक सावधानता के साथ चुनी हुई उपमा का प्रयोग करता है। यह उपमा इतनी फ़िट होती है कि उसके द्वारा वस्तुचित्र शत ुण प्रस्फुटित हो उठता है और पाठक का हृदय उसे तत्काल ग्रहण कर लेता है।

उदाहरणार्थ, दो मित्र कुछ अन्तर के बाद मिलते हैं। यह समय और दूरी का व्यवधान उनके पारस्परिक संबंध में भी एक प्रकार का अंतराय ला देता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसी सत्य को रवीन्द्रनाथ एक कहानी में इस प्रकार दिखलाते हैं—

"कुछ दिन बाद उसकी उससे पुनः भेंट हुई। जब कोई पत्थर अपनी जगह से उखड़ जाता है तब उसे फिर उसी सुन्दरता के साथ अपनी पहले की जगह पर बै ाया जा सकता है। पर मनुष्य जीवित प्राणी है। उसमें प्रतिक्षण परिवर्त्तन होते रहते हैं, वह सतत परिवर्त्तनशील है। अतएव कोई दो मित्र एक लम्बे विछोह के पश्चात् फिर उसी प्रकार नहीं मिल पाते, जैसे कि वे जुदाई के पहले मिले रहे थे।"

देहाती कुटियों के आँगन, घाटों और मन्दिरों की सीढ़ियाँ, वृक्ष और पौधे, पालतू पशु, निर्जीव पत्थर आदि वस्तुएँ उनकी कहानियों में जीवन-तत्त्व की भाँति मिश्रित हैं। घाट पर की पत्थर की सीढ़ियाँ जो अगणित मनुष्यों के सुख-दुःखों को देख चुकी हैं, भी उनकी कहानियों में जीवन के सुख-दुःखों में भाग बँटाने की शक्ति रखती हैं। उनमें भी भावनायें हैं। वे भी विचार करती हैं। पर उनके विचार सुनने के लिए चुपचाप घाट पर बैठकर सीढ़ियों से टकरानेवाली जल-लहरों के कलकल को सुनना होता है। 'घाटेर कथा' उनकी आरंभिक कहानियों में अन्यतम है। घाट पर धूप फैली है—चंपक के फूलों के समान। ब्राह्मण वहाँ नहाने के लिए आया करता है। स्त्रियाँ जल लेने के लिए घाट पर ऊपर-नीचे आती जाती हैं।

युवती कुसुम भी वहाँ आया करती है। वह इतनी सुन्दरी है कि जब घाट के नीचे नदी की धारा में उसका प्रतिबिंब पड़ता है तब घाट की इच्छा होती है कि कुसुम अधिक देरी तक वहीं खड़ी रहे। नदी भी कुसुम से स्नेह करने लगती है। एक दिन कुसुम नहीं आती। फलत: उसके साथी उसे विभिन्न प्यारबोधक नामों से संबोधित नहीं कर पाते। उनकी पारस्परिक बातचीत से घाट को विदित होता है कि कुसुम अपनी ससुराल चली गई है। वहाँ, उस ससुराल में, नदी नहीं है, और भी सब कुछ कुसुम के लिए अपरिचित है। मानो कमल का एक पौधा जल में से उखाड़कर बालू में गाड़ दिया गया हो। एक वर्ष बीत गया। अब स्त्रियाँ भी कुसुम की चर्चा शायद ही करती हैं। एक दिन घाट कुसुम के सुपरिचित पद-चाप से उत्कर्ण हो उठता है, यद्यपि उन पैरों में बिछुए नहीं हैं। सालें बीत चुकी हैं। कुसुम अब युवती हो गई है। पर घाट और उसपर आने-जानेवाली जनता की दृष्टि में कुसुम अब भी लड़की है।

उसके बाद घाट पर गेरुआँ रंग का एक सुन्दर साधु आया। उसने घाट के निकटवर्ती शिव-मंदिर में अपना आसन जमा दिया। स्त्रियाँ अपने-अपने घड़े वहीं छोड़कर साधु के दर्शनार्थ मंदिर में गईं। दिन-प्रतिदिन उसके शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। साधु उन्हें शिक्षा देता और उनके रोगों के लिए ओषधि भी बतलाता। सूर्यग्रहण पड़ा और हज़ारों स्नान करनेवाले घाट पर आए। उनमें कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी थीं जो कुसुम की ससुराल से आई थीं। घाट ने स्पष्ट सुना कि उन स्त्रियों में से एक ने दूसरी के कान में कहा कि यह साधु कुसुम का पति है। पर दूसरी ने इसका विरोध करते हुए कहा कि कुसुम के पति की तो निश्चय ही मृत्यु हो गई थी। तीसरी स्त्री इन दोनों से असहमत थी, उसका कहना यह था कि कुसुम के पति की डाढ़ी इतनी लम्बी नहीं थी। यहीं पर मामला निपट गया। एक दिन कुसुम भी आई और घाट पर बै गई। साधु के मंदिर से निकलने की आहट पाकर उसने पीछे की ओर मुड़कर देखा। उसके मुख पर चंद्र का पूर्ण प्रकाश पड़ रहा था। कुसुम ने शीघ्र ही अपनी साड़ी सिर पर खींच ली

और साधु को प्रणाम किया। परिचय पूछने पर साधु को ज्ञात हुआ कि उसका नाम कुसुम है।

उस संध्या को दोनों में और कोई बात नहीं होती। साधु घाट पर तब तक बै ा रहता है जब तक चंद्रमा अपनी पूरी आकाश-यात्रा को समाप्त नहीं कर लेता और साधु की परछाहीं जो आरंभ में उसके उसके पीछे थी, उसके आगे नहीं आ जाती। उस दिन से कुसुम प्रतिदिन मंदिर जाने लगती है। वह पूजा के लिए फूल चुनती है। मंदिर का फ़र्श और उसकी सीढ़ियों को धोती है, और फिर ध्यान लगाकर साधु का उपदेश श्रवण करती है। वसन्त के दिनों में कुसुम अचानक ग़ायब हो जाती है। उसका क्या हुआ, घाट यह नहीं बता सकता। जब लौटने पर साधु मंदिर से अनुपस्थित रहने के लिए उसकी भर्त्सना करता है तब वह स्वीकार करती है कि वह साधु को प्रेम करने लगी है। पर साधु उसे सावधान करता हुआ यह स्मर रखने को कहता है कि वह सांसारिक जीव नहीं है और वह उसे भूल जाने का यत्न करे। वह स्वयं भी उस रात को उस स्थान से चले जाने को कहता है। कुसुम सिर हिलाकर ऐसा ही करने की मौन तिज्ञा करती है। घाट उसे अपने पास धारा की ओर टकटकी लगाये खड़ा देखता है। वह जल-धारा ही उसकी एक-मात्र मित्र रही है और इस विपत्ति-काल में यदि वह भी उसे आश्रय न देगी तो और देगा भी कौन? हवा तेज़ी से चल रही है, मानो वह चाँद और तारों की रोशनी को उड़ा देने के प्रयत्न में हो, जिससे वे पृथ्वी पर होनेवाली घटनाओं को न देख सकें। कुसुम जो इतने दिनों तक घाट की पथरीली गोद में खेलती रही थी, आज अंतर्धान हो जाती है। वह कहाँ गई? घाट नहीं जानता। उसने केवल जल में बड़ा भँवर पड़ते देखा था।

भारतीय नारी की यह हार्दिक कामना होती है कि वह अपने पति के परिवार को एक वंशधर प्रदान कर सके, चाहे इसके लिए उसे कितना ही कष्ट, कितना ही तिरस्कार झेलना पड़े। वह समझती है कि हिन्दू-परिवार में नारी के जीवन की यही सार्थकता है कि वह पुत्र उत्पादन करे जो पैतृक कुल की परंपरा को सुरक्षित रख सके, पितरों को पानी

दे सके और अपने पिता का नाम चला सके । 'मध्यवर्त्तिनी' कहानी में भारतीय नारी की इसी मनोभावना का सफल अंकन हुआ है । हर-सुन्दरी अपने पति की प्यारी स्त्री है। वह सुख से पति के साथ रहती है । अचानक उसे ध्यान आता है कि उसके पुत्र नहीं हुआ और न अब होने की संभावना है । वह बड़े-से-बड़ा त्याग, जो किसी स्त्री-हृदय के लिए संभव है, दिखलाकर पति से दूसरा विवाह करने का आग्रह करती है । वह नहीं चाहती कि उसका प्रियपति पुत्र-सुख से वंचित रहे । पति अन्ततः दूसरा विवाह करने पर राज़ी हो जाता है और कर भी लेता है । अब हरसुन्दरी को अनुभव होता है कि यह नई दुलहिन उसके और पति के बीच में किस तरह आ पड़ी है । वह फिर भी त्याग दिख-लाती है और अपने कहे को पूरा करने की चेष्टा करती है । वह दासी की भाँति नई दुलहिन की सेवा करती है । "स्त्री परिवार की दासी होती है और साथ ही रानी भी । परन्तु अब यह अधिकार दो स्त्रियों में बँट गया और एक केवल रानी रह गई, दूसरी केवल दासी ।"

'पोस्टमास्टर' कहानी में स्वजनों से वियुक्त और नौकरीवश एकान्त दूर ग्राम में जाकर रहनेवाले कलकत्ता निवासी युवक पोस्टमास्टर के मनोभावों का मार्मिक चित्रण हुआ है । यह कहानी कथानक प्रधान न होकर मनोविश्लेषण प्रधान है । एकान्त में पोस्टमास्टर को जब स्वजनों की याद आती है तब वह अपना जी बहलाना चाहता है रतन से बातचीत करके—जिसके जीवन में पोस्टमास्टर के जीवन से एक साम्य है । वह भी अनाथ है—अतः स्वजनों से वियुक्त । इस प्रकार दोनों का दुःख प्रायः एक जैसा है । इसी लिए समानशील दोनों विदेश में, जीवन के एकान्त कोण में, मिलकर एक-दूसरे से सहानुभूति पाने की आशा करते हैं । इस सादृश्य के रहने पर भी आधार भेद से पोस्ट-मास्टर का अभाव रतन के अभाव से कुछ दूसरे प्रकार का है । पोस्ट-मास्टर के पास कविता है । उसके द्वारा वह जीवन की दुःखमय घड़ियों को रस-सिक्त करने की सोच सकता है । फिर उसका अपना परिवार है, इच्छा होने पर उसे वहाँ लौट जाने से कोई रोक नहीं सकता—नौकरी का बन्धन भी नहीं । क्योंकि यदि परिवर्त्तन के लिए भेजी गई

अर्ज़ी अस्वीकृत होती है तो वह त्यागपत्र भेज सकता है। पर रतन के पास इस प्रकार का कोई उपाय नहीं है। वह अपने जीवन की ऐकान्तिकता को पोस्टमास्टर के सहयोग से ुलाने का उपक्रम कर ही रही थी कि उसके कानों में पोस्टमास्टर के पुकारने की आवाज़ पड़ी। यह आवाज़ प्रतिदिन जैसी ही थी, पर इसमें दैनिक कार्यों की आज्ञा न थी; था ज्वाला और उत्पातपूर्ण वियोग का सन्देश। पोस्टमास्टर नौकरी को छोड़कर घर जा रहे थे। रतन को साथ लिवा जाना वे चाहते नहीं थे। पोस्टमास्टर के जाने की सब तैयारी कराके और उनके हाथ से दिये हुए पुरस्कार को स्वीकार न करके वह विदा के ठीक समय कहीं चली गई। पोस्टमास्टर के हृदय में सी समय तत्त्वज्ञान का उदय हुआ—

"जब नौका छूट गई, वर्षा विस्फारित नदी धरणी की उच्छलित अश्रुराशि की भांति चारों ओर छलछल करने लगी उस समय पोस्टमास्टर का हृदय एक प्रकार की वेदना का अनुभव करने लगा। एक सामान्य बालिका की करुण मुखच्छवि एक विश्वव्यापी वृहत् अव्यक्त मर्मव्यथा का प्रकाश करने लगी। एक बार इच्छा हुई कि लौट जाकर जगत् के क्रोड़ से विच्युत उस अनाथिनी को संग ले लें। पर उस समय पालों में हवा भर चुकी थी; वर्षा का स्रोत खर वेग से बह रहा था; ग्राम निकल गया था और नदी के तीर का श्मशान दिखाई पड़ रहा था; नदी- वाह में भासमान पथिक के उदास हृदय में इस तत्त्व का उदय हुआ, जीवन में इस प्रकार के कितने वियोग और मृत्यु हैं, लौट जाने से क्या लाभ ? पृथिवी पर कौन किसका है ?"

इस तत्त्व का उदय न होना ही अच्छा था, पर हुआ यही। इसी प्रकार पोस्टमास्टर और रतन का दुःख एक उदास और सकरुण परिणति लाभ कर सका। वह अव्यक्त मर्मव्यथा मानो समस्त विश्व में परिव्याप्त होकर एक अपूर्व स्वरजगत् की सृष्टि करने लगी।

इसी प्रकार की करुण-सृष्टि उनकी और भी रचनाओं में मिलती है। 'एक रात्रि' कहानी में भी वेदना का यही स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है। कहानी का नायक महाप्रलय के बीच खड़ा होकर

अनन्त आनंद का आस्वादन करते हुए कह उठता है—"मैं न नाज़िर हुआ, न सरिश्तेदार हुआ, न गेरीबाल्डी हुआ। मैं हूँ एक हाईस्कूल का सेकंड मास्टर। मेरे समस्त जीवन में केवल एक बार कुछ क्षण के लिए अनन्तरात्रि का उदय हुआ। अपनी आयु के सब दिनों में उन्हीं कुछ क्षणों को मैं संपूर्ण सफल समझता हूँ।" 'काबुली वाला' कहानी में भी इस परिचित स्वर का साक्षात्कार होता है। इस कहानी में घटना और चरित्र अधिक नहीं है। है केवल एक करुण अनुभूति! संवेदना की इसी अनुभूति के साथ कहानी की समाप्ति हो जाती है।

मानव और घटनाओं के साथ प्रकृति का जो घनिष्ट संबन्ध रवीन्द्र-नाथ की कहानियों में पाया जाता है, 'सुभा' उसका एक सुन्दर उदाहरण है। सुभा नामक मूक लड़की के साथ मूक प्रकृति का घनिष्ट सम्बन्ध है। वह अपनी भाव-व्यंजना के लिए सवाक् मनुष्यों की भाँति अनुवाद के अनुक्रम की अपेक्षा नहीं रखती, प्रत्युत प्रकृति की भाँति नेत्रों की भाषा में अथवा इंगितों-द्वारा अपना भाव प्रकाश करती है जो अधिक सत्य अधिक छल-रहित होता है।

'दुराशा' कहानी में घटनाओं का प्राचुर्य भी है और क्रम भी, पर आदि से अन्त तक एक करुण-स्वर उसमें भी व्याप्त है। एक नियत संयत शुद्धाचारी ब्राह्मण की निर्धूम ज्योतिशिखा की भाँति गौर अंगयष्टि और उसका दृप्त ब्राह्मणत्व एक नवाब कन्या के आकर्षण का कारण बन जाता है। अपने हरम से बाहर के जगत् में प्रथमबार पैर रखते ही उसे अपने जीवन-देवता के हाथ लाञ्छित और तिरस्कृत होना पड़ता है। पर प्रेम इससे कुछ भी कुण्ठित नहीं होता—

"क्षण भर बाद होश में आने पर कठोर कठिन निष्ठुर निर्विकार पवित्र ब्राह्मण के पद-तलों में दूर से ही प्रणाम किया और मन ही मन कहा—'हे ब्राह्मण, तुम हीन की सेवा, पराया अन्न, धनी का दान, युवती का यौवन, रमणी का प्रेम, कुछ भी ग्रहण नहीं करते। तुम एकाकी हो, तुम स्वतंत्र हो, तुम निर्लिप्त हो, तुम सुदूर हो। तुम्हारे निकट आत्मसमर्पण का भी मुझे अधिकार नहीं है।"

पर नवाव-पुत्री का प्रेम ब्राह्मण के हृदय में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं ला सकता। वह ब्राह्मण उस मुसलमान नवाब की दुहिता का प्रत्याख्यान करके चल देता है। उसके वाद नवाबज़ादी कठिन साधना आरम्भ करती है; एक बार वाहर निकलकर उस ब्राह्मण को खोजने का व्याकुल प्रयास करती है; अपने हृदय से मुस्लिम संस्कारों को दूर करके ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिए अपूर्व प्रयत्न करती है; दुर्जय और दुर्वार प्रेम के समीप असंभव और अप्राप्य कुछ भी नहीं रहता। वह काशी जाकर संस्कृत का अध्ययन भी करती है और पूजा-पाठ तथा व्रताचार भी करती है; यह क्रम जारी रहता है तीस वर्ष पर्यन्त। इस बीच वह काय, वाक् और मन से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेती है। वह सोचती है कि अपने इस कष्टोपार्जित ब्राह्मणत्व को अपने जीवन-देवता के पगतल में समर्पित करके जीवन को सफल करूँगी। जब उसकी जीवन-तरी तट के समीप लगने को होती है, और उसका परमतीर्थ समीप आता है, तब वह नौका अकस्मात् डूब जाती है। वह देखती है—वृद्ध केसरलाल, उसका आयौवन पूजित ब्राह्मण, भटिया ग्राम में भूटिया पत्नी और उससे उत्पन्न पुत्र-पौत्रों को लिए, मलिन वस्त्र पहने, मैला-कुचैला, भुट्टे से दाने निकाल रहा है। और प्रेम की उग्र ज्योति, जो उस नवाबज़ादी ने अपूर्व वलिदान और त्याग-द्वारा अब तक प्रज्वलित रक्खी थी, फक से बुझ जाती है।

'नामंजूर गल्प' रवीन्द्रनाथ की अन्यतम कहानी है। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में, हमारे राष्ट्रीय कार्य-कर्त्ताओं में आत्म वंचना की कितनी भावना है, इसका सुन्दर चित्रण स कहानी में हुआ है। अमिय की देश-सेवा की आड़ में छिपी हुई है ख्याति की लालसा और जनता की प्रशंसा का लोभ। घर पर भाई बीमार पड़ा है और असीम बाहर के देश-भ्राताओं का कष्ट निवारण करने का यत्न सोच रहा है। घर में निस्सहाय भीरु नारी भीत-कंपित हृदय लि पीड़ित भ्राता की सेवा करती है तो उसके प्रति उसे ईर्ष्या होती है और बाहर वह असहाय नारियों के लिए एक आश्रम खोलने में व्यस्त है। स्वदेश और समाज का कार्यकर्त्ता और अमिय का सहकारी अनिल अमिय

का मित्र है और उसके विवाह के लिए चिन्तित, पर ज्योंही वह अमिय के जन्म-वृत्तांत से अवगत होता है, त्यों ही उसका स्वदेश और समाज-धर्म जाने किस लोक को चला जाता है। सबके भीतर आत्म-प्रवंचना की जो वृत्ति छिपी रहती है, संसार के कोलाहल के बीच उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। वह हमारे हृदय का स्पर्श करके बुद्धि को जाग्रत् नहीं करती। पर लेखक अपनी तीक्ष्ण बुद्धि-द्वारा उसे देख लेता है। वह कहानी के ब्याज से उससे हमें इस प्रकार अवगत करा देता है कि हमारे हृदय में उद्वेग भी नहीं होता और अन्तर्गत रहस्य का भी हमें पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है। हृदय को स्पर्श न करते हुए बुद्धि को चेतना प्रदान करनेवाली कहानियों में 'नामंजूर गल्प' का स्थान असंदिग्ध है।

रवीन्द्रनाथ के कई कहानी-संग्रह अब तक निकल चुके हैं जिनमें छोटा गल्प, विचित्र गल्प, कल्पचारिती, गल्पदशक, गल्प गुच्छ (५भागों में) और गल्पसप्तक का नाम लिया जा सकता है। संसार की अनेक भाषाओं में इन कहानियों के अनुवाद भी हो चुके हैं और ये अनुवादित रूप में जिस देश में पहुँची हैं, वहाँ की जनता की अपनी वस्तु बन गई है।

उनकी अन्तिम कहानी 'प्रगति-संहार' में वर्त्तमान कालेज-जीवन का सजीव चित्रण है। कहानी इस प्रकार है—

प्रगति-संहार

इस कालेज में लड़के और लड़कियाँ आपस में मिलते ही नहीं थे बल्कि इस सम्बन्ध में कुछ अति थी। सभी छात्र-छात्रायें धनी-परिवारों की थीं—इन्हें पैसा लुटाना पसंद था। ये ऐसी धूम-धाम से सरस्वती-पूजा करते थे कि मार्केट में गेंदा का फूल दिखाई ही न देता। इसके सिवा आँखों के इशारे, मसखरी और मज़ाक़ का बाज़ार गर्म रहता। अन्ततः इनके संघ में ऐसी फूट पड़ी कि मेल-मिलाप चौपट होने की तैयारी होने लगी।

संघ की नेत्री थी सुरीति। नाम था 'नारी-प्रगति-संघ।' इसमें मर्दों के घुसने के दर्वाज़े बन्द थे। सुरीति के हृदय में ऐसा एक तूफ़ान मचा कि मालूम पड़ने लगा जैसे पुरुष-विद्रोह की दवाग्नि जल उठी। मानो सब मर्द बाहर कर दिये जायेंगे, उनके साथ जलपान भी बन्द हो गया।

इस साल सरस्वती-पूजा में किसी प्रकार की धूम-धाम न रही। सुरीति सब कमरों में जाकर लड़कियों से कहने लगी कि इसमें एक पैसा भी चन्दा मत दो। सुरीति का स्वभाव बहुत गरम है। लड़कियाँ उससे डरती थीं। इसके अलावा 'नारी-प्रगति-संघ' में उसने सबसे शपथ ले ली है कि वे उत्सवों में किसी प्रकार का ख़र्च न करेंगी। जिनके पास धन है वे ग़रीब छात्राओं की मदद करेंगी।

लड़के यह सब देखकर बहुत बिगड़ गये। बोले—तुम्हारी शादी के समय अगर तुम्हारे पति को हम गधे की पीठ पर सवार करा के न लायें तो हमारा नाम बदल देना। लड़कियाँ कहने लगीं—एक गधे की पीठ पर सवार होनेवाले दूसरे गधे की हमको दरकार नहीं है। इन दोनों को हम गले में माला पहनाकर और सर पर लालचन्दन का टीका लगाकर तुम्हारे पास भेज देंगी। उनको तुम इज़्ज़त के साथ अपनी पार्टी में शामिल कर लेना। निदान कालेज में लड़के और लड़कियों में ज़बर्दस्त फूट पड़ने लगी। कोई लड़का पास आकर किसी लड़की से बात करना शुरू करता तो वह नाक-भौं सिकोड़कर कहती—बस हो गया, ज़्यादा दोस्ती की दरकार नहीं। अगर कोई लड़का लड़कियों के बगल में बैठ-कर सिगरेट पीने लगता तो कोई लड़की उसके मुँह से सिगरेट निकाल-कर बाहर फेंक देती। मानो लड़कियाँ इसी में अपना महत्त्व समझने लगीं कि लड़कों के साथ असभ्य व्यवहार किया जाय। अगर बस में कोई लड़का किसी लड़की के आने पर अपनी जगह छोड़कर खड़ा हो जाता, तो लड़की कहती—'इतनी मेहरबानी करने की क्या ज़रूरत थी? हम नहीं चाहतीं कि भीड़ हो तो हमें औरों के मुक़ाबिले कोई ख़ास रियायत मिले।' उनमें एक बात चल पड़ी थी कि लड़कों की बुद्धि लड़कियों से कम होती है। चक्कर ऐसा आया कि इम्तिहान में भी

इस बात के सबूत मिलने लगे। अगर कोई लड़का कभी पहला पास हो जाता तो लड़कियाँ कहतीं कि रो-धोकर इसने अपने को पास कराया है। वे यहाँ तक कहतीं कि उसके प्रति विशेष पक्षपात किया गया है। पहले लड़कियाँ कालेज जाते समय सिर के बालों में दो-चार फूल पिरोकर ले जातीं, कुछ न कुछ शृंगार अवश्य करतीं। अब उनके संघ में शृंगार का नाम लेते ही सब बिगड़ उठती हैं। उनका विचार हो गया कि मर्द को भुलावे में डालने के लिए औरतें साज-शृंगार करती हैं। पर अब इन बातों की दरकार नहीं। सब लड़कियाँ सादा खद्दर पहनने लगीं। सुरीति ने अपने सब गहने अपनी दादी को दे दिये और कहा—'ये सब तुम अपने दान-खाते लगा देना। मुझे इनकी ज़रूरत नहीं और तुमको पुण्य प्राप्त होगा। परमात्मा ने जैसा रूप दिया है उस पर मुलम्मा करना असभ्यता है। ये बातें जंगली अफ़्रीका में होती हैं। अगर लड़कियाँ उससे कहतीं कि—'देखो सुरीति ज़्यादा उछल-कूद नहीं करनी चाहिए। तूने रवि ठाकुर की चित्रांगदा पढ़ी है क्या? चित्रांगदा लड़ना जानती थी पर उसे पुरुषों को भुलावे में डालने की कला नहीं आती थी। बस इसी से उसकी हार हुई।' यह सुनकर सुरीति के सारे बदन में आग लग जाती। वह उत्तर देती—'मैं यह नहीं मानती। ऐसी बेइज़्ज़ती की बात कोई हो नहीं सकती।' कुछ लड़कियाँ विद्रोह करने लगीं। वे कहने लगीं—'मर्द-औरत का यह झगड़ा जिससे हममें फूट पड़ी जा रही है' इस समय की उलटी रीति है। ये विद्रोहिणी लड़कियाँ कहतीं—'लड़के हमारी इज्ज़त करें, हमारा रूमाल उठा दें, यह तो ठीक ही है। सुरीति इसे अपमान नहीं कह सकती। हम तो कहेंगी यह हमारी इज़्ज़त है। पुरुषों से सेवा लेना हमारा काम है। एक समय था जब हम उनकी चाकरानी थीं। इस समय मर्द आकर औरतों की स्तुति करते हैं—सुरीति चाहे कुछ कहे हम अपनी यह इज़्ज़त हाथ से जाने नहीं देंगी। इस ज़माने में तो मर्द हमारा नौकर हो गया है।' ऐसी घपले की बातें फैल गईं। खासकर सलिला को ऐसी नीरस बातें पसन्द न आती थीं। वह धनी घर की लड़की थी। नाराज़ होकर वह दार्जिलिंग के एक अँगरेज़ी कालेज में भर्ती हो गई। इस

प्रकार दो-चार लड़कियाँ खिसकने लगीं पर सुरीति की राय किसी प्रकार न बदली। लड़कियों में सुरीति का यह नेतृत्व लड़कों को असह्य हो गया। वे भाँति-भाँति से उसे तंग करने लगे। हिसाब के मास्टर कठोर प्रकृति के आदमी थे। वे किसी तरह की उच्छृंखलता न देख सकते थे। एक रोज़ उनके क्लास में बड़ा घपला हो गया। सुरीति के डेस्क में उसके बाप का भेजा लिफ़ाफ़ा था। खोलते ही उसमें से एक छिपकली निकलकर फड़फड़ाने लगी। ब त शोर मच गया। छिपकली भय के मारे बगल में जो लड़की ैठी थी उसके बालों में छिपने लगी। सारे क्लास में अजीब खलबली मच गई। गणित के मास्टर वेणी बाबू कड़ी नज़र से देखने लगे पर छिपकली की फड़फड़ाहट के सामने उसका कुछ असर न हुआ। और लीजिए, एक रोज़ सुरीति के नोटबुक के हर पृष्ठ में नस्य भर दी गई। यह नस्य बड़ी तेज़ थी। नोटबुक खोलते ही सारे क्लास में छींकें ही छींकें! अगल-बगल की लड़कियों की नाकों में जो नास घुसी तो आँख और नाक ोनों पानी से तर हो गईं। छींकों का वह तार बँधा कि मास्टर की आवाज़ उसमें डूब गई। यह सब देखकर मास्टर को हँसी रोकना कठिन हो गया।

एक रोज़ यह अफ़वाह फैली कि एक राजकुमार कालेज, खासकर लड़कियों का क्लास, निरीक्षण करने आ रहे हैं। कानोंकान यह ख़बर फैल गई कि वे बहू ढूँढ़ने आ रहे हैं। लड़कियों के एक दल ने हो-हल्ला मचाया कि उनकी बेइज़्ज़ती की जा रही है। लेकिन साथ-साथ यह भी देखा गया कि उस रोज़ कुछ लड़कियों के बालों में फूल सजे थे और उनकी साड़ियों के पाड़ भी ख़ूबसूरत थे। राजकुमार मामूली आदमी न थे, करोड़पति थे। कुछ लड़कियों के दिल में ऐसी इच्छा थी कि सबसे पहले उनकी नज़र उन्हीं पर पड़े। जब स्कूल की छुट्टी हुई तो एक आदमी ख़बर दे गया कि सुरीति राजकुमार को पसंद आई है। सुरीति को ख़बर थी कि इस राजकुमार के ख़ज़ाने में अपार धन है और उसके ज़ोर से पुरुषों की नीचता न मालूम कहाँ छिप जाती है। उसने कहा—'इस प्रस्ताव से वह ज़रा भी सहमत नहीं है। बल्कि वह समझती है कि इससे उसका अपमान किया जा रहा

है। क्योंकि लड़कियों का क्लास गाय की हाट तो नहीं है जो व्यापारी लोग अपनी-अपनी पसंद की गाय ले जायें। किन्तु उसके मन में कुछ दूसरी आशा थी। ठीक इस समय खबर मिली कि राजकुमार साहब अपना सब साज-सामान लेकर चम्पत हो गये हैं। वे कह गये हैं कि उन्होंने बंगाली लड़कियों में से एक को भी अपने पसंद का न पाया। नसे तो पश्चिम की नीच जातियों की लड़कियाँ ज़्यादा खूबसूरत होती हैं।

यह सुनकर सारे क्लास की लड़कियाँ आग-बबूला हो गईं और कहने लगीं कि उससे किसने कहा था कि हमारी बेइज़्ज़ती करने को यहाँ आये। अब उनको यह शर्म लगने लगी कि हमने बनाव-श्रृंगार क्यों किया। फिर यह बात खुली कि राजकुमार उसी कालेज का एक पुराना छात्र था। अपने बाप की जायदाद जुए में हारकर अब वह रुपयेवाली लड़की की खोज में चक्कर काट रहा है। सब लड़कियाँ लज्जा के मारे मिट्टी में गड़ गईं। सुरीति बार-बार यही कहने लगी कि उसे एक बात का भी यक़ीन नहीं है। आरम्भ से ही उसे इस बात का विश्वास नहीं हुआ। बल्कि पढ़ने-लिखने का जो हर्जा हुआ उसके लिए वह कालेज के प्रिंसिपल के विरुद्ध अभियोग करने को भी तैयार थी।

इस कार लड़के भाँति-भाँति की नटख ी करने लगे। इस सबकी जड़ में था—नीहार।

एक बार सुरीति डिग्री लेने के लिए जा रही थी। नीहार उसके पास से ही गुज़रा और बोला—'ऐ! मानिनी, तेरे पाँव तो ज़मीन पर नहीं पड़ते।' सुरीति ने नाक-भौं सिकोड़कर कहा—'देखिए जी, आप मेरा नाम लेकर हँसी-ठट्ठा मत कीजिए।' नीहार ने कहा—'तुम विदुषी होने पर भी इसे हँसी-ठट्ठा समझ रही हो? यह तो विशुद्ध 'क्लेसिक लिटरेचर' का एक कोटेशन है। तना सम्मान मैं और किसी नाम का नहीं करता।'

—'मुझे आपका सम्मान नहीं चाहिए।'

—'बिना सम्मान किए मैं जीता ही नहीं रह सकता। हे विकच-कमलायत लोचना, हे परिणत-शरच्चन्द्रवदना, हे स्मित-हास्य-ज्योत्स्ना-

विकाशिनी ! आपके नाम का मैं पूरा आदर नहीं कर पा रहा हूँ जिससे मुझे तृप्ति हो ।'

—'सुनिए जी, अगर आप रास्ते में मुझे इस तरह तंग करेंगे तो मैं प्रिंसिपल से शिकायत कर दूँगी ।'

—'शिकायत करनी हो तो करो, पर उससे पहले मुझे अपमान की परिभाषा बता देना । भला मैंने कौन-सी बेइज्ज़ती की बात कही है । हुक्म हो तो मैं यह भी कहूँगा—निखिल विश्व हृदय-उन्मादिनी ।'

सुरीति लाल चुकंदर बनकर झटपट वहाँ से चल दी । उसके पीछे से हँसी की खिलखिलाहट गूँज उठी । आवाज़ आई—'हे रोषारुण लोचना, हे यौवन-मद-मत्त मातंगिनी'—

दूसरे दिन क्लास आरम्भ भी न होने पाया था कि यह आवाज़ उठी—'हे सरस्वती-चरण-कमल-दल-विहारिणी, ुञ्जन-मत्त-मधुवृता, पूर्णचंद्रनिभालिनी'—

सुरीति क्रोध में बगल के कमरे में जाकर सुपरिण्टेंडेण्ट गोविन्द बाबू से बोली—'देखिए, अगर बात-बात पर मेरी बेइज्ज़ती होगी तो मैं यहाँ न रह सकूँगी ।' उन्होंने क्लास में आकर लड़कों से कहा—'तुम इसे इतना तंग क्यों करते हो ?' नीहार बोला–'क्या इसे ही तंग करना कहते हैं ? अगर किसी को शिकायत हो सकती है तो पूर्णचन्द्र कह सकता है कि मैंने उसकी हँसी उड़ाई । हमारे क्लास का योगेश कहता है कि उसे खाली निबारणा कहो, क्योंकि उसका मुख 'निब' की तरह तेज़ है । मैंने तो उसे डाँटा तो मैंने क्या दोष किया ?' सब लड़के बोल उठे–'गोविद बाबू आप ही हमारा न्याय कीजिए । हमने तो सब बातें मामूली तौर पर कहीं, किसी का नाम लेकर नहीं कहा । इस पर और लड़कियाँ क्यों न बिगड़ीं ?' सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कहा—'भाई । बेमौक़े की बात अच्छी नहीं होती । इस सबको बंद करो ।'

एक दिन नीहार ने एक-एक जापानी कटकट करनेवाला मेंढक लड़कों की जेब में रख दिया । ठीक जिस समय प्लेटो के दर्शन की व्याख्या होने जा रही थी, सारे क्लास में काटाकट-कटाकट की धूम मच गई । किसी की समझ में न आया कि आवाज़ कहाँ से आ रही

है। उस दिन इस कटकटिया मेंढक की आवाज़ में प्लेटो की आवाज़ डूब गई। निदान ख़ानातलाशी ली गई और सुरीति की डेस्क से दस कटकटिया मेंढक बरामद हुए। वह चिल्ला उठी—'ये कदापि मेरे नहीं हैं; किसी लड़के ने बदमाशी करके यहाँ रख दिये हैं।' लड़कों ने तुरन्त प्रतिवाद किया और कहा—'हम ऐसे अन्यायपूर्ण अपराध मढ़े जाना पसंद न करेंगे। मर्द, बच्चों की तरह, ऐसा खिलवाड़ पसंद नहीं करते। यह काम किसी लड़की का है। कुछ देर तक क्लास सन्न हो गया, उसके बाद अचानक सामने के कोने से अजीब आवाज़ आनी शुरू हुई। सब लड़के एक साथ सीमेंट के ऊपर अपने पाँव घिसने लगे। इतने जूतों के घिसने से एक विकट कंसर्ट की सृष्टि हुई। सुरीति और चुप न रह सकी। वह बोली—'सर, कृपा करके यह उत्पात बंद करवाइए। हम लोग यहाँ पढ़ने आये हैं, गाने के लिए नहीं। अगर कोई पढ़ना नहीं चाहता हो तो उसे चाहिए कि क्लास छोड़कर चला जाय।' यह सुनकर चारों ओर से शेम-शेम की आवाज़ आई और लेफ़्ट-राइट मार्च करते हुए लड़के क्लास से बाहर निकल आये। उस दिन फिर क्लास नहीं जमा। लड़कियाँ कामनरूम में जाकर बैठ गईं। एक चपरासी ने आकर ख़बर दी कि सेक्रेटरी ने सुरीति को बुलाया है। सुरीति सेक्रेटरी के कमरे में गई तो देखा कि वहाँ प्रोफ़ेसर बैठे हैं और नीहार बगल में खड़ा है। सेक्रेटरी ने सुरीति से कहा—'लड़कों ने शिकायत की है कि तुम आज उनके साथ अपमानजनक रीति से पेश आई हो।' सुरीति बोली—'सर, लड़कों ने प्रोफ़ेसर के साथ अपमानजनक व्यवहार किया है और हमारे साथ असभ्यता का। यह क्या हमारा अपमान नहीं है?' सेक्रेटरी और प्रोफ़ेसर दोनों तरफ़ की बातें सुनकर नीहार से बोले—'हर तरह साबित हो गया है कि क्लास में तुम्हीं ने सबसे पहले झगड़ा शुरू किया है और तुम्हीं गिरोह के मुखिया हो। तुम्हें ही माफ़ी माँगनी चाहिए।' नीहार ने कहा—'सर, यह बात मेरे लिए सम्भव नहीं है। इससे अच्छा तो यह है कि आप अनुमति दें तो मैं कालेज छोड़ने को तैयार हूँ।' सेक्रेटरी ने कहा—'तुम्हें हम कुछ समय और देते हैं। अच्छी तरह सोच-समझ लो।' वह 'अच्छी बात' कहकर चला गया। उस रोज़ लड़कों

ने देखा कि नोटिसबोर्ड में एक नोटिस टँगा हुआ है कि आज से पूजा की छुट्टियाँ आरंभ हो गई हैं।

नीहार की सलिला के साथ बड़ी दोस्ती थी। सलिला ने नीहार से कहा—'तुम दार्जिलिंग चले आओ।' नीहार बोला—'मेरा बाप तुम्हारे बाप के समान लखपती नहीं है। मुझमें यह ताक़त कहाँ कि दार्जिलिंग में जाकर अध्ययन करूँ।' यह सुनकर सलिला ने कहा—'अच्छा, तुम्हारा खर्च मैं दे दूँगी।' नीहार में यह गुण था कि उसे आप चाहे जो दे दीजिए उसे हड़पने में उसे ज़रा भी अगर-मगर न होती थी। उसने इस धनी लड़की के ख़र्च से दार्जिलिंग जाने की ठान ली। सुरीति के हृदय में कितना ही अहंकार क्यों न हो, उसे यह बात खटकी कि नीहार का झुकाव सलिला की ओर है। नीहार धनी लड़की के आश्रय में रहकर सुरीति से जो मन में आया कहने लगा। वह कहता—'जो लड़कियाँ अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकतीं वे दावा करती हैं कि पुरुष उनके साथ अच्छा व्यवहार करें।' सुरीति ऐसा दिखाती जैसे इस निरादर का वह प्रतिवाद करती हो, किन्तु मन में भीतर ही भीतर उसे नीहार को पाने की इच्छा थी, यह कहना अत्युक्ति नहीं है। नीहार एक धनी लड़की से रुपया लेता था, इसलिए कुछ लड़के उससे ईर्ष्या करने लगे और कुछ कहते कि नीहार घरजमाई है। नीहार इसकी परवा न करता। उसे रुपये की दरकार थी। जब तक रेस्त्राँ में दोस्तों के साथ पिकनिक करने का ख़र्च चलाना और नाना प्रकार की ज़रूरी और शौक़ीनी की चीज़ें जुटाना उसके लिए आसान था, तब तक उसे किसी लड़की का आश्रित रहने में नाम-मात्र संकोच न था। ज़रूरत पड़ते ही नीहार सलिला के पास आदमी भेजता और रुपये मँगा लेता। सलिला ने इसे अपना पोष्य इसलिए बना रक्खा था कि उसका विचार था कि वह बड़ा प्रतिभाशाली है और कभी इसका बड़ा नाम होगा। नीहार भी कभी यह दिखाने का मौक़ा न चूकता कि उसकी प्रतिभा विश्वव्यापी है।

सलिला को दार्जिलिंग में डबल निमोनिया हो गया। दवादारू की त्रुटि बिलकुल न थी, किन्तु डाक्टर यमदूत को न ठग सके। सलिला

मर गई। नीहार यह उम्मीद करता ही रह गया कि सलिला अपने 'विल' में उसके नाम कुछ छोड़ जायगी। पर इसके कोई लक्षण दिखाई न दिये। नीहार को सलिला पर बहुत क्रोध आया। खासकर जब उसे मालूम हुआ कि सलिला अपनी नौकरानी के नाम एक सौ रुपये छोड़ गई है तो उसने सलिला को धिक्कारा और कहने लगा—'ओः कैसी नीचता है। इसी को तो अँगरेज़ी में 'मीननेस' कहते हैं।' दार्जिलिंग का खर्च अब कहाँ से चलता? अस्तु नीहार कलकत्ते वापस आकर मेस में रहने लगा। लड़के उस पर ख़ूब हँसे। लेकिन नीहार पर इसका कोई असर न हुआ। उसे उम्मीद थी कि कोई दूसरी 'जगद्धात्री' मिल जायगी। एक उड़िया ज्योतिषी ने एक बार हिसाब लगाकर बताया था कि किसी धनी लड़की की उसपर बड़ी कृपा होगी। दार्जिलिंग से लौटे हुए नीहार को अकस्मात् कालेज में देखकर सुरीति आश्चर्य में पड़ गई और बोली—'आप हिमालय से कब लौटे?' नीहार ने मुस्कराकर कहा—'ऐ सीमन्तिनी, हवा खाकर लौट आया हूँ!' सुरीति ने कहा—'चेहरे से तो आप अच्छे मालूम पड़ते हैं।' नीहार बोला—'आपकी बात सुनकर ख़ुशी हुई। अब जाड़े से बचने का तो ख़्याल नहीं है, तुम्हारी नज़रों से बचने का ख़्याल है।' सुरीति ने कहा—'नज़रों से बचने की तुम्हें क्या ज़रूरत! तुममें तो उस विद्या की कमी नहीं है जिससे औरतें पुरुष की सहायता करने लगती हैं।'

सारबौन यूनिवर्सिटी का एक भारतीय प्राचीन इतिहास का पंडित निमंत्रित होकर कलकत्ता आया। लड़कों और लड़कियों ने प्रबन्ध किया कि उसे रास्ते से ही अभिनन्दन करके लाने का श्रेय पहले वे लूटेंगे। फ्रेंच विद्वान् के पास जाकर प्रगति-संघ का उसे निमंत्रण दिया गया। फ्रेंच-शिष्टाचार के कारण उसने यह स्वीकार कर लिया। अब यह सवाल उठा कि अभिनन्दन को कौन पढ़ेगा! कोई कहता था कि संस्कृत में पढ़ा जाना चाहिए, कोई कहता था अँगरेज़ी में। अन्त में स्थिर हुआ कि फ्रेंच-भाषा में पढ़ा जाना चाहिए। मगर म्याऊँ का ठौर कौन पकड़ेगा? तब नीहाररञ्जन बोला—'अगर मेरे ऊपर भार दो तो मैं यह काम अच्छी तरह चला लूँगा।' कुछ लड़कियों का झुकाव नीहार

की ओर था। वे बोलीं—'क्या हर्ज है? सुरीति ने एतराज किया और कहा—'यह तो भाँड़ों का तमाशा हो जायगा।' और लड़कियों ने कहा—'हम विदेशी हैं, अगर हमारी फ्रेंच-भाषा या भाषण में कोई त्रुटि होगी तो फ्रेंच अध्यापक उसपर हँसेगा। वह अँगरेज़ नहीं है कि अहंकार के मारे अपने शिष्टाचार का पालन न होने से तुनुक जाय। अगर कुछ कमी भी होगी तो उसपर वह हँस देगा! ज़रा देख तो लें कि नीहाररञ्जन की फ्रेंच की दौड़ कहाँ तक है। सुना है कि वह कमरे में बैठे-बैठे फ्रेंच-भाषा पढ़ता रहता है।'

नीहार का मकान चन्द्रनगर में है। छुटपन में उसने फ्रेंच स्कूल में शिक्षा पाई थी और फ्रेंच-भाषा जानने के लिए उसका अच्छा नाम था। उसके परिचित यह न जानते थे। जब अभिनन्दन पढ़ा गया तो फ्रेंच पंडित भी बड़ा खुश हुआ और उसके दो-एक साथी दंग रह गये। उन्होंने कहा ऐसी शुद्ध भाषा फ्रांस के बाहर उन्होंने कभी नहीं सुनी। इस लड़के के लिए यही उचित है कि पेरिस जाकर वहाँ से डिग्री लाये। इसके बाद कालेज के सब अध्यापक नीहार की तारीफ़ के पुल बाँधने लगे कि इसने तो हमारे कालेज की नाक रख ली, इतना ही क्यों खुद कलकत्ता यूनिवर्सिटी को झेंपा दिया।

इसके बाद नीहार की धूम मच गई। चारों तरफ़ 'नीहारदा' 'नीहारदा' की ध्वनि से कालेज का वायुमंडल भर गया। प्रगति-संघ का पहला नियम टूटने लगा। पुरुषों को लुभाने के लिए रंगीन कपड़े पहनना लड़कियों ने छोड़ रक्खा था। सुरीति ने ही पहले-पहल यह नियम तोड़ा और अपनी साड़ी के आँचल को बढ़िया रंग में रँगा। नीहाररञ्जन के पास जाकर पुराने विद्रोही भावों को दबाने में उसे थोड़ा संकोच रह गया था पर अब इसकी दीवारें गिरने लगीं। उसने देखा कि और लड़कियाँ उसकी परवा अब नहीं करती हैं। कोई नीहार को चाय पीने का निमंत्रण देती है, कोई बढ़िया जिल्ददार टेनीसन का एक सेट उपहारस्वरूप रख आती है। और सुरीति पिछड़ती जा रही है। जब एक लड़की ने बढ़िया कढ़ा हुआ टेबुल-क्लाथ नीहार को दिया, तो सुरीति के कलेजे में चोट लगी कि मैंने यह काम क्यों न सीखा।

उसकी विद्वत्ता का गर्व खर्व हो गया। और लड़कियाँ उससे मिलती हैं। सुरीति की इच्छा होती कि मैं भी उनके साथ रहूँ, पर वह इसमें अपने को असमर्थ पाती है। परिणाम यह हुआ कि सुरीति के इस भाव ने बहुत ज़ोर पकड़ा और अगर वह किसी मौक़े पर नीहार के लिए कुछ त्याग कर पाती तो अपने को कृतार्थ समझती। प्रगति-संघ की हवा एकदम बदल गई। और लड़कियाँ धीरे-धीरे फिर पढ़ने-लिखने में व्यस्त हो गईं। पर सुरीति यह न कर सकी। एक रोज़ नीहार की फाउंटेनपेन नीचे गिर गई। सुरीति ने तुरन्त उठाकर उसके हाथ में रख दी। इससे बड़ा पतन सुरीति का कभी न हुआ था। एक दिन नीहार ने अपने एक भाषण में कहा था कि एक फ्रेंच नाट्यकार ने लिखा है—'सब सुन्दर पदार्थ पर्दे में रहते हैं, उनपर रूखी नज़र पड़ते ही उनकी सुकुमारता झुलस जाती है। हमारे देश में स्त्रियाँ जब पर्दा रखती थीं तब उसका मुख्य कारण यह था कि स्त्रियों का मूल्य दूसरों की नज़रों में पड़ने से घट जाता है। उनकी कमनीयता पर धब्बा-सा लग जाता है।' इस बात पर और लड़कियाँ उत्तेजित होकर उसके विरुद्ध बहस करने लगीं। वे कहने लगीं—'इस प्रकार पर्दे में छिपाकर कमनीयता बचाने की चेष्टा करना मज़ाक़ है। क्या स्त्री सबके लिए एक-सी है?' तमाशा देखिए कि सुरीति ने उठकर नीहार की बात का समर्थन किया। सारवौन की हवा ने मानो उसका रहन-सहन एकदम बदल दिया। अब वह नीहार से सलाह-मशविरा करती है और पूछती है कि सिनेमा में जब शेक्सपियर का नाटक खेला जाता है तो क्या लड़कियाँ अपने पुरुष अभिभावकों के साथ वहाँ जा सकती हैं? नीहार सख़्त हुक्म देता है—'नहीं, वे नहीं जा सकतीं, नियम में फेर-फार होने से वह भंग हो जाता है।'

कोई नया अच्छा फ़िल्म आते ही सुरीति ज़रूर सिनेमा देखने जाती थी। अब यह हाल है कि वह उन निमंत्रणों में भी नहीं जाती जहाँ स्त्री-पुरुष एक साथ खाते हों। सनातन-धर्मी उसकी बहुत तारीफ़ करने लगे। उसने प्रगति-संघ से ख़ुद अपने हाथ से अपना नाम काट दिया। सुरीति को अध्यापिका की एक जगह मिलने लगी तो वह नीहार के

पास आज्ञा लेने आई कि स्कूल में बहुत छोटे-छोटे लड़के भी पढ़ते हैं, उन्हें पढ़ाने में हानि तो नहीं है। नीहार ने कहा—'नहीं, इससे भी हानि है।' परिणाम यह हुआ कि सुरीति ने निवेदन किया कि मेरा वेतन आधा कर दिया जाय और बाक़ी आधे वेतन से एक नया मास्टर रक्खा जाय जो इन लड़कों को पढ़ाये। यह सुनकर सेक्रेटरी दंग रह गया। सुरीति का कुछ अजीब हाल होने लगा। उसे प्रायः ख़बर मिलती कि नीहार की हालत ख़राब है। वह उधार लेकर किताबें ख़रीद रहा है तो सुरीति अपना जलपान काटकर उसकी मदद करती। नीहार को इसकी ज़रा भी शर्म न थी। वह समझता था कि औरतों से उपहार लेने का मर्द हक़ रखते हैं। फिर भी उसे ज़बर्दस्त अभिमान था कि मेरे समान विद्वान् कम हैं। एक कालेज में बँगला भाषा के प्रोफ़ेसर की जगह ख़ाली हुई। सुरीति के कहने पर नीहार को यह नौकरी मिलने की बातें चल रही थीं। कमेटी में नीहार के नाम पर कुछ बहस छिड़ गई। इसपर नीहार का अहंकार जाग उठा। सुरीति ने नीहार से कहा—'तुम्हारा यह अभिमान अन्याय-युक्त है। जब स्वयं वाइसराय चुना जाता है तो कौंसिल के मेम्बर उसकी भी चर्चा करते हैं।' नीहार ने उत्तर दिया—'यह हो सकता है, पर जो नीहार को नौकरी देना है तो वे उसके नाम पर बहस न कर पायेंगे। मेरे मान की इसी में रक्षा है। मैं एम० ए० में बँगला में प्रथम आया हूँ। मैं कमेटी की यह मेहरबानी क़बूल नहीं कर सकता।' नीहार ने नौकरी पर तो लातमार दी पर सुरीति से मदद ली। उसे हमेशा आवश्यकता रहती थी, इससे सुरीति का जलपान एकदम बंद हो गया। उसका यह हाल देखकर घरवाले हैरान थे। उसका स्वास्थ्य बहुत ख़राब था, उसपर यह त्याग! जब कारण मालूम हुआ तो घरवाले नीहार के पास जाकर बोले—'भाई, या तो उसके साथ विवाह करो या यह दोस्ती छोड़ दो।' नीहार ने तड़ाक से जवाब दिया—'विवाह तो मैं करूँगा ही नहीं। वह दोस्ती जब चाहे छोड़ सकती है, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है।' सुरीति को सब बातें मालूम थीं कि नीहार की निगाह में उसकी कोई क़ीमत नहीं है, सिवा इसके कि वह उससे फ़ायदा

उठाये। पर यह सब अपमान सह कर भी वह उसकी सहायता करती रही।

एक बार सुरीति को कलकत्ते से बाहर किसी कालेज में प्रिंसिपल की जगह मिल गई। वहाँ उसके मन में यही खलता था कि मैं यहाँ मौज में हूँ और वह वहाँ ग़रीबी की ज़िंदगी बसर कर रहा है! यह मैं कैसे देख सकती हूँ। निदान एक रोज़ विना कारण वहाँ से नौकरी छोड़ कलकत्ते चली आई और एक स्कूल में पंडितानी बन गई। उसके वेतन का १२ आना हिस्सा नीहार के पेट भरने और उसके उपभोग की सामग्री खरीदने में चला जाता था। इसी में उसे आनन्द मिलता था। मानो उसके पास मन को बहलाने का दूसरा कोई साधन ही नहीं था, इसलिए उसका त्याग इतना बढ़ गया।

यही त्याग वह एक दिन स्त्रियों के हृदय से उखाड़ फेंकना चाहती थी। आज उसके मन में एक ही बात है कि स्त्री पुरुष के लिए आत्म-वलिदान करे। जो स्त्री ऐसा नहीं करती, वह स्त्री ही नहीं है—वस उसके दिल में यह बात जम गई।

जिस वासे में उसने कमरा किराये पर लिया वह सस्ता था, पर वह रोगियों का अड्डा था। वहाँ वह छत पर भी न घूम सकती थी। पैसे की तंगी के कारण भोजन स्वयं बनाती थी। भोजन बनाने में वह अनभिज्ञ थी। कच्चा-पक्का खाकर किसी तरह जीवन धारण करती थी। फल यह हुआ कि उसका स्वास्थ्य चौपट हो गया और अस्वस्थता के कारण वह स्कूल से जल्दी-जल्दी छुट्टी लेने लगी। निदान पता चला कि उसे क्षय हो गया है। उसके घरवालों ने उसे एक प्राइवेट अस्पताल में भरती कराया। सुरीति ने छिपकर कुछ रुपये जमा कर रक्खे थे। ये रुपये वह नीहार के पास भेजती थी। नीहार सब बातें जानता था पर वह उसे ले लेता था, समझता कि इस पर उसका हक़ है। पर एक वार भी अस्पताल में जाकर सुरीति को देखने का समय उसे न मिला। सुरीति बड़ी उत्सुकता से दरवाजे की तरफ़ कान लगाये रहती कि उसके पाँव की आहट कब मिलती है। अंत में एक रोज़ उसके रुपये समाप्त हो गये और उसी दिन उसने परम आत्म-त्याग भी कर दिया।

जीवन-देवता

पीछे 'मानसी' और 'चित्रांगदा' के गीतों में हम देख आये हैं कि कवि का इंगित सौन्दर्य और प्रेम के उस प्रकार का उपभोग करने की ओर है जो देहातीत है। अर्थात् कवि सौन्दर्य और प्रेम को इहलौकिक या सांसारिक रूप में भोगने का समर्थन न करके उन्हें बृहत्तर प्रेम-लीला में प्रतिष्ठित करते हुए समग्र रूप से ग्रहण करना चाहता है। इस भाव की अभिव्यक्ति 'राजा ओ रानी' में और भी स्पष्ट रूप से हुई है, जैसा कि पीछे देख आ े हैं। पर कवि की इसके बाद की रचनाओं–यथा, 'सोनारतरी', 'विदाय अभिशाप,' 'चित्रा' और 'चैताली' में यह इंगित पूर्ण रूप से स्पष्ट हो उठा है। इसके अलावा रवीन्द्रनाथ की रचनाओं का वह मूलतत्त्व, जो साधारणतः उनकी समस्त रचनाओं में समान रूप से व्याप्त है—अर्थात् प्रकृति के साथ पुरुष का सम्पूर्ण रूप से ऐक्य—इन रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा है। इन गीतों को पढ़ते समय हमें अनुभव होता है कि कवि प्राकृतिक वस्तुओं के साथ मिलकर इस प्रकार एकाकार हो गया है कि प्रकृति की ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसके साथ कवि के हृदय का ऐक्य न हो। उसे संसार की नगण्य से नगण्य वस्तु में असीम सौन्दर्य और प्रेम परिपूर्ण दिखाई देता है। संसार के सब पदार्थ मिलकर उसके प्राणों में एक ऐसे मायालोक की रचना करते हैं जो अपरूप है, जो वर्णनातीत है। इस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि समस्त बाह्य सौन्दर्य को अपने भीतर समेट लेना चाहता है। वह इस सौन्दर्य के पार्थिव रूप को दूर करके उसके इंद्रियातीत रूप को, जो भोग करने के लिए नहीं, केवल अनुभव करने के लिए है, अपने प्राणों में प्रतिष्ठित करना चाहता है। अब कवि का मन वस्तुहीन कल्पना से ुक्ति लाभ कर चुका है। वह अब बृहत्तर जीवन में प्रवेश कर चुका है। उसे संसार का दैनिक जीवन अब एक नवीन रूप में दिखाई देने लगा है। उसमें एक अनोखा सौन्दर्य और अद्‌भुत आनन्द है। व्यंजना और ध्वनि कवि की इस काल की रचनाओं में प्रचुरता से मिलती हैं जो उन्हें उत्कृष्ट कोटि का काव्य बना देती हैं। अब कवि के छन्दों में भी वह चंचलता और तरलता नहीं रह

जाती। एक प्रकार की शान्ति जिसका जन्म संयम से हुआ है, इन रचनाओं में ओत-प्रोत है। जो गांभीर्य सोनारतरी की 'परश पाथर', 'जेते नाहि दिबो', 'समुद्रेर प्रति', 'मानस सुन्दरी', 'वसुंधरा' इत्यादि कविताओं में, चित्रा की 'प्रेमेर अभिषेक', 'ए बार फिराओ मोरे', 'उर्वशी', 'स्वर्ग हइते विदाय' प्रभृति कविताओं में और चैताली के गीतों में है, वह इससे पूर्व की रचनाओं में बहुत कम मिल सकता है। इन रचनाओं को पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है मानो कवि का अन्तःकरण किसी रहस्यमयी शक्ति की प्रेरणा से लिख रहा है। फलतः इन रचनाओं में स्पष्टता कम है और वे एक प्रकार की अनिर्वचनीय रहस्य-भावना से आवृत हैं। उपनिषदों का रहस्यवाद इसी समय से रवीन्द्रनाथ की रचनाओं पर अपनी स्पष्ट छाप डालना आरंभ करता है। उपनिषदों में जिस जीवन-तत्त्व की व्याख्या हुई है, जो मानव के वर्तमान जीवन को उसके भूत और भविष्यत् जीवनों के साथ जोड़नेवाला सूत्र गया है, वही रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में 'प्राणेर देवता' या 'जीवन-देवता' के नाम से पुकारा गया है। यह 'जीवन-देवता' जीवन के कार्यों का साक्षी भी है और निर्णायक भी। यह 'जीवन-देवता' न केवल रवीन्द्रनाथ की काव्यलक्ष्मी के रूप में, उनकी जीवन-सम्बन्धी समस्त चेष्टाओं में इस समय से लेकर अन्तिम समय तक एक रूप में दिखाई देता है। कवि अपने जीवन की फ़सल समर्पण करते हुए कहता है— 'जीवन की फ़सल तैयार है और जीवन-देवता अब उसे संग्रह कर सकता है।' सोनारतरी की आरंभिक रचना में कवि कहता है:—

"आकाश में बादल गरज रहे हैं। ज़ोर से वृष्टि हो रही है। मैं अकेला बैठा हूँ—अकेला किनारे पर। धान की विस्तृत फ़सल की कटाई समाप्त हो की। नदी 'दुकूल भरा' और 'खर स्रोता' है। मैं फ़सल काट ही रहा था कि वृष्टि आरंभ हो गई। इस छोटे-से क्षेत्र में मैं एकाकी बैठा हूँ। जल भँवरें भरता हुआ भागा जा रहा है। दूसरे तट पर मुझे मेघाच्छादित ग्राम प्रातःकाल के समय वृक्षों की छाया की स्याही से चित्रित-सा दिखाई देता है। इस किनारे पर खेत छोटा-सा है और मैं अकेला हूँ।

"मेरे किनारे की ओर कौन आ रहा है—अपनी नाव खेता हुआ और गाता हुआ ! शायद मैं उसे जानता हूँ ! वह पूरे ज़ोर से नाव खे रहा है, न बायें देखता है न दाहिने । नौका के पक्षों में लगकर असहाय लहरें फट जाती हैं । शायद वह मेरा परिचित है !

"तुम किधर, किस अज्ञात देश की ओर जा रहे हो ? कृपा करके एक क्षण के लिए अपनी नौका इस ओर, इस किनारे पर ले आओ । फिर जहाँ चाहो, चले जाना; जिसे चाहना उसे यह नौका दे देना । मैं चाहता केवल यह हूँ कि क्षण भर के लिए इस तट पर आ जाओ और एक मृदु मुसकान के साथ इस फ़सल के ढेर को अपनी नाव में भर लो—

जत चाओ तत लओ तरणी परे !
आर आछे ? आर नाइ, दिये छि भरे ।
एत काल नदी कूले
जाहा लये छिनू भूले
सकलि दिलाम तूले
थरे विथरे
एखन आमारे लहो करुणा करे ।
ठाँइ नाइ, ठाँइ नाइ ! छोट से तरी
आमारि सोनार धाने गिये छे भरि
श्रावण गगन घिरे
घन मेघ घूरे फिरे
शून्य नदीर तीरे
रहिनू पड़ि,
याहा छिल निये गेल सोनारतरी ।*

* जितना चाहो, अपनी नाव में भर लो । और भी है ? नहीं और नहीं है । जो कुछ था सब तुम्हारी नौका में भर दिया । अब तक जो कुछ लेकर नदी तट पर मैं भूला हुआ था वह मैंने सब एक एक करके दे दिया ।

इस बार दया करके मुझे लिये चलो ।

नौका में स्थान नहीं है, छोटी नौका मेरी सुनहली फ़सल से ही

इस प्रकार 'सोनारतरी' की रचनाओं में प्रकृति की निकटतम अनुभूति का परिचय मिलता है। मनुष्य के चित्त के रहस्य, उसके भाव और उसकी अनुभूति का निसर्ग की अनुभूति के साथ कहाँ तक ऐकात्म्य है, रवीन्द्र का कवि इसी उपलब्धि को पाठक के चित्त में जाग्रत् कर देता है। इस संग्रह की 'शैशव-संध्या', 'निद्रिता', 'सुप्तोत्थिता', आदि रचनाओं को व्यापक अर्थों में प्रकृति वर्णन कहा जा सकता है। इनमें जो अपरूप सौन्दर्य चित्रित हुआ है वह वहीं पर समाप्त नहीं हो जाता, मानव-प्रकृति के साथ इस सौन्दर्य के संबन्ध में ही इस प्रकार की कविताओं का मूल्य है। प्रकृति में जो कुछ है उसका मूल्य मनुष्य के संबन्ध से ही है। प्रकृति के साथ मानव-हृदय की एकात्मता का प्रकाश पूर्ण रूप से 'मानस-सुन्दरी', 'वसुन्धरा', 'समुद्रेर प्रति' कविताओं में हुआ है। और इस एकता का आनन्दोल्लास अपूर्व छन्दों और ध्वनियों-द्वारा 'विश्वनृत्य' और 'भूलन' कविताओं में व्यक्त हुआ है।

'निरुद्देश यात्रा' सोनारतरी की अन्तिम रचना है। इससे ज्ञात होता है कि कवि के मानस में स्थिरता का अभी तक अभाव है। अभी तक उसे विश्राम नहीं मिला। यात्रा की समाप्ति कहाँ पर है, यह जाना नहीं जा सका, नाव किनारे पर नहीं लगी—

आर कत दूरे निये जावे मोरे
हे सुन्दरी ?
बलो, को पार भिड़िबे तोमार
सोनार तरी ?
नीरवे देखाओ अंगुलि तुलि
अकूल सिन्धु उठेछे आकुलि
दूरे पश्चिमे डूबिछे तपन
गगन कोने।

भर गई! श्रावण के आकाश में घने मेघ फिर रहे हैं। शून्य नदी तट पर मुझे अकेला रहना है। जो कुछ था वह सब सोने की नाव ले गई।

कि आछे होथाय—चलेछि किसेर-
अन्वेषणे ?*

'चित्रा' (-१८९६) से ज्ञात होता है कि कवि को यात्रा का अन्त मिल गया है; नाव किनारे पर लग गई है; वह जिसके अन्वेषण में बाहर निकला था उससे भेंट हो गई है; 'चित्रा' की कविताओं में एक प्रकार का सहज सुख, सरल आनंद, परम स्थैर्य और निश्चयता दिखाई देती है। कवि का हृदय सुख की चर्चा से रो उठता है। उसका चित्त तीव्र, तप्त, दीप्त मद से उन्मत्त हो उठता है। असीम विरह, अपार वासना और विश्व-वेदना हृदय में बजती है; सब कुछ कवि के निकट हृदयनिवासिनी कौतुकमयी का अपरूप कौतुक बन जाता है—

ए कि कौतुक नित्य नूतन
ओगो कौतुकमयि !
आमि याहा किछु चाहि बलिवारे
बलिते दितेछ कइ ?
अन्तर माझे बसि अहरह-
मुखहते तुमि भाषा केड़े लहो
मोर कथा लये तुमि कथा कहो
मिशाये आपन सुरे !

× × ×

बलितेछिलाम बसि एकधारे
आपनार कथा आपन जनारे
शुनितेछिलाम घरेर दुयारे
घरेर काहिनी यत;

---

* हे सुन्दरी, मुझे और कितनी दूर तुम ले जाओगी ? बतलाओ, तुम्हारी सोने की नौका, किस पार भिड़ेगी ? मुँह से कोई बात निकाले बिना उँगली उठाकर दिखा रही हो। यह अनन्त सागर उन्मत्त हो उठा है। दूर, पश्चिम में, आकाश के कोने में सूर्य्य डूब रहे हैं ? वहाँ क्या है ?—किस वस्तु के अन्वेषण के लिए मैं चला हूँ ?

तुमि से भाषारे दहिया अनले
डुबाये भाषाये नयनेर जले
नवीन प्रतिमा नव कौशल
गड़िले मनेर मत।
से माया मूरति कि कहिछे वाणी--
कोथाकार भाव कोथा निले टानि
आमि चेये आछि विस्मय मानि
रहस्य निगमन

निसर्ग के साथ इसी एकान्त, परिपूर्ण एकात्मबोध के फलस्वरूप, 'उर्वशी', 'स्वर्ग ह'ते विदाय' आदि कविताओं की सृष्टि हुई है। 'उर्वशी' में कवि ने मोहिनी नारी के अभौतिक सौन्दर्य की स्तुति की है। कविता-रसिकों के मत मे 'उर्वशी' पूर्ण सौन्दर्य की प्रतिमा और विस्मय और आनन्द की परिपूर्ण सृष्टि है। उसकी द्युत वैदिककाल के अतीत से लगाकर आज के वर्त्तमान और चिन्तन से परे भविष्यत् काल तक

---

*ऐ जी कौतुकमयी, तुम ये कैसे नये-नये कौतुक करती रहती हो? में कुछ थोड़ी-बहुत बातें कहना चाहता हूँ, परन्तु तुम उन्हें कहने कहाँ देती हो? अन्तःकरण में दिन-दिन बैठी रहकर तुम मेरे मुख की भाषा का अपहरण कर लेती हो। मेरे वाक्यों का अपहरण करके तुम उनमें अपना सुर सम्मिश्रित कर देती हो और उन्हें ही अपने मुख से निकालती हो। × × × एकान्त कोने में बैठे-बै मैं आत्मीयजनों से अपने मन की बातें कह रहा था। घर के द्वार पर बैठा हुआ घर का सारा हाल सुन रहा था। परन्तु जिस भाषा में ये सब बातें हो रही थीं, उन्हें तुमने अग्नि में जला डाला, नेत्रों के जल में उसे निमज्जित करके प्रवाहित कर डाला। वाद को अपने नवीन प्रकार के कौशल से अपनी चि के अनुसार नवीन प्रकार की प्रतिमा का निर्माण कर लिया। वह माया की मूर्त्ति कैसी वाणी कण से निकाल रही है। कहाँ का भाव वह कहाँ खींच ले गई। विस्मयपूर्ण दृष्टि से यह रहस्य-निगमन ताकता आ मैं बै । हूँ।

विस्तृत है। 'उर्वशी' के साथ न जाने कितने कवियों की कल्पानायें कितने ऋषियों की उद्गीतियाँ जड़ित हैं। मानव ने चिरंतन प्रेम और सौंदर्यवासना के बीच 'उर्वशी' की स्मृति को स्थापित किया है।

उर्वशी के सौन्दर्य की यह अनिर्वचनीयता 'उर्वशी' में प्रत्यक्ष हो जाती है और हम इस अपूर्व रूपराशि को बाहुबंधन में बाँध लेने के लिए व्याकुल हो उठते हैं।

जब उर्वशी सुर सभा में नृत्य करती है—

सुर सभा तले जबे नृत्य करो पुलके उल्लसि
हे विलोल हिल्लोल उर्वशि!
छन्दे छन्दे नाचि उठे सिन्धु माझे तरंगेर दल
शस्य शीर्षे शिहरिया काँपि उठे धरार अंचल
तव स्तनहार ह'ते नभस्तले खसि' पड़े तारा
अकस्मात् पुरुषेर वक्षोमाझे चित्त आत्महारा
नाचे रक्तधारा!
दिगन्ते मेखला तव टूटे आचम्विते
अयि असंवृते!
स्वर्गेर उदयाचले मूर्तिमती तुमि हे उषसी,
हे भुवन मोहिनी, उर्वशी!
जगतेर अश्रुधारे धौत तव तनुर तनिमा,
त्रिलोकेर हृदि रक्ते आँका तव चरण शोणिमा
मुक्त वेणी विवसने, विकशित विश्व वासनार
अति लघु भार।
अखिल मानस स्वर्गे अनंतरंगिनी
हे स्वप्न संगिनी।*

---

* हे चञ्चल भाव से थिरकनेवाली उर्वशी, देवताओं के सभास्थल जब तुम पुलक के उल्लास में आकर नृत्य करती हो, तब अगाध सागर के मध्य में तरंगों का समूह छन्द-छन्द में, एक बँधी हुई गति से नाच उठता है, साथ ही खेतों में लहलहाते हुए

इस सौन्दर्य का विश्लेषण कर सकना लेखनी की शक्ति से बाहर है।

रवीन्द्रनाथ के स्वभाव की एक विचित्रता यह थी कि उन्हें एक स्थान पर—चाहे वह कितना ही सुख-शान्तिमय क्यों न हो—अधिक समय तक अच्छा नहीं लगता था। वे सदैव चलते रहना ही पसंद करते थे। यह चलने की प्रेरणा (Dynamic Urge) उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर पाई जाती है। यह बात न केवल कवि के बाह्यरूप के लिए, उनके आभ्यन्तिरिक रूप के लिए भी उतनी ही सत्य थी। वे कुछ समय तक अपनी कल्पना के लोक में वास करते, फिर बाहर के दुःख-क्रन्दन, संशय, संग्राम उन्हें इस गंभीर भाव से स्पर्श करते कि उनका चित्त स्थिर नहीं रह पाता। उस समय वे कल्पना का स्वर्णलोक छोड़-कर कोलाहल और संघर्षपूर्ण बहिर्लोक में कूद पड़ने को उतावले हो जाते। कवि की कविताओं में भी इसका स्पष्ट परिचय मिलता है। केवल

अन्न के पौधों का शीर्ष भाग आन्दोलित करता हुआ भूतधात्री धरित्री का अञ्चल कंपित होने लगता है। तुम्हारे स्तनों के ऊपर जो हार लटकता रहता है, उसके दाने निकलकर नभस्तल में तारों के रूप में बिखर जाते हैं। अकस्मात् पुरुष का चित्त इस तरह मोह-मुग्ध, इस तरह विकृत हो जाता है कि उसे अपनी स्थिति का ज्ञान नहीं रह जाता और उसके वक्षःस्थल में रक्त की धारा नाचने लगती है। अयि असंवृते, हे असंकुचित भाव से अंग-सञ्चालन करनेवाली भुवन-मोहिनी उर्वशी, तुम्हारा नृत्य आरम्भ होते ही दिगन्त की मेखला एकाएक टूट जाती है। स्वर्ग के उदयाचल पर तुम मूर्तिमती उषा हो। तुम्हारे शरीर की कृशता जगत् की अश्रुधारा से धौत है। तुम्हारे चरणों की लालिमा तीनों लोकों के प्राणियों के हृदय के रक्त से रञ्जित है। हे वेणी खोल-कर नग्न सौन्दर्य प्रदर्शित करती हुई उर्वशी, तुम विश्व में विकसित वासना का अति लघु भार हो। हे स्वप्न की संगिनी, तुम अखिल मानस स्वर्ग में अगणित प्रकार के रंग प्रदर्शित करनेवाली, अगणित प्रकार की क्रीड़ायें करनेवाली हो।

शिल्पमय और सौंदर्यमय जीवन ही उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उससे वे शीघ्र ही उद्वेलित हो जाते थे। और फिर वे आकुलित-क्रन्दनों के गीत गाने लगते थे और चाहते थे कि स उत्पीड़ित, आशाहीन मानवता के उद्धार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दें। 'चित्रा' की 'एबार फिराओ मोरे' रचना में इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है—

एबार फिराओ मोरे, लये जाओ
संसारेर तीरे
हे कल्पने, रंगमयि ! दुलायोना
समीरे समीरे
तरंगे तरंगे आर ! भुलायोना
मोहिनी मायाय।
विजन विषादघन अंतरेर निकुंज छायाय
रेखो ना बसाये।।[1]

किन्तु ऐसे भाव संचारी रूप में ही आते थे और उनके निकल जाने पर कवि फिर पूर्ववत् अपने कल्पना-लोक में निमग्न हो जाते।

'चैताली' प्रथमबार १८९६ में प्रकाशित हुई थी। इसके सम्बन्ध में कवि की कुछ ऐसी धारणा थी कि इस संग्रह के गीत उनके अंतिम गीत हैं। परवर्त्ती जीवन में अपने अनेक गीतों के प्रति कवि ने ऐसी ही धारणा प्रदर्शित की है। 'चित्रा' के विषय में पीछे लिख आये हैं कि उन गीतों की रचना के समय कवि को जीवन की पूर्ण सार्थकता प्राप्त हो गई थी; प्रेम और सौन्दर्य के मधु से उनका जीवन-पात्र लबालब भर चुका था। 'चैताली' की प्रथम कविता में भी कवि कहते हैं—'आज मेरे द्राक्षा कुंज वन में गच्छ-गुच्छ फल लगे हैं। पूर्ण परिपक्व फलों से समस्त

---

[1] हे कल्पने ! अब मुझे लौटा लो, संसार के समीप ले जाओ। हे रंगमयी ! मुझे वायु के प्रत्येक कम्पन के साथ हिलाओ-झुलाओ मत, एक-एक तरंग के साथ आन्दोलित मत करो। मोहिनी माया में भुलाओ मत। हृदय के एकान्त कुञ्ज की छाया में, जहाँ विषाद की अधिकता है, मुझे बैठाल मत रक्खो।

जीवन फलित हो उठा है। ऐसा लगता है कि वह फूट पड़ेगा। तुम अपने शुक्तिरक्त नखों-द्वारा इस डंठल को पृथक् कर दो। दशन-दंशन से समस्त फलों को तोड़ दो'—

आज मोर द्राक्षा कुंज वने
गुच्छ-गुच्छ धरियाछे फल।
परिपूर्ण वेदनार भरे
मुहूर्त्तेइ बूझि फेटे पड़े,
वसन्तेर दुरन्त वातासे
नूये बूझि नमिवे भूतल,
रस भरे असह उच्छ्वासे
थरे थरे फलियाछे फल।

× × ×

शुक्तिरक्त नखरे विक्षत
छिन्नकरि फेल वृन्तगुलि,
सुखावेशे वसि' लतामूले
सारावेला अलस अंगुले
वृथा काजे येन अन्य मने
खेलाच्छले लह तुलि' तुलि'
तव ओष्ठ दशन दंशने
टूटे याक पूर्ण फल गुलि।*

---

* आज मेरे द्राक्षा-कुञ्ज वन में गुच्छे के गुच्छे फल फले हुए हैं। वेदना के रस से वे भरे हुए हैं। मुहूर्त-मात्र में ही सम्भवतः वे फट पड़ेंगे। वसन्त-ऋतु के दुरन्त वायु में जोरों के झकोरों में, शायद ये फलों से लदी हुई लतायें झुककर भूतल पर आजायेंगी, फलों का रस भूतल पर अत्यन्त ही अधिक मात्रा में चू पड़ने पर बड़े ज़ोर का उच्छ्वास आ जायगा, रस की धारा प्रवाहित होने लगेगी। बात यह है कि द्राक्षा की लताओं में स्थान-स्थान पर तो फल लगे हुए हैं। × × × तुम अपने शुक्ति-रक्त नखों द्वारा वृन्त-समूह को तोड़ डालो। समस्त समय अर्थात्

इस प्रकार 'चैताली' में उद्धत-यौवन की आकांक्षाओं की प्रतिध्वनि हमें एक बार फिर सुनाई पड़ती है, पर कुछ अधिक परिष्कृत रूप में।

इन गीतों में वन की प्रशंसा करते हुए कवि आवश्यकता से अधिक उदार हो गये हैं। वन भारतीय जीवन का आवश्यक अंग रहा है। विशेषतया, पूर्वयुग में, जब भारतीय ऋषि संसार से हटकर वन में आश्रय ग्रहण करते थे और वहीं आनन्द और शान्ति के सच्चे स्रोत की, विश्वप्रहेलिका के युक्तियुक्त समाधान की, खोज करते थे। आत्मा का विश्वात्मा के साथ समन्वय इन्हीं वनों में हुआ था। परन्तु जो व्यक्ति तप करने के लिए गृहस्थी को छोड़ वन में जा बसते हैं उनके प्रति कवि के हृदय में रोष है। 'चैताली' की एक कविता में कवि ने कहा है—"अर्धरात्रि के समय भावी संन्यासी की नींद खुली। उसने सोचा, यही समय है, घर छोड़कर ईश्वर की खोज में निकलने का। हाय, अब तक इस माया में कौन मुझे फँसाये रहा। ईश्वर ने धीरे से कहा—"मैं"। पर संन्यासी के कान उसे सुन नहीं सके। शय्या के एक भाग में उसकी पत्नी शिशु को छाती पर लिटाये सो रही थी। संन्यासी ने कहा—"कौन है तू, जो अब तक मुझे मूर्ख बनाये रही?" फिर किसी ने कहा—"ईश्वर।" पर इसे भी संन्यासी ने सुना नहीं।

बच्चा स्वप्न में चौंककर रो उठा; मानो ईश्वर ने आज्ञा दी—"ठहर, मूर्ख, अपना घर मत छोड़।" फिर भी संन्यासी ने सुना नहीं।

ईश्वर ने उसाँस ली और कहा—"मेरा सेवक मुझे छोड़कर मुझे खोजने के लिए कहाँ जा रहा है?"

नारी-सौन्दर्य के प्रति कवि का अनुरागपूर्ण भाव 'चैताली' की कविताओं में भी विद्यमान है। एक कविता में कहा है कि नारी के

रात-दिन कर्महीन उँगलियाँ लिये हुए सुख के आवेश में लताओं के मूल के पास बैठे रहा करो। व्यर्थ के काम-काज के प्रति अन्यमनस्क रहो, खेल के बहाने से अपने होंठ लपका-लपकाकर सारे फल काट लो। ये पके और रस से भरे हुए फल टूट जायँ।

सौन्दर्य के कारण ही संसार रहने योग्य है। जिस पुरुष के हृदय में किसी रमणी के मुख की छवि प्रवेश न कर सकी हो उसे नीला आकाश भी सुन्दर न दिखाई देगा। एक रचना में वे कहते हैं—

"हे नारी, तुम केवल विधाता की कारीगरी नहीं हो, मनुष्य ने भी तुम्हारे निर्माण में योग दिया है। वे अपने हृदय के सौन्दर्य से सदैव तुम्हें सजाते रहते हैं। कवि तुम्हारे लिए स्वर्णिम कल्पनाओं के जाल बुनते हैं। चित्रकार तुम्हारे शरीर को सदैव नूतन अमरता प्रदान करते हैं। समुद्र अपने मोती देता है, खानें स्वर्ण देती हैं, उपवन पुष्प देते हैं—तुम्हें सजाने के लिए, तुम्हें आच्छादित करने के लिए, तुम्हें बहुमूल्य बनाने के लिए। मानव-हृदय की कामना ने तुम्हारे यौवन पर अपनी प्रशंसा की वर्षा की है। तुम अर्द्धनारी हो और अर्द्ध स्वप्न!"

'विदाय अभिशाप' की रचना 'चित्रा' और 'चैताली' से कुछ पहले की (सन् १८९४ की) है। यों तो गीति-नाटक है पर इसमें कवि के अब तक लिखे नाटकों की भाँति अतुकान्त छन्दों का प्रयोग नहीं हुआ है, प्रत्युत यह तुकान्त छन्दों में लिखा गया है। कथानक इस प्रकार है—'एक सहस्र वर्ष तक विद्यार्थी रहने के उपरान्त कच अपनी गुरुपुत्री देवयानी से विदा माँगता है। देवयानी कौशल से कच से यह कहला लेना चाहती है कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। वह कच से अनुरोध करती है कि तुम यशैषणा को छोड़ दो और मेरे पास बने रहो। पर कच इसे स्वीकार नहीं करता। वह बृहस्पति का पुत्र है और देवों ने उसे शुक्राचार्य के पास विद्या सीखने भेजा है। यदि वह रुक जायगा तो देवों के कार्य में हानि होगी। देवयानी पूछती है कि तुम्हारी शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान-प्राप्ति-मात्र था या प्रेम भी, जो ज्ञान से बढ़कर है? कच कहता है कि यह शिक्षा मैंने अपने लाभ के लिए प्राप्त नहीं की है। देवयानी कहती है कि तो मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम-प्रदर्शन क्या इसी लिए था कि जिससे तुम मेरे पिता के कृपापात्र बन सको और वे तुम्हें विद्यादान में संकोच न करें? कच उत्तर देता है कि यह बात नहीं थी। मैं सचमुच तुम्हें प्रेम करने लगा था। तुम मुझे क्षमा कर दो! पर देवयानी की समझ में यह नहीं आता कि

जीवन-स्वप्न का नष्ट कर देनेवाले को भी क्षमा किया जा सकता है। और वह कच को अभिशाप देती है कि जाओ जो विद्या तुमने यहाँ सीखी है वह सफल न होगी। कच प्रसन्नमुख इस शाप को अंगीकार करता है और चलते-चलते देवयानी को आशीर्वाद देता है कि तुम्हारा हृदय शान्त हो जाय और तुम्हारे दुःख दूर हो जायँ !

सन् १८९७ ई० के आस-पास कवि ने 'गांधारीर-आवेदन', 'नरक-वास' और 'कर्ण-कुन्ती-संवाद' नामक तीन छोटे-छोटे गीति-आख्यानों की रचना की। इन छोटे-छोटे गीतिनाटयों में काव्य-माधुर्य और नाटकीयता का समान मात्रा में मिश्रण हुआ है। कथोपकथन भी बड़े सजीव और नाटकीयतापूर्ण हैं। फलस्वरूप इनका सफलता के साथ अभिनय किया जा सकता है। यही नहीं, इन नाटकों में ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर मानव-धर्म की उत्कृष्टता का परिचय बड़ी सुन्दरता से दिया गया है। छन्द भी इन नाटिकाओं के छोटे-छोटे और द्रुतगामी हैं जिनके कारण कथोपकथन में पर्याप्त सजीवता आ गई है और इन्हें पढ़कर भी पाठक रंग-मंच का रसानुभव कर सकता है। "गांधारीर-आवेदन' में गांधारी के अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण हुआ है। गांधारी कौरवों की माता है, अतः उसके हृदय में दुर्योधन के लिए स्वाभाविक मातृस्नेह है। उधर वह धृतराष्ट्र में भी अनन्य भक्ति रखती है अतः उनकी आज्ञाओं का विरोध नहीं कर सकती। पर दूसरी ओर सत्यधर्म में भी उसकी एकान्तनिष्ठा है। वह जानती है कि पांडवों का पक्ष न्यायसंगत और धर्मयुक्त है। यह द्वन्द्व धृतराष्ट्र में भी है। पर धृतराष्ट्र में पुत्रस्नेह मात्रा से अधिक है। साथ ही वे दुर्बल-हृदय भी हैं, अतएव वे पांडवों का पक्ष नहीं ले सकते। पर गांधारी के सामने आने पर धृतराष्ट्र का यह अन्तर्द्वन्द्व छिपा नहीं रहता। वह पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है। वे चेष्टा तो यही करते हैं कि दुर्योधन को उसके अत्याचारों और उत्पीडनों से विरत कर सकें, पर उसका राज्यसिंहासन पर अधिकार भी चाहते हैं। इस प्रकार धृतराष्ट्र को गांधारी और दुर्योधन दोनों के सम्मुख पराजित होना पड़ता है। धृत-राष्ट्र के इस अन्तर्द्वन्द्व में नाटकीयता का पूर्ण मात्रा में समावेश हुआ

है। गांधारी के हृदय में दुर्योधन के लिए उतना ही स्नेह है जितना किसी माता के हृदय में पुत्र के लिए होता है, पर उसका आशीर्वाद पांडवों के लिए सुरक्षित है। यह गांधारी की ही शक्ति है जो पुत्रस्नेह, स्वामी-धर्म और राजमाता के धर्म का निर्वाह करती हुई भी धर्म की दीप्ति को प्रज्वलित रख सकती है। वह धृतराष्ट्र से प्रार्थना करती है कि दुर्योधन को वनवास दे दीजिए। वह पति को अन्याय से पराङ्मुख न कर सकने के अपराध के लिए भानुमती को भला-बुरा कहती है। जब पांडव वनवास के लिए तैयार होकर गांधारी के विदा माँगने आते हैं तब वह उन्हें आशीर्वाद देती है—

सौभाग्येर दिन मणि
दुःख रात्रि अवसाने द्विगुण उज्ज्वल
उदिबे हे वत्सगण! वायु ह'ते बल
सूर्य ह'ते तेज, पृथ्वी ह'ते धैर्य क्षमा
करो लाभ दुःखव्रत पुत्र मोर।
नित्य हउक निर्भय
निर्वासिन वास। विनापापे दुःखभोग
अन्तरे ज्वलन्त तेज करुक संयोग—
वह्निशिखा दग्धदीप्त सुवर्णेर न्याय।
सेइ महादुःख हबे महत् सहाय
तोमादेर। सेइ दुःखे रहिबेन ऋणी
धर्मराज विधि,—जबे शुधिबेन तिनि
निज हस्ते आत्मऋण, तखन जगते
देव नर के दाँड़ाबे तोमादेर पथे।
मोर पुत्र करियाछे यत अपराध
खण्डन करुक सब मोर आशीर्वाद
पुत्राधिक पुत्रगण! अन्याय पीड़न
गभीर कल्याणसिन्धु करुक मंथन।*

---

* हे पुत्रो! दुःखरात्रि के समाप्त हो जाने पर सौभाग्य का सूर्य द्विगुण उज्ज्वल होकर उदित होगा। हे मेरे दुःखव्रत पुत्रो! वायु से

वह द्रौपदी को भी सान्त्वनापूर्ण आशीर्वाद देती है और कहती है कि जिन्होंने तुम्हारा अपमान किया है उन्हें समस्त संसार की अनन्त-कालिक घृणा सहन करनी पड़ेगी और संसार की समस्त स्त्रियाँ तुम्हारे इस अपमान को अपना अपमान समझेंगी।

'सती' का कथानक मिस म्यानिंग संपादित नेशनल इंडियन एसो-सियेशन पत्रिका में प्रकाशित एक घटना से लिया गया है। राजकुमारी अमाबाई बीजापुर के राजकुमार जोवाजी की वाग्दत्ता पत्नी है। पर दरबार का एक सदस्य राजकुमार को धोखा देता है और उसके भेष में आकर राजकुमारी को ब्याह ले जाता है। उससे राजकुमारी के एक पुत्र उत्पन्न होता है। राजकुमारी का पिता विनायकराव उसके पास दो पत्र भेजता है। पहले पत्र में पिता राजकुमारी से पति की हत्या कर डालने का अनुरोध करता है। दूसरे पत्र में राजकुमारी की माता उसे उस विष को खाकर आत्महत्या कर लेने का आदेश देती है जिसे उसने उसी पत्र के साथ भेजा है। इसके पश्चात् एक युद्धक्षेत्र का दृश्य सामने आता है जिसमें राजकुमारी का वर्तमान पति और पूर्व वाग्दत्त राज-कुमार जोवाजी मरे पड़े दिखाये जाते हैं। अमाबाई की समझ में नहीं आता कि उसका पितृकुल उसे कुलकलंकिनी क्यों समझता है। न उसकी समझ में यही आता है कि क्यों उसे अपने कुल की मर्यादा को

बल, सूर्य से तेज, पृथ्वी से धैर्य और क्षमा प्राप्त करो। तुम्हारा निर्वा-सनवास नित्य निर्भय हो। बिना पाप के दुःख भोगकर अग्नि में तपाये हुए स्वर्ण की भाँति अपने भीतर ज्वलन्त तेज संग्रह करो। वही महादुःख तुम्हारा महान् सहायक सिद्ध होगा। धर्मराज-विधि उस दुःख में ऋणी रहेगी और वह जिस समय अपने हाथ से इस ऋण को चुकायेगी उस समय जगत् में तुम्हारे मार्ग में कौन देवता या मनुष्य खड़ा हो सकेगा! हे पुत्र से अधिक प्यारे पुत्रो! मेरे पुत्र ने तुम्हारे साथ जितने अपराध किये हैं, मेरा आशीर्वाद उन सबको खंडित कर देगा। यह अन्याय और उत्पीड़न गम्भीर कल्याणसिन्धु का मंथन करे।

सुरक्षित करने के लिए अपने शरीर को राजकुमार जीवाजी के शव के साथ चितारोहण करके भस्म कर डालना चाहिए।

इस प्रकार 'सती' नाटिका में पिता विनायकराव के चरित्र में नाटकीय सम्भावना-स्फूर्ति प्राप्त होती है। एक ओर है समाज-धर्म और रूढ़िगत संस्कार और दूसरी ओर है पितृस्नेह। इन दोनों का द्वन्द्व उस समय चरम नाटकीयता प्राप्त कर लेता है जब माता रमाबाई मातृ-स्नेह को भूलकर संस्कारमोह में पड़कर कन्या को परपुरुष के शव के साथ सती होने का आदेश देती है।

'कर्ण-कुन्ती संवाद' में नाटकीयता और काव्य-सौन्दर्य पूर्णता को पहुँच गया है। कुन्ती कर्ण को समझा-बुझाकर पांडवों के पक्ष में लाना चाहती है। कर्ण उसका पुत्र है। पर समाज के भय से कुन्ती गर्भ में धारण करके भी उसका पालन-पोषण नहीं कर सकी। कर्ण इस घटना को जान लेता है तब माता के प्रति उसका स्वाभाविक प्रेम जाग उठता है। पर उसे तत्काल ही राधा का ध्यान आता है जिसने एक स्तन पिलाकर उसका पोषण किया और साथ ही दुर्योधन का भी, जिसने उसे मित्र का सम्मानपूर्ण पद प्रदान किया। पर कुन्ती कर्ण के पास केवल मातृ-धर्म की प्रेरणा से नहीं जाती, उसके हृदय में निश्चय ही पांडव-दल की विजयकामना थी। इसी इङ्गित से कर्ण के हृदय में कुन्ती के वचनों से विरक्ति हो जाती है और वीर-धर्म प्रतिष्ठित हो जाता है।

'गांधारीर आवेदन' और 'कर्ण-कुन्ती संवाद' के कथानक महाभारत से लिए गए हैं। इन तीनों नाटकों में समाज-धर्म, लोक-धर्म, राज-धर्म और व्यावहारिक-धर्म आदि की अवहेलना करके एक सत्यनित्य मानव-धर्म की प्रतिष्ठा की गई है। बंगाली-समाज की तत्कालीन मनोवृत्ति के अनुकूल ही इन तीनों नाटकों की रचना हुई है। फ़्रांस की राजक्रान्ति से प्रभावित बंगाली समाज उन दिनों इन समस्त सामाजिक धर्मों से मुक्ति पाकर एक शाश्वत मानव-धर्म की खोज कर रहा था, जिसकी प्रतिष्ठा कवि के इन गीत-नाटकों में हुई है। इसी समय के अन्य एक नाटक 'नरकवास' में प्रतिज्ञा-पालन और आत्म-बलिदान की भावनाओं

का पोषण आ है। 'चिरकुमार सभा' भी इन्हीं दिनों की रचना है जिसे प्रहसनों में अच्छा स्थान प्राप्त हुआ है।

'मालिनी' का कथानक सीधा और सरल है। मालिनी एक राजा की कन्या है जिसे काश्यप नाम के एक बौद्ध अर्हत की कृपा से भगवान् बुद्ध के सत्यधर्म का लाभ हो गया है। वह चाहती है कि संसार के अन्य मनुष्यों को भी इस सत्यधर्म का लाभ कराया जाय, फलतः वह राजगृह को छोड़कर चली जाना चाहती है। परन्तु राज्य की प्रजा सत्य ब्राह्मण-धर्म में आस्था रखती है, वह बौद्धधर्म की बातें सुनना नहीं चाहती। क्षेमंकर इस प्रजादल का नेता है। वह राजा के पास जाकर राजकन्या के निर्वासन की प्रार्थना करता है क्योंकि राजकन्या के राज्य में रहते हुए धर्म की हानि होने की सम्भावना है। राजा और राजमहिषी चाहते हैं कि कन्या को उस सत्यधर्म से फिराकर स्त्री-धर्म और संसार-धर्म की ओर लगा दें। वे मालिनी को समझाते हैं—

धर्म कि खूँजिते हय ?
सूर्येर मतन धर्म चिर ज्योतिर्मय
चिरकाल आछे ! धरो तुमि सेइ धर्म,
सरल से पथ ! लहो व्रत क्रिया कर्म
भक्ति भरे ! शिवपूजा करो दिन यामी,
वर मागि लहो, बाछा, तारि मत स्वामी !
सेइ पति ह'बे तोर समस्त देवता;
शास्त्र ह' व तारि वाक्य, सरल ए कथा।
रमणीर धर्म थाके वक्षे कोले चिर दिन स्थिर
पति पुत्र रूपे ! *

---

* धर्म को क्या खोजना पड़ता है ? वह तो सूर्य के समान चिरकालव्यापी और चिरज्योतिर्मय है। तुम उसी धर्म को धारण करो। वह पथ सरल है। भक्तिपूर्वक व्रत, क्रिया, कर्म करो। रात-दिन शिव की पूजा करके उनसे उन्हीं के समान पति वरदान में माँग लो। वही तुम्हारा पति सब देवताओं के स्थान में हो जायगा। उसी

इस प्रकार रानी स्वयं तो मालिनी को संसार-धर्म की ओर लाने की चेष्टा करती है, पर जब राजा मालिनी की भर्त्सना करने लगता है तब वह बीच में आकर मालिनी को बचाने का प्रयत्न करने लगती है और राजा से कहती है—

"भावमने
ए कन्या तोमार कन्या सामान्य बालिका,
ओ गो, ताहा नहे! ए ये दीप्त अग्नि-शिखा
आमि कहिलाम, आनि शुनि लहो कथा—
ए कन्या मानवी नहे, ए कोन देवता—
एसेछे तोमार घरे! करियो ना हेला,
कोन दिन अकस्मात् भेङे दिये खेला
चले जावे—तखन करिबे हाहाकार—
राज्य धन सब दिये पाइबेना आर।"*

परन्तु क्षेमंकर-द्वारा उकसाई हुई प्रजा किसी प्रकार शान्त नहीं होती। वह राजकन्या का निर्वासन चाहती है। पर क्षेमंकर का एक मित्र सुप्रिय निर्दोष कन्या के निर्वासन से सहमत नहीं है। उसकी राय में यह कार्य धर्म का नहीं है। क्षेमंकर उसे समझाना चाहता है पर सुप्रिय समझता ही नहीं। फिर भी क्षेमंकर के स्नेह के नाते वह कहता है कि मैं तुम्हारी बात मान लेता हूँ, यद्यपि मैं इससे सहमत नहीं हूँ। एक दिन प्रजा महान् उत्साह के साथ यज्ञ और पूजन कर रही थी कि

के वचन तुम्हारे लिए शास्त्र होंगे। यह बात सीधी है। रमणी का धर्म तो पति और पुत्र के रूप में हृदय और गोद में चिर दिन स्थिर है।

* तुम जो समझते हो कि यह तुम्हारी कन्या साधारण कन्या है, ऐसी बात नहीं है। यह प्रदीप्त अग्निशिखा है। मैं कहती हूँ—आज सुन लो—यह कन्या मानवी नहीं है। यह कोई देवी है जो तुम्हारे घर आगई है। इसकी अवज्ञा मत करो। किसी दिन अकस्मात् खेल नष्ट करके चल देगी तब तुम हाहाकार करोगे और अपना समस्त राज्य और धन देकर भी उसे न पा सकोगे।

अकस्मात् मालिनी भिक्षुणी भेष में आकर सामने खड़ी हो गई। सबने उसे देवी समझा और भूमि पर गिरकर प्रणाम किया। केवल क्षेमंकर और सुप्रिय ने प्रणाम नहीं किया। मालिनी कहने लगी कि तुम मेरा निर्वासन चाहते थे, सो लो मैं स्वेच्छा से ही जा रही हूँ, अब लौटकर न आऊँगी। प्रजा उसे घेरकर राजा के दरबार में ले जाती है। पर सुप्रिय इससे विचलित नहीं होता और कहता है कि मालिनी का धर्म ही सत्य-धर्म है। उसने सत्यधर्म का अनुसंधान कर लिया है—

मिथ्या तव स्वर्गधाम !
मिथ्या तव देव देवी क्षेमंकर ! भ्रमिलाम
वृथा ये संसारे एतकाल ! पाइ नाइ
कोन तृप्ति कोन शास्त्रे, अन्तर सदाइ
केंदेछे संशये। आज आमि लभियाछि
धर्म मोर, हृदयेर बड़ काछा काछि !
सबार देवता तव शास्त्रेर देवता—
आमार देवता नहे !*

पर क्षेमंकर जैसा चतुर व्यक्ति सुप्रिय को इतनी सरलता से अपने चंगुल से कैसे निकल जाने दे। वह उसे समझाता है कि जिस धर्म की छाया तुम्हें मिली है वह धर्म नहीं है—धर्माभास है, माया है। सत्य-धर्म तो वही है जो हमारे पूर्व ऋषियों से उपदिष्ट हुआ है। इस सत्य सनातन धर्म पर विधर्मी तरह-तरह से आघात कर रहे हैं। इन आघातों से धर्म की रक्षा करनी होगी, यही हमारा परम कर्त्तव्य है। वह सुप्रिय को यह भी बताता है कि मेरा विचार बाहर से सैन्य लाकर धर्मोद्धार करने का है। सुप्रिय भी उसके साथ विदेश जाने की इच्छा करता है.

---

* तुम्हारा स्वर्गधाम मिथ्या है, क्षेमंकर ! तुम्हारे सब देवी-देवता मिथ्या हैं। अब तक इस संसार में व्यर्थ भ्रमता रहा। किसी शास्त्र में कोई तृप्ति नहीं मिली। अन्तर सदैव संशय से क्रन्दन करता रहा। आज मुझे अपना हृदय का निकटवर्ती धर्म प्राप्त हो गया है। सब देवता तुम्हारे शास्त्र के देवता हैं—हमारे देवता नहीं।

पर क्षेमंकर उसे वहीं रहने का उपदेश देकर रोक देता है। क्षेमंकर के चले जाने पर सुप्रिय की राजोद्यान में मालिनी से भेंट होती है। वह मालिनी से इतना प्रभावित होता है कि दीपशिखा के साथ छाया की भाँति उसके पीछे चल देता है। इधर मालिनी के हृदय पर भी सुप्रिय का प्रभाव पड़ता है। वह सुप्रिय से कहती है कि मेरी समस्त शक्ति क्षीण हो रही है। तुम जब प्रश्न करते हो तब मुझे कोई उत्तर नहीं सूझता। मेरे मन में बड़ा विस्मय आ जाता है। क्या तुम भी मेरे पास धर्म का तत्त्व जानने के लिए आये हो! पर सुप्रिय इस प्रयोजन से तो उसके पास गया नहीं है। वह उत्तर देता है कि मेरे निकट कुछ भी ज्ञातव्य नहीं। मुझे ज्ञान नहीं चाहिए। मैंने सब शास्त्र पढ़े, सबका मनन किया। सैकड़ों तर्क हैं और सैकड़ों मत। पंथों की कमी नहीं है, यदि कमी है तो प्रकाश की। उसी प्रकाश की रेखा मैं तुम्हारे अन्तर से चाहता हूँ।

पर सुप्रिय इतनी देर से आया। वह कुछ पहले क्यों न आया? आज सुप्रिय की बातें सुनकर मालिनी की आँखों में अनजाने ही आँसू छलक आये। प्रजा उसका दर्शन चाहती है, पर वह कहला देती है, 'आज मुझे क्षमा करें, आज दर्शन नहीं होगा। आज मेरे पास कुछ नहीं है।' सुप्रिय का अन्तर्द्वन्द्व भी विलक्षण है। उसके एक ओर मालिनी है, दूसरी ओर क्षेमंकर। इन दो विरोधी तत्त्वों में किस प्रकार मेल हो सके! क्षेमंकर विदेश से सैन्य लाकर मालिनी को प्राणदण्ड देना और उसके चलाये नवधर्म का मूलोच्छेद कर डालना चाहता है। सुप्रिय राजा को यह सब भेद बता देता है। फल यह होता है कि राजा ससैन्य क्षेमंकर को पराजित करके बन्दी बना लेता है। फिर राजधानी में आकर वह सुप्रिय को बुलाता है कि उसके हाथ मालिनी का दान करके उसे पुरस्कृत करे। पर सुप्रिय इसे स्वीकार नहीं करता और कहता है—"नहीं, नहीं मैं पुरस्कार नहीं लूँगा! राजा के हाथ से पुरस्कार! मैं द्वारे-द्वारे भिक्षा माँगकर पेट भरूँगा। मैंने अपने बालकपन के मित्र को बेच दिया और उसके बदले में आज अपने घर पूर्ण सार्थकता ले जाऊँ? मैं बन्धु का विश्वास बेचकर सात स्वर्गों का सुख भी नहीं चाहता।"

राजा क्षेमंकर को प्राणदण्ड देने का निश्चय करता है पर मालिनी उसे क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करती है। क्षेमंकर सामने लाया जाता है। वह मृत्युदंड का आदेश सुनकर तनिक भी विचलित नहीं होता, न किसी से कुछ प्रार्थना करता है। वह केवल बन्धु सुप्रिय को एक बार देखना चाहता है। सुप्रिय आता है। क्षेमंकर पूछता है कि 'मित्र, यह विश्वासघात क्यों किया?' सुप्रिय इसका उत्तर देते हुए कहता है—

सत्य बूझियाछ सखे !
मोर धर्म अवतीर्ण दीन मर्त्यलोके
ओइ नारी मूर्त्ति धरि ! × × ×
× × ×
ओइ दूटि नेत्रे जले जे उज्जल शिखा
से आलोके पड़ियाछे विश्वशास्त्र लिखा—
जेथा दया, जेथा धर्म, जेथा प्रेमस्नेह
जेथाय मानव, जेथा मानवेर गेह।
× ×......धर्म विश्व लोकालये
फेलियाछे चित्त जाल,—निखिल भुवन
टानितेछे प्रेम क्रोडे—से महा बन्धन
भरेछे अन्तर मोर आनन्द वेदने
चाहि उइ उषारुण करुण वदने !
उइ धर्म मोर।†

---

† मित्र तुमने यह ठीक ही समझा है! मेरा धर्म इस दीन मर्त्यलोक में उस नारी की मूर्ति धरकर अवतीर्ण हुआ है। × × × उन दोनों नेत्रों में जो उज्ज्वल प्रकाश है उसी से समस्त शास्त्रों के लेख विद्यमान हैं—जहाँ समस्त दया है, जहाँ धर्म है, जहाँ प्रेम और स्नेह है, जहाँ मानव और उसके वास-स्थान हैं। × ×...... संसार में धर्म चित्तभ्रम फैलाये हुए है। सम्पूर्ण संसार को प्रेम की गोद में खींच रहा है। जब मैं उसका उषारुण करुण वदन देखता

इसके बाद क्षेमंकर दोनों हाथ फैलाकर सुप्रिय को अन्तिम बार भेंटना चाहता है। जब सुप्रिय आगे बढ़ता है तब क्षेमंकर उसके सिर पर लोह की छड़ से आघात करता है। सुप्रिय भूमि पर गिर पड़ता है और फिर नहीं उठता। राजा सिंहासन से उतर पड़ता है और अपना खड्ग लाने की आज्ञा देता है, पर मालिनी राजा से क्षेमंकर के प्राण बचाने की याचना करती है।

इस नाटक में, जैसा कि ऊपर के कथानक से स्पष्ट है, अन्तर्द्वन्द्व और घटना दोनों की प्रधानता है। घटनायें इतनी शीघ्रता से घटती हुई परिणति की ओर चली जाती हैं कि पाठक को साँस लेने का अवकाश नहीं मिलता। बीच में भी कवि ने कथानक की गंभीरता को कम करने का प्रयास नहीं किया, जैसा कि विसर्जन में किया गया है। इस प्रकार यह नाटक आरम्भ से अन्त तक गुरु-गम्भीर ट्रेजिडी बन गया है। मालिनी का चरित्र भी इसमें सुविकसित नहीं हो पाया। अन्त तक पहुँचकर भी यह ठीक निश्चय नहीं हो पाता कि वह सुप्रिय से प्रेम करती है या क्षेमंकर से! या दो में से किसी से नहीं!

सन् १९०० में कवि ने 'कथा' नामक पुस्तक लिखी। इसकी सामग्री प्राचीन गाथाओं से ली गई है। गाथाओं में ऐसी अनेक छोटी-छोटी कहानियाँ भरी पड़ी हैं जिन्हें पढ़ते समय तुच्छ और महत्त्वहीन समझकर छोड़ दिया जाता है। पर इन कहानियों में मानव के महत्त्व का, उसके त्याग, दया, औदार्य, वीरत्व आदि गुणों का, वर्णन हुआ है, अतः इनका ध्यानपूर्वक पढ़ना मानव के चरित्र-निर्माण में सहायक होता है। मानव के इन महत्त्वपूर्ण गुणों को उद्भासित करके उन्हें लोक-रुचि का विषय बनाने के अभिप्राय से ही कवि ने 'कथा' की रचना की है। 'काहिनी' की रचना भी उसी वर्ष हुई है। विषय भी दोनों का एक है। 'कथा' और 'काहिनी' की बहुत-सी आख्यायें बौद्ध गाथाओं से ली गई हैं। इन्हीं कथाओं में से एक 'अभिसार' है जो बहुत प्रसिद्धि पा चुकी

हूँ तो वही प्रेम का महाबन्धन आनन्दमयी वेदना से मेरा अन्तर भर देता है। वही मेरा धर्म है।

है। इसमें कवि ने दिखाया है कि अपने पड़ोसी के प्रति किस प्रकार का स्नेह होना चाहिए—

संन्यासी उपगुप्त
मथुरापुरीर प्राचीरेर तले
एकदा छिलेन सुप्त;—
नगरीर दीप निबेछे पवने,
दुआर रुद्ध पौर भवने,
निशीथेर तारा श्रावण गगने
घनमेघे अवलुप्त।
काहार नूपुर शिंजित पद
सहसा बाजिल वक्षे।
संन्यासीवर चमकि जागिल
स्वप्न जड़िमा पलके भागिल
रूढ़ दीपेर आलोक लागिल
क्षमा सुन्दर चक्षे।
नागरीर नटि चले अभिसारे
यौवन मदे मत्ता।
अंगे आँचल सुनील वरण,
रुनुभुनु रवे बाजे आभरण;
संन्यासी गाये पड़िते चरण,
थामिल वासवदत्ता;
प्रदीप धरिया हेरिल ताँहार
नवीन गौर कान्ति;
सौम्य सहास तरुण बयान,
करुण किरणे विकच नयान,
शुभ्र ललाटे इन्दु समान
भातिछे स्निग्ध शान्ति।
कहिल रमणी ललित कण्ठे

नयने जड़ित लज्जा ;
"क्षमा करो मोरे कुमार किशोर,
दया करो यदि गृहे चलो मोर,
ए धरणी तल कठिन कठोर।
ए नहे तोमार शज्जा।"
संन्यासी कहे करुण बचने
"अयि लावण्य पुन्जे !
एखनो आमार समय हयनि,
जेथाय चलेछ, जाओ तुमि धनि,
समय जे दिन आसिबे, आपनि
जाइब तोमार कुंजे।"
सहसा झंझा तड़ित शिखाय
मेलिल विपुल आस्य।
रमणी काँपिया उठिल तरासे,
प्रलय शंख बाजिल बातासे,
आकाशे वज्र घोर परिहासे
हासिल अट्टहास्य।
वर्ष तखनो हय नाइ शेष,
एसेछे चैत्र-संध्या।
बातास हयेछे उतला आकुल,
पथ-तरुशाखे धरेछे मुकुल,
राजार कानन फुटेछे वकुल
पारुल रजनीगन्धा।
अनि दूर हते आसिछे पवने
बाँशिर मदिर-मन्द्र।
जनहीन पुरी, पुरवासी सबे,
गेछे मधुवने फूल-उत्सवे,
शून्य नगरि निरखि' नीरवे

हासिछे पूर्ण चन्द्र ।
निर्ज्जन पथे ज्योत्स्ना-आलोते
संन्यासी एका यात्री ।
माथार उपरे तरुवीथिकार
कोकिल कुहरि' उठे बारबार,
एत दिन परे एसेछे कि ताँर
आजि अभिसार-रात्रि ?
नगर छाड़ाये गेलेन दण्डी
बाहिर प्राचीर-प्रान्ते ।
दाँड़ालेन आसि' परिखार पारे,
आम्र-बनेर छायार आँधारे,
के ओइ रमणी पड़े एक धारे
ताँहार चरणोपान्ते ।
निदारुण रोगे मारी-गुटिकाय
भरे गेछे तार अंग,
रोग मसी-ढाला काली तनु तार
लये प्रजागणे पूर-परिखार
बाहिरे फेलेछे, करि, परिहार
विषाक्त तार संग ।
संन्यासी वसि' आड़ष्ट शिर
तूलि' निल निज अंगे ।
ढालि' दिल जल शुष्क अधरे,
मन्त्र पड़िया दिल शिर' परे,
लेपि' दिल देह आपनार करे
शीत चन्दन-पंके ।
झरिछे मुकुल, कुजिछे कोकिल,
यामिनी जोछना मत्ता ।
"के एसेछ तुमि ओगो दयामय"—

शुधाइल नारी, संन्यासी कय--
"आजि रजनीते हयेछे समय,--
एसेछ वासवदत्ता।"*

---

* एक दिन संन्यासी उपगुप्त मथुरापुरी के प्राचीर के नीचे पड़े सो रहे थे। नगर के दीपक पवन के कारण बुझ चुके थे; घरों के द्वार बन्द थे और सावन के आकाश में अर्धरात्रि के तारे घने मेघों में छिप गये थे। किसी के नुपुर-शिंजित चरण सहसा उनके वक्ष से लगकर बजे। संन्यासी चौंककर जग पड़े, आँखों से नींद भाग गई; दीपक का प्रकाश उनके क्षमापूर्ण नेत्रों पर पड़ा। नगर की वेश्या यौवनमद में मत्त होकर प्रेमी से मिलने जा रही थी। शरीर पर नीले वर्ण का आँचल था; आभूषण रुन-झुन वज रहे थे; संन्यासी के शरीर पर चर पड़ते ही वासवदत्ता रुक गई। तब उसने दीपक लेकर उनकी नवीन गौर कान्ति देखी, सौम्य और हासपूर्ण तरु अवस्था थी; दया की किरणों से नयन खिल रहे थे; शुभ्र मस्तक पर चन्द्रमा के समान स्निग्ध शान्ति विराज रही थी। रमणी ने मधुर कण्ठ से आँखों में लज्जा भरकर कहा--"मेरे किशोर कुमार! मुझे क्षमा करो! दया करके मेरे घर पर चलो; यह कठोर धरणीतल तुम्हारे सोने योग्य नहीं है।" संन्यासी करुण शब्दों में कहने लगे--"हे सुन्दरी, इस समय हमारे जाने का समय नहीं है। तुम जहाँ जाना चाहती हो, जाओ। जिस दिन मेरे जाने का समय आयेगा मैं आपसे आप तुम्हारे घर पर पहुँच जाऊँगा।" अचानक बिजली का प्रकाश संन्यासी के मुँह पर पड़ा; प्रलय शंख वजे और आकाश वज्र की हँसी में अट्टहास करने लगा। वासवदत्ता भय से काँपने लगी।

वर्ष बीता नहीं था; चैत्र की संध्या आई; वायु व्याकुल होकर बहने लगी; मार्ग के वृक्षों की शाखाओं ने फूल धारण किये। राजवनों में बकुल, पारुल और रजनीगन्धा खिल उठे। पवन में बहुत दूर से वंशी की मधुर ध्वनि आ रही थी। नगर जनहीन था, उसके सब निवासी फूल-उत्सव में मधुवन गये थे। चन्द्रदेव शून्य नगर देखकर

एक अन्य चुटकुले में पुस्तक काटनेवाले एक कीड़े की व्यंग्योक्ति बड़े सुन्दर ंग से कही गई है। एक कीड़ा महाभारत की जिल्द घुस जाता है और उसे काटता हुआ एक ओर से दूसरी ओर तक पहुँच जाता है। पुस्तक पढ़नेवाला जब पुस्तक खोलता है और उसे कीड़े के म चरित्र का पता लगता है तब उसे बड़ा दुःख होता है। वह कीड़े से कहता है—"कीट, तुमने यह क्या किया ? पृथ्वी पर तुम्हारे लिए भोजन का अभाव नहीं था। वहीं तुम अपने दाँत भी पैने कर सकते थे और पेट भी भर सकते थे।" कीड़े ने उत्तर दिया—"तो इसमें हानि ही क्या हुई जो आप तना क्रोध करते हैं ? इस पुस्तक में था ही क्या, केवल कुछ काले-काले निशान, जिन्हें मैं समझ नहीं सकता था। मेरी समझ में जो नहीं आता, उसे मैं व्यर्थ समझता हूँ। इसी लिए स पुस्तक को जहाँ से जी चाहा मैंने काटा खाया।"

'कणिका' में जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, छोटे-छोटे चुट-

चुपचाप हँस रहे थे। आज संन्यासी चाँदनी से प्रकाशित मार्ग पर अकेले चल रहे थे। सिर के ऊपर वृक्ष की पंक्तियों में कोकिल बार-बार कूक उठती थी। क्या इतने दिन पश्चात् आज उसकी अभिसार-रात्रि आई थी ? संन्यासी नगर से निकलकर बाहर प्राचीर के पास पहुँचे और प्राचीर के पार आम्र-वृक्षों के घनी छाया के अन्धकार में जा खड़े हुए। अरे ! यह कौन स्त्री अकेली उनके चरणों के पास पड़ी है जो भयानक रोग से पीड़ित है ! तमाम शरीर छालों से भरा आ है, शरीर स्याही के समान काला और जर्जर हो गया है। नगर-निवासियों ने रोग के भय से उसे नगर से निकालकर बाहर फेंक दिया है। संन्यासी उसके पास बैठ गए और उसे अपनी गोद में उठा लिया। उसके सूखे अधरों में पानी डाला। शिर पर मन्त्र उच्चारण किया और उसके शरीर पर अपने हाथों से घिसकर शीतल चन्दन का लेप किया। फूल झर रहे थे; कोकिल कूज रही थी; चाँदनी रात थी; स्त्री ने पूछा—"हे दया-मय ! तुम कौन हो ?" संन्यासी ने उत्तर दिया—"वासवदत्ता ! वह अवसर आज रात में आया है।"

कुले पद्यरूप में दिये गये हैं। इन चुटकुलों का साहित्यिक महत्त्व भले ही अधिक न हो, पर इनमें हमें जीवन की प्रकीर्ण इकाइयों के अध्ययन करने का अवसर मिलता है और यही इनकी साहित्यिक उपयोगिता है। जीवन अनेक ऐसी छोटी-छोटी घटनाओं से मिलकर बनता है जिनकी पृथक् रूप से कोई महत्ता नहीं होती। पर इन्हीं छोटी घटनाओं में से बहुत-सी ऐसी भी होती हैं जो जीवन को निश्चित दिशा की ओर मोड़ देने की क्षमता रखती हैं। 'कणिका' में ऐसी ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद घटनाओं का संकलन हुआ है। 'शक्तेर क्षमा' में नारद और पृथ्वी के बीच होनेवाले वार्त्तालाप का उल्लेख इस कार आ है—

नारद कहिलो आसि—हे धरणीर देवी,
तव निन्दा करे नर तव अन्न सेवी।
बले माटि, बले धूलि, बले जड़ स्थूल,
तोमारे मलिन बले अकृतज्ञ कल।
बन्ध करो अन्न जल, मुख होक चूण
धूलामाटि कि जिनिष बाछारा बुझून!
धरणी कहिला हासि—बालाइ, बालाइ।
ओरा कि आमार तुल्य, शोध लवो ताइ,
ओदेर निन्दाय मोरे लागिबे ना दाग,
ओरा जे मरिबे जदि आमि करि राग।*

---

* नारद कहने लगे—हे धरणीदेवी, तुम्हारे ही अन्न से पलनेवाला मनुष्य तुम्हारी निन्दा करता है और तुम्हें मिट्टी, धूल, जड़, स्थूल और मलिन कहता है। वह बड़ा कृतघ्न है। तुम अन्न-जल देना बन्द कर दो तो उनका मुख चून हो जाय और बचा लोगों को पता लग जाय कि धूल-मिट्टी क्या वस्तु होती है। पृथ्वी कहने लगी, मेरी बला से, वे क्या मेरे समकक्ष हैं जो मैं उनसे बदला लूँ। उनकी निन्दा से मुझमें दाग नहीं लगेगा। परन्तु मेरे क्रोध करने से तो वे सब मर ही जायँगे।

इसी प्रकार 'आकांक्षा' में दिखाया गया है कि गुणियों को अपने गुण से कभी सन्तोष नहीं होता और वे सदैव अपने को अपूर्ण समझते हुए अन्यों के श्रेष्ठ गुणों की आकांक्षा करते रहते हैं—

आम्र तोर कि हइते इच्छा जाय बल् !
से कहे हइते इक्षु सुमिष्ट सरल।—
इक्षु तोर कि हइते मने आछे साध !
से कहे हइते आम्र सुगन्ध सुस्वाद।*

'क्षणिका' में बोलचाल की बंगला में शब्दसौष्ठव-पूर्ण गीत रखकर कवि ने एक उदाहरण उपस्थित किया है। इन गीतों का शब्द-माधुर्य और झंकार मनोमोहक हैं। न्हें गाते समय ज्ञात होता है मानो कवि ने अपने चित्त से समस्त विचारों, कल्पनाओं, अनुभूतियों, व्यथाओं और समस्याओं का दुरूह भार कुछ समय के लिए उतार कर फेंक दिया है और वह किसी क्षणिक आवेग में आकर केवल गीत गाना चाहता है। इस प्रकार के मस्ती भरे गीत कवि की अन्य पुस्तकों में नहीं मिलते। कवि स्वयं कहता है—

शुधू अकारण पुलके
क्षणिकेर गान गा' रे आजि प्राण
क्षणिक दिनेर आलोके †

बोलचाल की भाषा का उपयोग कवि ने इस संग्रह के गीतों में इस उद्देश्य से किया है जिससे अधिक-से-अधिक जनता इन्हें समझ सके। आलोचकों ने इस पुस्तक की भाषा पर आपत्ति करते हुए इसे

---

* आम, बताओ तुम क्या होना चाहते हो? उसने उत्तर दिया—मैं सुमिष्ट और सरल ईख होना चाहता हूँ। ईख, बताओ तुम क्या होना चाहती हो? उसने कहा—मैं सुगंधित और स्वादिष्ट आम बनना चाहती हूँ।

† केवल अकारण प्राप्त हर्ष में, हे प्राण, आज दिन के क्षणिक प्रकाश में क्षणिक (क्षणस्थायी) के गीत गा।

फूहड़ और गँवारू कहा था। इस पुस्तक की एक कविता में कवि ने अपने उन आलोचकों की जो केवल आलोचना करने के लिए आलोचना करते हैं, एक व्यंग्य-द्वारा अच्छी तरह खबर ली है। वे लिखते हैं—"अगले जन्म में मैं अपनी रचनाओं के उग्र आलोचक के रूप में जन्म लूँगा। जो आलोचक आज मेरे विरोधी हैं तब वे ही मेरे सबसे बड़े समर्थक और प्रशंसक दिखाई देंगे। पर इन आलोचकों के कहने से इस समय कविता छोड़ देना मेरे लिए सम्भव नहीं है। अब मेरा बुढ़ापा आ रहा है और कविता आरम्भिक जीवन से ही मेरी चिरप्रणयिनी सहचरी रही है। उसे मैंने सर्वस्व का त्याग करके भी अपने हृदय से लगाकर रक्खा है।"

'कल्पना' के गीत शुद्ध कल्पनाप्रसूत हैं। इन गीतों से स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है कि अब कवि का हृदय महान् जीवन की ओर उन्मुख हो रहा है। जीवन-सन्धि की वेला में रचित यह काव्य अपने समय के ठीक अनुरूप हुआ है। अतएव इसकी कविताओं में जहाँ एक ओर सौन्दर्य के प्रति युवकोचित आकर्षण है वहाँ दूसरी ओर प्रौढ़ जीवन की गम्भीरता विद्यमान है। 'स्वप्न' पहली प्रकार की कविताओं का अच्छा उदाहरण है—

> दुजने भाविनु कत द्वार तरुतले
> नाहि जानि कखन कि छले
> सुकोमल हातखानि लुकाइल आसि
> आमार दक्षिण करे,—कूलाय प्रत्याशी
> सन्ध्यार पाखीर मत, मुख खानि तार
> नतवृन्त पद्मसम ए वक्षे आमार
> नमिया पड़िल धीरे—व्याकुल उदास
> निःशब्दे मिलिल आसि निःश्वासे निःश्वास।*

---

* दोनों द्वार के वृक्ष के नीचे कितनी ही चिन्ता कर रहे थे। नहीं जानता, किस समय किस छल से उसके सुकोमल हाथ आकर हमारे दाहिने हाथ में छिप रहे—नीड़ की ओर उत्कण्ठित भाव से चलनेवाले

दूसरी प्रकार की कविता के उदाहरण में 'रात्रि' को उपस्थित किया जा सकता है—

मोरे करो सभा कवि ध्यानमौन तोमार सभाय
हे शर्वरी हे अवगुंठिता !
तोमार आकाश जुड़ि युगे युगे जपिछे याहारा
विरचिब ताहादेर गीता।
तोमार तिमिर तले ये विपुल निःशब्द उद्योग
भ्रमिते छे जगते जगते
आमारे तूलिया लओ से तार ध्वजचक्र हीन
नीरव घर्घर महारथे।
स्तम्भित तमिस्र पुञ्ज कम्पित करिया अकस्मात्
अर्धरात्रे उठिछे उच्छ्वासि
सद्यस्फुट ब्रह्ममंत्र आनन्दित ऋषि कण्ठ ह'ते
आन्दोलिया घन तंद्राराशि
पीड़ित भुवन लागि महायोगी कल्पना कातर
चकिते विद्युत् रेखावत
तोमार निखिल लुप्त अंधकारे दाँड़ाए एकाकी
देखेछे विश्वेर मुक्तिपथ।
जगतेर सेइ सब यामिनीर जागरूक दल
संगीहीन तव सभासद
के कोथा वसिया आछे आजि रात्रे धरणीर माझे
गणितेछे गोपन सम्पद;
केह कारे नाहि जाने, आपनार स्वतंत्र आसने
आसीन स्वाधीन स्तब्धच्छवि;

संध्या के पक्षी की भाँति; उसका मुख नतवृन्त पद्म की भाँति मेरे इस वक्ष पर धीरे से झुक पड़ा। व्याकुल और उदास निःशब्दता में निःश्वास से निःश्वास मिल गए।

हे शर्वरी सेइ तव वाक्यहीन जाग्रत सभाय
मोरे करि दाओ सभा कवि।*

'नैवेद्य' की रचना सन् १९०१ में हुई थी। इसे कवि की विनय-पत्रिका कहा जा सकता है। इसके सब गीतों में प्रभु के प्रति भक्त का आत्मनिवेदन और आत्मसमर्पण है। भौतिक प्रेम-सम्बन्धी कोई गीत इस संग्रह में स्थान नहीं पा सका। न गीतों में से कुछ तो वैष्णव भक्तों के गीतों से मिलते-जुलते हैं, जिनमें कवि या भक्त अपने भगवान् को विभिन्न रूपों में देखता और सर्वदा अपने समस्त क्रियाकलापों में सोते-जागते, चलते-फिरते, उसकी सत्ता का—अपने समीप उसकी उपस्थिति का—अनुभव करता है, कुछ गीतों में उपनिषदों के प्रकार की स्तुतियाँ हैं। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर उपनिषदों के भक्त थे और रवीन्द्रनाथ का भी उपनिषदों का अध्ययन गहरा था, अतः उनकी कविता पर उप-निषदों की गहरी छाप होना स्वाभाविक है। इनके अतिरिक्त कुछ

---

* हे शर्वरी ! हे अवगुंठिता ! मुझे अपनी ध्यानमौन सभा का सभा-कवि बना लो। तुम्हारे आकाश से संलग्न होकर जो लोग युग-युग से जप रहे हैं, उनकी गीता रचूँगा। तुम्हारे अन्धकार के तले जो विपुल निश्शब्द उद्योग संसार में चल रहा है, मुझे भी अपने उसी ध्वजचक्रहीन नीरव रथ पर चढ़ा लो। स्तम्भित अन्धकार के पुञ्ज को कम्पित करता हुआ और घनी तन्द्राराशि को आन्दोलित करता आ सद्यःस्फुट ब्रह्ममंत्र अर्धरात्रि में आनन्दित ऋषिकण्ठ से उच्छ्वसित हो उठता है। पीड़ित ंसार के लिए कल्पना कातर महायोगी विद्युत्‌रेखा की भाँति चकित होकर तुम्हारे सबको छिपा लेनेवाले अन्धकार में अकेला खड़ा विश्व के उद्धार का मार्ग देखता है। जगत् की यामिनी का यही सं ाहीन जागनेवाला दल जो तेरी सभा का सभासद् है, आज रात्रि में पृथ्वी पर कौन कहाँ बसा है, इस गुप्त सम्पत्ति की गणना कर रहा है ! कौन किसे नहीं जानता ? अपने स्वतंत्र आसन पर आसीन है। स्तब्धच्छवि शर्वरी, मुझे अपनी उसी वाक्यहीन जाग्रत् सभा का सभा-कवि बना लो।

प्रार्थनागीत ऐसे हैं जिनमें आत्म-समर्पण या आत्मनिवेदन के साथ-साथ देश-प्रेम की भावना व्यक्त हुई है। अर्थात् उन गीतों में प्रभु से भारत के उद्धार के लिए प्रार्थना की गई है।

इस संग्रह के प्रथम गीत में ही कवि प्रभु से उसके सम्मुख सदैव--शरीर और मन की सभी अवस्थाओं में--उपस्थित रहने की प्रतिज्ञा करता है--

प्रतिदिन आमि हे जीवन स्वामी
दाँड़ाब तोमार सम्मुखे
करि जोड़कर हे भुवनेश्वर
दाँड़ाब तोमारि सम्मुखे।
तोमार अपार आकाशेर तले
बिजने बिरले हे--
नम्रहृदये नयनेर जले
दाँड़ाब तोमारि सम्मुखे।
तोमार ए भवे मोर काज जबे
समापन हबे हे
ओगो राजराज एकाकी नीरवे
दाँड़ाब तोमारि सम्मुखे !*

कवि को भय है कि कहीं ऐसा न हो कि प्रभु आयें और उसके हृदय-द्वार को बन्द देखकर फिर जायें। अतएव वह अपने प्रभु से विनय करता है--

यदि ये आमार हृदय दुयार
वन्ध रहेगो कभू

---

*हे जीवन-स्वामी, हे भुवनेश्वर, दोनों हाथ जोड़कर मैं तुम्हारे सामने उपस्थित रहूँगा। तुम्हारे अपार आकाश के नीचे, निर्जन में, नम्रहृदय, आँखों में जल भरे तुम्हारे सामने उपस्थित रहूँगा। जब स संसार में मेरा कार्य पूरा हो जायगा, हे राजराज, तब नीरव एकान्त में तुम्हारे सम्मुख उपस्थित रहूँगा।

द्वार भेङे तुमि एशो मोर प्राणे
फिरियो जेयो ना प्रभू।

यदि कोनो दिन ए वीणार तारे
तव प्रिय नाम नाहि झंकारे
दया करे तुमि क्षणेक दाँड़ायो
फिरिया जेयो ना प्रभू।

तव आह्वाने यदि कभू मोर
नाहिं भेङे जाय सुप्तिर घोर
वज्र वेदने जगायो आमाय
फिरिया जेयो ना प्रभू।

यदि कोने दिना तोमार आसने
आर काहा केऊ वसा जतने,
चिर दिवसेर हे राजा आमार
फिरिया जेयो ना प्रभू।*

वह भगवान् से प्रार्थना करता है, अपने हृदय में ज्ञान का प्रकाश करने की, जिससे ज्ञानोपलब्धि के लिए उठाया हुआ उसका सभी परिश्रम सफल हो जाय—

आमार ए घरे आपनार करे
गृह दीपखानि ज्वालो।

---

* हे प्रभु, यदि मेरे हृदय का द्वार कभी वन्द रहे, तो तुम द्वार को तोड़कर मेरे प्राणों में आ जाना, लौट न जाना। यदि किसी दिन इस वीणा के तार तुम्हारा नाम न झंकारें तो तुम दया करके क्षण भर प्रतीक्षा करना, लौट न जाना। यदि कभी आपके आह्वान से मेरी घोर निद्रा दूर न हो तो मुझे वज्रवेदना से जगा देना, लौट न जाना। यदि किसी दिन तुम्हारे आसन पर मैं किसी और को बैठाने का यत्न करूँ तो, हे मेरे चिरकाल के राजा, तुम फिर न जाना।

सब दुख शोक सार्थक होक
लभिया तोमार आलो ।*

कवि के हृदय में अपने प्रभु की अनन्य भक्ति है। वह प्रभु का गान करने के लिए उपयुक्त क्षमता की प्रार्थना करता है—

प्रतिदिन तव गाथा
गाबो आमि सुमधूर
तुमि मोरे दाओ कथा
तुमि मोरे दाओ सूर।
तुमि जदि थाको मोरे
विकच कमलासने
तुमि जदि करो प्राण
तव प्रेमे परिपूर
प्रतिदिन तव गाथा
गावो आमि सुमधूर।
तुमि जदि शोनो गान
आमार समुखे थाकि
सुधा जदि करे दान
तोमार उदार आँखि
तुमि जदि दुःख परे
राखो हाथ स्नेह भरे
तुमि जदि सुख हते
दम्भ करहो दूर
प्रतिदिन तव गाथा
गाबो आमि सुमधूर।†

---

* मेरे इस घर में अपना वासस्थान बनाकर दीपक जलाओ। तुम्हारा आलोक पाकर मेरे सब दुःख-शोक सार्थक हो जायँगे।

† मैं प्रतिदिन तुम्हारी मधुर कीर्त्ति का गान करूँगा, तुम मुझे शब्द दो, तुम मुझे स्वर दो। यदि तुम मेरे खिले हुए पद्मासन पर बैठो, तुम

यौवनागम में संसार के सुखभोगों की आसक्ति ने कवि से कहलाया था कि मैं मृत्यु नहीं चाहता। मैं इस सुन्दरतापूर्ण जगत् में सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं के बीच जीवित रहना चाहता हूँ। वही कवि अब मृत्यु को अपने प्रभु का दूत समझकर प्यार करने लगा है। वह ृत्यु आने पर उसका सत्कार करेगा—

पाठाइल आज मृत्युदूत
आमार घरेर द्वारे,
तव आह्वान करि से वहन
पार ह' ये एल पारे।
आज ए रजनी तिमिर आधार
भय भारातुर हृदय आमार;
तबू दीप हाते खूलि दिया द्वार
नमिया लइबो तारे।
पूजिबो ताहारे जोड़ि का करि
व्याकुल नयन जले ;
पूजिबो ताहारे, पराणेर धन
साँपिया चरण तले।
आदेश पालन करिया तोमारि
जाबे से आमार प्रभात आँधारि
शून्य भवने बशि तव पाये
अर्पिबो आपनारे।*

यदि प्राणों को अपने प्रेम से परिपूर्ण करो, तो मैं तिदिन तुम्हारी मधुर कीर्ति का गान करूँगा। यदि तुम मेरे सामने बैठकर मेरे गीत सुनो, यदि तुम्हारी उदार आँख मुझे सुधादान करे, दुःख पड़ने पर यदि तुम अपना स्नेहपूर्ण हाथ रक्खो, यदि सुख होने पर मन में अभिमान न आने दो, तो मैं प्रतिदिन तुम्हारी मधुर कीर्ति का गान करूँगा।

* आज मेरे घर के द्वार पर तुमने मृत्युदूत भेजा। वह तुम्हारा आह्वान लेकर इस पार आया। आज की रात अँधेरी है, मेरा हृदय

कवि को अपने प्रभु में अटूट विश्वास है। वह जानता है कि भगवान् जिसे जो काम सौंपते हैं उसे उसको पूरा करने की शक्ति भी अवश्य देते हैं। भगवान् के दिये दुःख को वह भोगना चाहता है और उसी दुःख से दुःख को दूर करना चाहता है, क्योंकि भक्ति दुःख में ही ठीक बन आती है, इसी लिए वह दुःख के साथ-साथ भक्ति की भी याचना करता है—

तोमार पताका जारे दाओ, ता' रे
वहिवार दा ओ शकति।
तोमार सेवार महत् प्रयास
सहिवारे दाओ भकति।
आमि ताइ चाइ भरिया परान
दुःखेरि साथे दुःखेर त्राण
तोमार हातेर वेदनार दान
एड़ाये चाहिना मुकति
दुःख हवे मोर माथार माणक
साथे जदि दाओ भकति।†

भय से आतुर है। तब भी हाथ में दीपक लेकर द्वार खोल दूँगा और प्रणाम करके उसका स्वागत करूँगा। हाथ जोड़कर और नेत्रों में जल भरकर उसका सत्कार करूँगा। अपना प्राणधन उसके चरणों में सौंपकर उसकी पूजा करूँगा। वह तुम्हारी आज्ञा का पालन करके मेरे प्रभात को अँधेरा करके जब लौट जायगा तब शून्य भवन में बैठकर मैं तुम्हारे चरणो में अपने आपको समर्पित करूँगा।

† तुम जिसे पताका देते हो, उसे उसको वहन करने की शक्ति भी देते हो। सेवा का परिश्रम सहन करने के लिए तुम भक्ति देते हो। मैं अपने हृदय से यह चाहता हूँ कि दुःख के द्वारा ही दुःख से छुटकारा पाऊँ। जो वेदना तुम्हारे हाथ का दान है उससे बचकर मैं मुक्ति नहीं चाहता। यदि तुम साथ में भक्ति भी दो तो दुःख को मैं अपने माथे का मणि समझकर ग्रहण करूँगा।

कवि महान् जीवन की ओर अग्रसर है। वह मुक्ति के नाम से पलायनवाद का समर्थन नहीं कर सकता, वह उस मुक्ति को अग्राह्य मानता है जिसकी प्राप्ति संसार से विरक्त होकर योग-साधन करने से होती है। वह कर्मक्षेत्र में अनवरत उद्योग करते हुए ही मुक्ति चाहता है। वह बन्धनों से बन्धनों को, दुःखों से दुःखों को नष्ट करना चाहता है। वह अपने मोह को मुक्ति के रूप में जलता देखना चाहता है—

वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय।
असंख्य बन्धन माझे महानंदमय
लभिबो मुक्तिर स्वाद।
.......इन्द्रियेर द्वार
रुद्ध करि योगासन, से नहे आमार।
जे किछू आनन्द आसे दृश्ये गन्धे गाने
तोमार आनन्द र'बे ता'र माझखाने।
मोह मोर मुक्तिरूपे उठिबे ज्वलिया,
प्रेम मोर भक्ति रूपे रहिबे फलिया।*

अपने प्रभु की भक्ति में लीन कवि विश्वात्मा के साथ परम अभिन्नता का अनुभव कर रहा है। उसे युग-युगान्तर का विराट् स्पन्दन अपनी नाड़ियों में नर्त्तन करता प्रतीत होता है—

जे अमार शरीरेर शिराय शिराय
जे प्राण तरंगमाला रात्रि दिन
सेइ प्राण छूटियाछे विश्व दिग्विजये।

---

*जो मुक्ति वैराग्य-साधन से प्राप्त होती है वह मेरी मुक्ति नहीं है। मैं असंख्य बन्धनों के बीच महानंदमय मुक्ति का स्वाद लाभ करूँगा। योगासन लगाकर इन्द्रियों के द्वार रोक रखना, यह मेरा काम नहीं। दृश्य में, गन्ध में और गान में जो कुछ आनन्द है उसके मध्य में तुम्हारा आनन्द रहेगा। मेरा मोह मुक्ति के रूप में जल उठेगा और मेरा प्रेम भक्ति के रूप में फलित होगा।

से प्राण अपरूप छन्दे ताले ल`
नाचिछे भुवने।
सेइ जुग जुगान्तेर विराट् स्पन्दन
आमार नाड़ीते आजि करिछे नर्त्तन।*

देश-प्रेम-सम्बन्धी एक गीत में कवि भगवान् से भारत को स्वाधीनता—आध्यात्मिक स्वाधीनता—प्रदान करने की प्रार्थना करता है। वह स्वाधीनता ऐसी होनी चाहिए जिससे भारत को आकाश में अपना सिर ऊँचा उठाने का अवसर मिले और दासत्व की अवमानना से उसे मुक्ति मिल जाय। भारत की पराधीनता के प्रति अपार वेदना कवि की इन पंक्तियों में प्रकट हुई है। जब तक देशनिवासियों के हृदयों से लोकभय, राजभय और सबसे बढ़कर मृत्युभय दूर नहीं हो जाता, तब तक देश की दासता भी दूर नहीं होती—

ए दुर्भागा देश हते हे मंगलमय
दूर करे दाओ तूमि सर्व तुच्छभय,—
लोकभय, राजभय, मृत्युभय आर।
× × एइ चिरपेषण यंत्रणा, धूलितले
ए नित्य अवनति, दण्डे पले पले
ए आत्म अवमान, अन्तरे बाहिरे
ए दासत्वेर रज्जु, त्रस्त नत शिरे
सहस्रेर पद प्रान्त तले बारंबार
मनुष्य मर्यादा गर्व चिर परिहार—
ए वृहत् लज्जाराशि चरण आघाते
चूर्ण करि दूर करो। मंगल प्रभाते

---

* हमारे शरीर की प्रत्येक शिरा में जिन प्राणों की तरंगें रात्रि-दिन रहती हैं, वे ही प्राण विश्व-विजय के लिए निकल पड़े हैं। वे ही प्राण अपरूप छन्द, ताल और लय में भुवन में नाच रहे हैं। वही युग-युगान्तर का विराट् स्पन्दन आज हमारी नाड़ियों में नाच रहा है।

मस्तक तुलिते दाओ अनन्त आकाशे
उदार आलोक माझे उन्मुक्त वातासे।*

पर देशोद्धार के लिए किये गये खण्ड यत्नों में कवि को विश्वास नहीं है। वह जानता है कि सामूहिक प्रयत्न से ही देश की नौका पार लग सकती है—

एक एक तरणी लक्ष लोकेर निर्भर
खण्ड खण्ड करि तारे तरिबे सागर?†

कवि यह नहीं कहता कि आज ही भगवान् भारत को वह मंगल-प्रभात दिखला दें। वह इसके लिए अनन्तकाल तक प्रतीक्षा करने को तैयार है, क्योंकि वह जानता है कि दैवी-विधान में जल्दबाज़ी नहीं होती। वह एक कली को खिलाने के लिए सौ वर्ष तक प्रतीक्षा कर सकता है—

हे राजेन्द्र, तव हाते काल अन्तहीन
गणना केहना करे रात्रि आर दिन
आसे-जाइ, फूटे-झरे जुग जुगान्तरा।
विलम्ब नाहिक तव, नाहि तव त्वरा,
प्रतीक्षा करिते जानो। शतवर्ष धरे

---

* हे मंगलमय, इस अभागे देश से तुम समस्त तुच्छ भय दूर कर ो। इसके मन से लोकभय, राजभय और मृत्युभय दूर कर दो। × × यह बहुत काल से पिसते आने की पीड़ा, यह धूलितल में नित्य अवनति, पल-पल और दण्ड-दण्ड पर आत्मा का अपमान, भीतर-बाहर से यह दासता का बन्धन, भय कातर होकर सिर झुकाये हजारों के चरणों के नीचे बार-बार मानुषीय मर्यादा और गर्व का परिहार—इस बड़ी लज्जाराशि को अपने चरण के आघात से चूर्ण करके दूर कर दो। मंगल-प्रभात में, इस देश को अपना सिर उदार आलोप में और उन्मुक्त वायुमंडल में अनन्त आकाश में ऊँचा उठाने दो।

† एक एक नौका लाख लाख आदमियों की आधार है। क्या उसे खण्ड खण्ड करके लोग सागर पार करेंगे?

एकटि पुष्पेर कलि फूटावार तरे
चले तव धीर आयोजन।*

कवि भारत के लिए किसी आध्यात्मिक स्वर्ग की कामना नहीं करता, न वह किसी राष्ट्रीय स्वर्ग की या अर्थ-सम्बन्धी स्वर्ग की याचना कर रहा है, वह उन्नत मानव-महिमा का स्वर्ग चाहता है—ऐसा स्वर्ग जिसमें देशवासियों के मन से वह भय निकल जाय जो शताब्दियों से उसकी समस्त चेतनाओं को आवृत किये हुए है। वह उस स्वर्ग की कामना कर रहा है जिसमें देशवासियों का ज्ञान उन्मुक्त हो जाय, उस पर आवरण डालने या बन्धन लगानेवाला कोई न हो—

चित्त जथा भयशून्य, उच्च जेथा शिर
ज्ञान जथा मुक्त, जेथा गृहेर प्राचीर
आपन प्रांग तले दिवस शर्वरी
वसुधारे राखे नाइ खण्ड क्षुद्र करि,
जेथा वाक्य हृदयेर उत्स मुख ह'ते
उच्छ्वासिया उठे, जेथा निर्वारित स्रोते
देशे देशे दिशे दिशे कर्मधारा धाय
अजस्र सहस्र विध चरितार्थ ताय;
जेथा तुच्छ आचारेर मरु बालि राशि
विचारेर स्रोतपथ फेले नाइ ग्रासि,
पौरुषेरे करेनि शतधा; नित्य जेथा
तुमि सर्व कर्म चिन्ता आनन्देर नेता,—

---

* हे राजेन्द्र, तुम्हारे हाथ में अनन्त-काल है, रात-दिन आते-जाते हैं, युग-युगान्तर फूटते-झरते हैं, कोई गणना नहीं करता। तुम्हें न विलम्ब है, न शीघ्रता; केवल प्रतीक्षा करते जाना है। एक कली को पुष्प के रूप में खिलाने के लिए सौ वर्ष तक तुम्हारा धीर आयोजन चलता है।

निजहस्ते निर्दय आघात करि पितः
भारतेरे सेइ स्वर्गे करो जागरित।*

कवि भारत की नींद से व्यथित हो उठा है। वह विविध बाधाओं से जकड़े समाज को नहीं देखना चाहता। न इस प्रकार का देश जीवित रह सकता है, न इस प्रकार का समाज। अतः आज के युग में समाज को, देश को; जागना ही होगा। उसे अपने हृदय को, अपने विचारों को मुक्त करना होगा और इस प्रकार अमृतपुत्र नाम को सार्थक करना ही होगा—

ए मृत्यु छेदिते हवे, एइ भय जाल
ए पुञ्ज पुञ्जीभूत जड़ेर जंजाल
मृत आवर्जना, ओरे जागितेइ हवे
ए दीप्त प्रभात काले एइ जाग्रत भवे
एइ कर्म धामे। दुइ नेत्र करि आँधा
ज्ञाने बाधा कर्मे बाधा, गतिपथे बाधा
आचारे विचारे बाधा करि दिया दूर
धरिते हइबे मुक्त विहंगेर सूर।

× × ×

---

* जहाँ चित्त भय शून्य है, जहाँ मस्तक सदा ऊँचा रहता है, ज्ञान जहाँ बन्धन-मुक्त है, जहाँ घर की दीवाल दिन-रात अपने आँगन में वसुधा को खण्ड-खण्ड रूप में विभक्त किये हुए नहीं है, जहाँ वाक्य हृदय के मूल झरने से उच्छ्वासित हो उठता है, जहाँ निरन्तर अप्रतिहत रूप से कर्मधारा वाहित होती हुई देश-देश और दिशा-दिशा को प्लावित करती हुई सहस्र रूपों में चरितार्थता प्राप्त करती है; जहाँ तुच्छ रीति-रस्मों की सिकता विचारों के स्रोत को रोककर व्यक्ति के पौरुष के सैकड़ों टुकड़े नहीं कर डालती, जहाँ तुम्हीं सब कामों के और विचारों के नेता हो; हे पिता, इसी स्वर्ग में इस देश की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से तुम अपने हाथ से उसपर निर्दय आघात करो।

"ओगो दिव्य धामवासी देवगण जतो
मोरा अमृतेर पुत्र तोमादेर मतो।"*

कवि के जो गीत उपनिषदों से अनुप्राणित हैं उनमें न केवल उपनिषदों के मन्तव्यों की सुबोध व्याख्या है, उपनिषद् के भावों में भी अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया गया है। उपनिषदों ने अग्नि में, जल में, समस्त भुवनों में, ओषधियों में और वनस्पतियों में समान रूप से व्याप्त एक महच्छक्ति का उपदेश किया है।† कवि ने इसी भाव को स प्रकार दिखलाया है—

हे सकल ईश्वरेर परम ईश्वर
तपोवन तरुच्छाये मेघमन्द्र स्वर
घोषणा करिया छिल सबार उपरे
अग्निते जलेते एइ विश्व चराचरे
वनस्पति ओषधिते एक देवतार
अखण्ड अक्षय ऐक्य।‡

*इस मृत्यु का नाश करना होगा, इस भयजाल, इस एकत्रीभूत मूर्खता के बन्धन को, इस मृतक जैसे परित्याग को नष्ट करना होगा। इस प्रदीप्त भात-काल में, इस जाग्रत् संसार में, इस कर्मक्षेत्र में जागना होगा। दोनों नेत्रों को अन्धा करके ज्ञान में, कर्म में, गतिपथ में, आचार-विचार में जो बाधायें डाल दी गई हैं उन्हें दूर करके मुक्त पक्षी का स्वर धारण करना होगा।

(और तब सब देवताओं को सुनाकर कहना होगा—

"हे स्वर्गनिवासी समस्त देवतागण, हम भी तुम्हारी ही भाँति अमृत पुत्र हैं।"

† यो देवोऽग्नौ योऽप्सु
यो विश्वं भुवनमाविवेश
यो ओषधिषु यो वनस्पतिषु
तस्मै देवाय नमोनमः।

‡ हे सकल ईश्वरों के परमेश्वर! तपोवन के वृक्षों की छाया में मेघमन्द्र स्वर में सबके लिए घोषणा की थी कि अग्नि में, जल में, इस

सी प्रकार—

अग्निर प्रत्येक शिखा तव भये काँपे
वायुर प्रत्येक श्वास तोमारि प्रतापे
तोमारि आदेश वहि मृत्यु दिना राति*

× × ×

ताहाँरा देखिया छेन—विश्व चराचर
झरिछे आनन्द हते आनन्द निर्झर; †

में उपनिषद् के निम्न दो श्लोकों का भाव सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त हुआ है—

भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः
भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।
(कठोपनिषद्)

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते
आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति।
(तैत्तिरीय)

इसी प्रकार उपनिषद् का एक और भाव 'नैवेद्य' की एक कविता में बड़े मनोहर ढंग से व्यक्त हुआ है। जो उपाय आज से हज़ारों वर्ष पूर्व वनवासी ऋषियों ने मृत्यु को पार करने के लिए बताया था, वही

चराचर विश्व में, वनस्पतियों और ओषधियों में एक देवता का अखण्ड और अक्षय्य ऐक्य है।

* अग्नि की प्रत्येक शिखा तुम्हारे भय से काँपती है; वायु की प्रत्येक श्वास तुम्हारे प्रताप से (काँपती है); तुम्हारे ही आदेश से मृत्यु रात-दिन दौड़ा करती है।

† तुम्हें देखकर चराचर विश्व आनन्द से उल्लसित होकर आँसू बहाने लगता है।

पथ, केवल वही पथ कवि की सम्मति में आज भी भारत के लिए है। इसके उद्धार का और कोई मार्ग नहीं है—

शोनो विश्वजन
शोनो अमृतेर पुत्र जतो देवगण
दिव्य धामवासी, आमी जेनेछि ताँहारे
महान्त पुरुष जिनि आँधारेर पारे
ज्योतिर्मय; ताँरे जेने; ताँर पाने चाहि
मृत्युरे लंघिते पारे, अन्य पथ नाहि।
रे मृत भारत—शुध सेइ एको आछे नाहि अन्य पथ।*

उपनिषद् का उक्त मंत्र यह है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा—
आये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
(श्वेताश्वतर)

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(श्वेताश्वतर)

बंगदर्शन का पुनरुद्धार

स्वर्गीय बंकिम बाबू का प्रसिद्ध पत्र 'बंगदर्शन' बहुत दिनों से बन्द हो चुका था। रवीन्द्रनाथ ने सन् १९०१ में उसका प्रकाशन पुनः आरम्भ किया और उसके सम्पादन का भार भी स्वयं लिया। इस समय

---

* हे संसार के मनुष्यो, हे अमृतपुत्रो, समस्त स्वर्गवासी देवताओ, सुनो। मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ जो अन्धकार से परे ज्योतिर्मय है। उसे जानकर ही पार हो सकते हैं। मृत्यु के पार जाने का और कोई पथ नहीं है। हे मृत भारत, तेरे लिए भी केवल यही एक पथ है, अन्य नहीं।

की उनकी कई रचनायें बंगदर्शन में ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित होती रही थीं। दक्षिणी अफ़्रीका की बोअर-जाति के प्रति गोरी जातियों ने अपनी बर्बरता का प्रदर्शन १८९९ के अन्त में ही आरम्भ कर दिया था। संसार के सभी महान् पुरुषों ने गोरी जातियों की इस बर्बरता और स्वार्थपरता के लिए क्षोभ तथा घृणा के भाव दर्शित किये थे। रवीन्द्र-नाथ ने भी इस अत्याचार के विरोध में 'बंगदर्शन' में कई लेख लिखे। यही नहीं, उनके हृदय का विक्षोभ काव्यरूप में भी कट हुआ। 'नैवेद्य' की कुछ कवितायें इसका प्रमाण हैं। रवीन्द्रनाथ का चौथा उपन्यास 'चोखेरबाली' 'बंगदर्शन' में धारावाहिक रूप से निकला था।

'चोखेरबाली' का बंगाली उपन्यास जगत् पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसकी दिशा ही बदल गई। बँगला-साहित्य में यह पहला उपन्यास था जिसमें कथाओं और घटनाओं के जमघट की उपेक्षा करके शुद्ध मनो-विश्लेषण और अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण को प्रधानता दी गई थी। अब तक बँगला में जो उपन्यास लिखे जाते थे उनमें पात्रों और रोमांचकारी घटनाओं को ही आधार बनाया जाता था। रवि बाबू ने 'चोखेर-बाली' में केवल चार प्रधान पात्र और दो-तीन गौण पात्र दिये हैं। घटना भी कोई ऐसी नहीं है जिसे सनसनीपूर्ण और रोचक कहा जा सके। फिर भी समें जो कुछ है वह अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है। कथानक इस प्रकार है—महेन्द्र राजलक्ष्मी का पुत्र है। बिहारी महेन्द्र का मित्र है। महेन्द्र अपना विवाह विनोदिनी से न करके आशा से करता है। विनो-दिनी कुछ दिनों बाद विधवा हो जाती है और संयोगवश महेन्द्र के घर आती है। आशा उसका महेन्द्र से परिचय कराती है। विनोदिनी के मन में अतृप्त वासनाओं की आग है, पर वह उसे बड़ी सावधानी से छिपाये है। उसके मन में महेन्द्र से बदला लेने की भावना भी है। वह अपना प्रेमजाल बड़ी कुशलता से फैलाती है और आशा का एकान्त अनुरागी महेन्द्र उसमें चट फँस जाता है। इसके बाद विनोदिनी उसे भाँति-भाँति के स्वप्न दिखाती है। वह कभी अपूर्व आसक्ति प्रकट करती है तो दूसरे क्षण एकदम विराग। इस धूप-छाँह की माया में महेन्द्र उसके जाल में अधिक से अधिक फँसता जाता है। विनोदिनी कभी-

कभी ऐसी चेष्टा करती है मानो वह विहारी से प्रेम करती है। पर विहारी महेन्द्र की भाँति भोलाभाला बच्चा नहीं है। वह अपने मन और विचारों को संयमित रखने का अभ्यस्त है। विहारी महेन्द्र को भी इस प्रेम-व्यापार से बचने की बार-बार शिक्षा देता है, पर उसकी समझ में कुछ नहीं आता। अन्ततः महेन्द्र विनोदिनी का प्यार पाने में असफल होता है और फिर उसकी चित्तशुद्धि हो जाती है। वह फिर आशा के पास लौट आता है। विहारी विनोदिनी की आसक्ति अपने में देखकर उससे विवाह का प्रस्ताव करता है, तो विनोदिनी तत्काल सँभल जाती है और विहारी को याद दिलाती है कि वह विधवा है और उसके साथ विवाह करके विहारी उसके और अपने गौरव को बचाये नहीं रख सकता। इसी आधार पर वह व्याह करने की स्वीकृति नहीं देती और काशीवास करने चली जाती है।

इसका प्रधान नायक महेन्द्र है। महेन्द्र का अन्तर्द्वन्द्व भी अत्यन्त तीव्र और उलझा हुआ है। परकीया के प्रेम में कितनी तीव्रता होती है, यह महेन्द्र के अन्तर्द्वन्द्व में साफ़ दिखाई पड़ता है। इसी टक्कर का अन्तर्द्वन्द्व विनोदिनी का है। वह निर्णय नहीं कर पाती कि क्या करना उचित। वह महेन्द्र से बदला लेना चाहती है, पर वह स्वयं नहीं जानती कि इसमें उसका स्वार्थ क्या है। वह एक प्रकार से अपने को परिस्थितियों के हाथों में छोड़ देती है, पर रहती है फिर भी सतर्क और सावधान; मानो परिस्थितियों पर शासन कर सकने की क्षमता उसमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। इस कला में वह विहारी के टक्कर की है। फिर भी स्वभावतः धीर और विचारवान् विहारी जब धोखे में आ जाता है और विनोदिनी से विवाह का प्रस्ताव कर देता है, जिसे उसके मुँह से सुनने के लिए विनोदिनी कब से लालायित है, तब विनोदिनी की अन्तश्चेतना फिर करवट ले लेती है। मानो अप्राप्य को पाने की चेष्टा करना और उसके मिल जाने पर—स्वायत्त हो जाने पर—उसे ठुकरा देना ही उसके पराजित किन्तु विजयाभिलाषी मन का अन्तिम लक्ष्य है। इसी में वह अपनी चरम सार्थकता समझती है।

'चोखेरबाली' के प्रकाशन के बाद बँगला में उसी प्रकार के अनेक

उपन्यास निकले। इस प्रकार बँगला उपन्यास-क्षेत्र से बंकिम बाबू का प्रभाव हट गया और वह शरद् बाबू जैसे कलाकारों के हाथ में आगया।

शान्तिनिकेतन में

सन् १९०१ में रवीन्द्र बाबू शेलाइदह छोड़कर शान्ति-निकेतन में स्थायी रूप से आ गए। रवीन्द्र बाबू की गतिशीलता उन्हें शेलाइदह के संकुचितक्षेत्र में रहने देना नहीं चाहती थी। अन्तःप्रेरणा बार-बार उनसे इस बन्धन को तोड़कर देशहित के बृहत्तर कार्यों में भाग लेने के लिए आग्रह कर रही थी। वे देख रहे थे कि बंगाल का तरुण समाज देशभक्ति की खोज एक मिथ्या दिशा में कर रहा है। उसे ठीक मार्ग दिखलाना आवश्यक था। यह कार्य शेलाइदह से नहीं हो सकता था। वे पाश्चात्य संस्कृति की शक्ति को मानते हुए भी उसके अंधानुकरण के घोर विरोधी थे। वे चाहते थे कि एक दृढ़ आधार पर पौरस्त्य संस्कृति का पुनर्निर्माण किया जाय जिसमें विचार स्वातन्त्र्य को सबसे पहला स्थान दिया जाय। बचपन में वे अपने पिता के साथ एक बार शान्तिनिकेतन गये थे। इसके बाद भी वहाँ जाने का उन्हें एकआध बार सुयोग प्राप्त हुआ था। वे वहाँ एक ऐसा विद्यालय स्थापित करना चाहते थे जिसका आधार भारतीय पुरातन संस्कृति और आदर्श भारत के पुराने आश्रम हों, जिनका आभास उन्हें कालिदास के काव्यों, उपनिषदों तथा अन्य हिन्दू-ग्रन्थों से मिला था। अपना यह विचार उन्होंने महर्षि से निवेदन किया तब महर्षि बड़े प्रसन्नहुए और उन्होंने इसके लिए तुरन्त स्वीकृति दे दी। अन्ततः इसी साल ज़मींदारी का भार छोड़कर कवि 'शान्तम् शिवम् अद्वैतम्' की गोद शान्तिनिकेतन में आगये और वहाँ आकर दो छात्रों और दो अध्यापकों को लेकर एक विद्यालय की स्थापना कर दी। इस विद्यालय का नाम पहले 'बोलपुर-ब्रह्मचर्याश्रम' रक्खा गया। स आश्रम में कवि स्वयं छात्रों के साथ रहते, उन्हीं के साथ खाते-पीते, खेलते-कूदते, उन्हें कहानियाँ और कवितायें सुनाते तथा प्राकृतिक ढंग से उन्हें खेल-खेल में ही शिक्षा देते थे। अपने

निर्वाह के लिए रवीन्द्रनाथ को परिवार से जो कुछ मिलता था, इसी आश्रम में व्यय हो जाता था। कवि-पत्नी श्रीमती मृणालिनीदेवी इस कार्य में पति की बहुत सहायता किया करती थीं। वे आश्रमवासियों को अपने हाथ से बनाकर जल-पान कराती थीं तथा आश्रम के और भी छोटे-मोटे कामों में तड़के से रात के बारह-बारह बजे तक व्यस्त रहती थीं। छात्रों से इस समय कुछ फ़ीस नहीं ली जाती थी। इस दशा में धन का अभाव स्वाभाविक था। जब देखा गया कि आश्रम का व्यय नहीं चलता है तब श्रीमती मृणालिनीदेवी ने अपने सब आभूषण बेच डाले और उनसे प्राप्त धन से आश्रम का काम चलाती रहीं। रवीन्द्रनाथ ने भी अपना पुरीवाला मकान तथा बहुत-सी पुस्तकें बेच डालीं। इस प्रकार किसी-न-किसी तरह आश्रम के कार्य को चालू रक्खा गया। शान्तिनिकेतन का इतिहास तथा विस्तृत वर्णन हम एक पृथक् अध्याय में आगे देंगे।

पत्नी का स्वर्गवास

आश्रम को आरम्भ हुए अभी पूरा एक साल भी न हुआ था कि कवि-पत्नी कवि के इस नये संसार को छोड़कर चल दीं। बीमारी के दिनों में कवि निरन्तर उनकी रोगशय्या के पास रहे। वे रात-रात भर जागकर उनके ऊपर पंखा झलते रहते और बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी विश्राम न करते। पत्नी का अन्तकाल आया देख कवि का भावुक हृदय बहुत व्यथित हो गया। दो महीने तक शय्या पर पड़ी रहने के पश्चात् २३ नवम्बर को उनका देहान्त हो गया। पत्नी के इस असमय वियोग से कवि को अपार शोक हुआ। उनके इस शोक का आभास 'स्मरण' नामक काव्य-संग्रह में मिलता है जो इसी मानसिक अवस्था में लिखा गया है। 'स्मरण' की प्रथम कविता इस प्रकार है—

आजि प्रभातेउ श्रान्त नयने
रयेछे कातर घोर

दुख शय्याय करि जागरण
रजनी हयेछे भोर
नव फूटन्त फूल काननेर
नव जाग्रत शीत पवनेर
साथी हइबारे पारेनि आजिओ
ए देह हृदय मोर !
आजि मोर काछे प्रभात तोमार
करो गो आड़ाल करो
एखेला ए मेला ए आलो ए गीत
आज हेथा हते हरो
प्रभात जगत हते मोरे छिड़ि
करुण आँधारे लहो मोरे फिरि
उदास हियारे तुलिया बाँधुक
तव स्नेह बाहु डोर ! *

एक और गीत में कवि कहते हैं कि उन्हें संसार की प्रत्येक वस्तु वियुक्त पत्नी की स्मृति से व्याकुल कर देती है। कवि-पत्नी ने कुछ पत्र, जो कवि ने उन्हें आरम्भिक दिनों में लिखे थे, अपने पास यत्न से चुराकर रख छोड़े थे। पत्नी के स्वर्गता हो जाने पर उन पत्रों को देखकर कवि के हृदय की व्यथा निम्न गीत के रूप में फूट पड़ी—

देखिलाम खानकय पुरातन चिठि—
स्नेह मुग्ध जीवनेर चिह्न दूचारिटि

---

*आज प्रातःकाल भी थके नेत्रों में घोर दुःख भरा हुआ है। दुःखशय्या पर जागरण करके रात का सवेरा हुआ। वन के नये खिले हुए फूल, पवन की नव जाग्रत् शीतलता, आज मेरे इस शरीर और मन के साथी नहीं हो पाते। आज मेरे सामने से प्रभात को हटा लो, यह खेला, यह मेला, यह प्रकाश, यह गीत आज यहाँ से हटा लो। मुझे प्रभातजगत् से हटाकर करुण अन्धकार से आवृत कर लो। मेरे उदास हृदय को उठाकर अपने बाहु के स्नेह-बन्धन में बाँध लो।

स्मृतिर खेलेना क'टि बहु यत्न भरे
गोपने सञ्चय करि रेखे छिले घरे।
जे प्रबल कालस्रोते प्रलयेर धारा
भासाइया जाय कतो रवि चन्द्र तारा
तारि काछ हते तूमि बहु भये भये
एइकटि तुच्छ वस्तु चूरिकरे लये
लुकाये राखिया छिले,—बले छिले मने
अधिकार नाइ कारो आमार ए धने !
आश्रय आजिके तारा पावे कार कांछे ?*

पर कवि की आध्यात्मिकता ने इस शोक-प्रसंग को भी नया रूप दे दिया है। उसका शाश्वत-प्रेम मृत्यु के सिंहद्वार को पार करके एक नूतन रूप में प्रकट हुआ है—

मृत्युर नेपथ्य हते आर बार एले तुमि फिरे
नूतन वधूर साजे हृदयेर विवाह मन्दिरे
निःशब्द चरण पाते। क्लान्त जीवनेर जत ग्लानि
घूचेछे मरण स्नाने।
मरणेर सिंहद्वार दिया
संसार हइते तुमि अंतरे पशिले आसि, प्रिया।†

---

* आज अचानक थोड़ी-सी पुरानी चिट्ठियाँ देखीं जो स्नेहमुग्ध-जीवन के दो-चार चिह्न हैं। स्मृति के कुछ खिलौने जो तुमने बहुत यत्न करके छिपाकर रख छोड़े थे। काल-स्रोत की जिस प्रलय-धारा में कितने ही सूर्य, चन्द्र, तारे बहे जाते हैं, उसके पास से तुमने डरते-डरते ये थोड़ी-सी तुच्छ वस्तुएँ चुराकर छिपाकर रख ली थीं। तुम अपने मन में कहती होगी कि हमारे इस धन पर किसी और का अधिकार नहीं है। आज वह धन किसका आश्रय पायेगा ?

† मृत्यु के नेपथ्य से तुम एक बार नूतन वधू के वेष में, हृदय के विवाह मन्दिर में, निःशब्द चरण रखती हुई फिर आईं। मरण के स्नान

जीवन और मृत्यु प्रेम के बन्धन में एक रूप हो गये हैं। प्रिया की मृत्यु ने जीवन में मृत्यु की माधुरी को मिला दिया है—

तुमि मोर जीवनेर माझे
मिशायेछो मृत्युर माधुरी।
चिर-विदायेर आभा दिया
रांङाये गियेछे मोर हिया।*
मिलन सम्पूर्ण आजि हलो तोमासने
ए विच्छेद वेदनार निविड़ वन्धने।
एशेछ एकान्त काछे, छाड़ि देशकाल
हृदये मिशाये गेछो भाङि अन्तराल
तोमारि नयने आजि हेरितेछि सब
तोमारि वेदना विश्वे करि अनुभव।†

प्रिया ने जीवितावस्था में समय-समय पर जो प्रेमोपहार दिये थे, उनके प्रतिदान का भी अवसर मिला था। पर वैसा अवसर अव नहीं है। यह व्यथा कवि के चित्त को व्याकुल कर रही है। उसने निश्चय किया है कि उसे जो कुछ प्रिया को देना था उसे वह भगवान् के चरणों में निवेदित करेगा, और भगवान् से ही अपने उन अपराधों की क्षमा-याचना भी करेगा जो उसने प्रिया के जीवित रहते किये हैं, और प्रिया से जिनके लिए क्षमा माँगने का अवसर नहीं मिला—

में क्लान्त-जीवन की समस्त थकावट दूर हो गई है और मृत्यु के सिंह-द्वार से, हे प्रिया, तुम वाह्य-संसार से मेरे अन्तर में विष्ट हो गई हो।

*तुमने मेरे जीवन में मृत्यु की मधुरता मिला दी है। मेरा हृदय चिर-विरह की आभा से रँग गया है।

†इस वियोग-वेदना के निबिड़ बन्धन में, आज तुम्हारे साथ मेरा मिलन सम्पूर्ण हो गया। देशकाल को छोड़कर मेरे पास एकान्त में आती हो, और अन्तराल को भेदकर हृदय में मिल गई हो। आज तुम्हारे नयनों में सब देखता हूँ और तुम्हारी वेदना का विश्व में अनुभव करता हूँ।

से जेखन बेंचे छिल गो, तखन
या दिये छे बार बार
तार प्रतिदान दिबो जे एखन
से समय नाहि आर !
रजनी ताहार हयेछे प्रभात
तुमि तारे आजि लयेछ, हे नाथ,
तोमारि चरणे दिलाय सँपिया
कृतज्ञ उपहार
तार काछे जत करेछिनू दोष,
जत घटे छिल त्रुटि,
तोमा काछे तार मागिलबो क्षमा
चरणेर तले लूटि !
तारे जाहा किछू देओया हय नाइ,
तारे जाहा किछू सँपिवारे चाइ,
तोमारि पूजाय थालाय धरिनू
आजिशे प्रेमेर हार ! *

इस बृहत् शोक-प्रसंग के सम्बन्ध में स्मरण रखने योग्य एक और भी बात है। 'स्मरण' को छोड़कर अपने विशाल साहित्य में रवीन्द्रनाथ ने और कहीं इसका उल्लेख एक बार भी नहीं किया है। कवि की प्रकृति

---

*जब वह जीवित थी, तब वह मुझे जो कुछ उपहार देती थी, उसका प्रतिदान किया जाता था; अब वैसा समय फिर नहीं आ सकता। उसकी रात्रि अब प्रभात है, हे नाथ, तुमने उसे अपनी गोद में ले लिया है। आज तुम्हारे चरणों में मैं वे सब उपहार समर्पित करता हूँ, जो मैंने उसके लिए तैयार किये थे। मैंने उसके निकट जो कुछ अपराध किये हैं, जो कुछ मेरी त्रुटियाँ हुई हैं, तुम्हारे चरणों में पड़कर उनके लिए तुमसे क्षमा माँग लूँगा। (कृतज्ञता और प्रेम की अपनी भेंट) जो आज मैं उसे नहीं दे पाता, पर उसे देना चाहता हूँ, वह आज तुम्हारी पूजा की थाली में रखता हूँ।

में यह विचित्रता थी कि वे अपने व्यक्तिगत शोक को अपनी निजी सम्पत्ति की भाँति सँभालकर अपने हृदय में रखते थे। उसे जनता में वितरण करना उन्हें पसन्द न था। वे केवल सार्वभौम भावों को ही जन-साधारण के लिए प्रकाशित करना चाहते थे।

पत्नी के असामयिक निधन ने रवीन्द्रनाथ के ऊपर एक और भार डाल दिया। उस समय उनके सबसे छोटे पुत्र शमीन्द्रनाथ की आयु ८ वर्ष की और सबसे छोटी पुत्री मीरा की आयु १० वर्ष की थी। इनके पालन-पोषण का एकान्त उत्तरदायित्व उन्हीं पर आ पड़ा। इन दोनों अबोध बच्चों के लिए रवीन्द्रनाथ को माता के रिक्त स्थान की पूर्ति करनी पड़ती थी और पिता का कर्त्तव्य भी निबाहना पड़ता था। रवीन्द्रनाथ के शोक-संतप्त हृदय को बच्चों के सम्पर्क से शान्ति भी बहुत मिली; यही नहीं, उन्हें शिशु-स्वभाव को समीप से अध्ययन करने का भी अच्छा अवसर मिला। 'शिशु' की कविताएँ इन्हीं दिनों लिखी गई हैं। वात्सल्य-रस के इन कविताओं से अधिक अच्छे उदाहरण विश्व-साहित्य में कम ही होंगे। हमारी हिन्दी में सूरदास और तुलसीदास ने भी वात्सल्यपूर्ण बहुत-से पद बनाये हैं, पर रवीन्द्रनाथ के गीतों में उन पदों से यह विशेषता है कि इनके गीतों में वात्सल्य के साथ रहस्यभावना का भी सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है।

इन्हीं दिनों कवि की छोटी कन्या रेणुका बीमार हो गई। उसे चिकित्सा के लिए पहले कलकत्ते लाया गया, पर जब वहाँ लाभ न हुआ तब अल्मोड़े ले जाया गया। अनेक उपाय होने पर भी उसके प्राण न बच सके और १९०३ की मई में उसका देहान्त हो गया। कवि के लिए पत्नी के बाद पुत्री की मृत्यु एक नवीन शोक लेकर आई।

फ़रवरी १९०४ में अनेक कारणों से विवश होकर कवि शान्ति-निकेतन के आश्रम को शिलाइदह ले गये। प्रोफ़ेसर मोहितचन्द्र सेन इसी वर्ष अध्यापक होकर शान्तिनिकेतन में आये। उन्होंने प्रयत्न करके रवीन्द्रनाथ के समस्त गीतों का ९ खण्डों में 'काव्य-ग्रन्थ' नाम से संग्रह किया। इसी वर्ष धनाभाव के कारण रवीन्द्रनाथ ने अपनी समस्त कहानियों, कविताओं, ६ नाटकों, ३ उपन्यासों और अनेक साहित्यिक

निबन्धों के प्रकाशन का अधिकार केवल २०००) लेकर 'हितवादी' के संचालकों को दे दिया।

मोहित बाबू ने 'काव्यग्रंथ' में कविताओं का संकलन उनके वर्ण्य-विषय के अनुसार किया है जो कि किसी हद तक अनुचित कहा जा सकता है; क्योंकि इस संग्रह से कवि के क्रमिक मनोविकास का पता नहीं चलता। इस संग्रह के प्रत्येक खण्ड के लिए कवि ने एक-एक समर्पण लिखा था। ये समर्पण ही पीछे से कुछ और गीत जोड़कर 'उत्सर्ग' नाम से प्रकाशित हुए।

मध्याह्न

स्वदेशी-समाज

सन् १९०४ में रवीन्द्रनाथ ने 'स्वदेशी-समाज' की योजना बनाई। बंगाल के राजनैतिक वातावरण में तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन के कार्यों और व्यंग्योक्तिपूर्ण भाषणों से उत्तेजना फैल रही थी। ऐसे वातावरण में नवयुवकों का ध्यान क्रान्तिकारी योजनाओं की ओर जाना स्वाभाविक हो जाता है। 'स्वदेशी-समाज' भी उस समय के लिए क्रान्तिकारी संस्था थी, यद्यपि आज, राजनीति में इतना चल आने पर, और गांधी जी के प्रभाव से इसकी बातें हमारे लिए दैनिक व्यवहार की बातें हो गई हैं। 'स्वदेशी-समाज' की स्थापना के सम्बन्ध में जनता की सम्मति जानने और उसके उद्देश्यों का प्रचार करने के लिए एक पर्चा छपाकर बाँटा गया था, जिसका विषय इस प्रकार था—

"पाठकगण, इस नियमावली में आप जो कुछ परिवर्त्तन, परिवर्धन या संशोधन कराना चाहते हों उसकी सूचना गुप्तरूप से द्वारकानाथ ठाकुरलेन में स्थित ५ नम्बरवाले मकान में श्रीयुत बाबू गगनेन्द्रनाथ

ठाकुर के पास भेज दें। सर्वसाधारण में इसका प्रकाश न करें। आपके भाई-बन्धुओं में से जो महाशय इस समाज के सदस्य बनना चाहते हों उनके नाम व पते भी उपर्युक्त पते पर भेज दें।"

इसके पश्चात् स्वदेशी-समाज के नियमों का उक्त पर्चे में इस प्रकार उल्लेख किया गया था—

"हम लोगों ने मिलकर स्वदेशी-समाज की स्थापना का निश्चय किया है। हम अपने अभावों की पूर्ति और अपने कष्टों का निराकरण अपने सम्मिलित उपायों-द्वारा करेंगे।

"हम स्वयं शासन-भार ग्रहण करेंगे। हमारा यह उद्देश्य स्वदेशी-समाज-द्वारा ही पूरा होगा, इसके लिए हम अन्य उपाय की सहायता नहीं लेंगे।

"हम कड़ाई के साथ समाज के प्रत्येक नियम का पालन करेंगे। किसी नियम के पालन में त्रुटि होने पर समाज-द्वारा दिया दण्ड हमें स्वीकृत होगा।

"समाज के नेता और उनके सहायक मंत्रियों का, समाज-द्वारा प्रदत्त उनके अधिकारों के अनुसार, बिना वितर्क किये हम सम्मान करेंगे।

"इस योजना में प्रत्येक बंगाली को योग देना चाहिए।

"२१ वर्ष से कम आयुवाले इसके सदस्य नहीं बन सकते। प्रत्येक सदस्य को निम्न आठ नियमों का पालन करना आवश्यक होगा—

१—अपने समाज और साधारणतया भारतीय समाज की किसी विधि-व्यवस्था के लिए सरकार की शरण में न जाऊँगा।

२—मैं अपनी इच्छा से विलायती वस्त्रों और विलायती वस्तुओं का प्रयोग नहीं करूँगा।

३—कार्य के अनुरोध के अतिरिक्त बंगाली को अँगरेज़ी में पत्र नहीं लिखूँगा।

४—काम-काज में अँगरेज़ी भोजन, अँगरेज़ी ठाठ-बाट अँगरेज़ी वाद्य, विलायती मद्य का सेवन और आडम्बर दिखाने के लिए ही अँगरेज़ों को निमंत्रण न दूँगा। यदि मित्रता के कारण कभी निमंत्रण दूँगा तो उन्हें बँगला भोजन खिलाऊँगा।

५—जब तक हमारा निजी स्वदेशी विद्यालय स्थापित नहीं हो जाता तब तक अपने बच्चों को स्वदेश-संचालित विद्यालय में ही पढ़ाऊँगा।

६—समाज के लोगों में विरोध उपस्थित होने पर अदालत में न जाकर सबके आगे समाज-निर्दिष्ट विचार-व्यवस्था ग्रहण करने की चेष्टा करूँगा।

७—व्यवहार की समस्त वस्तुएँ स्वदेशी दूकान से ही मोल लूँगा।

८—आपस में मतभेद होने पर भी बाहरी लोगों के सामने समाज के सम्बन्ध में या समाज के सदस्यों के सम्बन्ध में कोई निन्दाजनक बात न करूँगा।"

स्वदेशी-समाज का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ ही रहा था और बहुत-से बंगाली युवक स्वेच्छा से उसकी सदस्यता स्वीकार करते ही जा रहे थे कि सी बीच बंगाल के राजनैतिक आकाश में उत्पात के लक्षण अधिक वेग से प्रकट होने लगे। भवितव्यता के आघात ने स्वदेशी-समाज के दायरे को और भी बढ़ा दिया।

महर्षि की मृत्यु—स्वदेशी आन्दोलन

१९ जनवरी, १९०५ को महर्षि की मृत्यु हुई। कवि ने उनकी स्मृति में आत्मचिन्तन के लिए चुने हुए उनके प्रिय स्थान—दोनों सप्तपर्ण वृक्षों के नीचे—संगमर्मर की एक सुन्दर चौकी बनवा दी। इस चौकी के पृष्ठ पर महर्षि के प्रिय वाक्य लिखे हुए हैं।

इसी समय से कवि े अपनी प्रसिद्ध रचना 'खेया' के गीत लिखने आरंभ किये थे। हम आगे चलकर 'गीतांजलि' के उस अँगरेज़ी-संस्करण का उल्लेख करेंगे, जिस पर कवि को नोबेल प्राइज़ दिया गया था और जिसके कारण वे बंगाल, भारत और एशिया के सर्वश्रेष्ठ कवि न रहकर विश्व-कवि के सम्मान-पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। इस संस्करण में बहुत-से गीत 'खेया' से ही लिए गये हैं। 'खेया' का रचना-काल भारत के लिए विशेष सं र्ष का काल था। सन् १९०५ में लार्ड कर्ज़न ने—जिनका नाम अपनी अनोखी राजनीति के कारण भारतीयों को

सदा याद रहेगा--जनता की कोमल भावनाओं और सम्मतियों को पैरों तले कुचलते हुए बंगाल के दो भागों में विभक्त किये जाने की घोषणा कर दी। इस घटना ने बंगाल-निवासियों में खलबली मचा दी। बंगाल के हिन्दुओं का विश्वास था कि इस प्रकार बंगाल के टुकड़े करके पूर्वी बंगाल को आसाम के साथ संलग्न करने में सरकार का अभिप्राय केवल यही है कि बंगाल के हिन्दुओं को एक मुस्लिम प्रधान प्रान्त से जोड़कर उनकी बढ़ती हुई राष्ट्रीयता को कुचल दिया जाय। पूर्वी बंगाल के पहले गवर्नर बनाये गये थे बी० फ़ुलर। उनकी एक स्पीच ने जो उन्होंने अपना पद-भार सँभालते हुए दी थी, हिन्दुओं की इस धारणा को और भी दृढ़ कर दिया। फ़ुलर साहब ने कहा था—"पूर्वी बंगाल में दो जातियाँ हैं—एक हिन्दू और दूसरी मुसलमान। ये मानो मेरी दो पत्नियाँ हैं, जिनमें से अपनी मुसलमान पत्नी मुझे अधिक प्यारी है।"

इस स्पीच ने बंगाल की बढ़ती हुई आग में घी का काम किया। सरकार की इस विभाजन-नीति की निन्दा करने के लिए स्थान-स्थान पर सभायें हुईं। इस वर्ष के अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के बनारस अधिवेशन पर भी इस आग की लपटों ने अपना प्रभाव डाला। इस समय तक साधारण भारतवासी की राय ब्रिटिश राज्य के पक्ष में थी और सब लोग उसे भारत के लिए दैवी वरदान समझते थे। यदि कुछ मतभेद था तो शासन-प्रणाली से। बंगाल ने सरकार के इस बंग-भंग का उत्तर स्वदेशी-आन्दोलन और ब्रिटिश वस्तुओं के बायकाट-द्वारा दिया। जो छात्र केवल 'वन्देमातरम्' के नारे लगाने के कारण सरकारी कालेजों से निकाल दिये गये थे उनके लिए एक 'नेशनल कालिज' की स्थापना की गई। समूचे बंगाल में राष्ट्रीयता की लहरें ज़ोर से बहने लगीं जिनके प्रभाव से महाराष्ट्र जैसे सुदूरवर्ती प्रान्त भी न बचे। इस आन्दोलन को एक नेता की आवश्यकता थी। इस कमी को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पूरा किया। उन्होंने अनेक गीत लिखे जिन्हें गाते हुए लोग सड़कों पर घूमते थे। इन गीतों को गाने और सुनने से हृदयों में राष्ट्रीयता की भावनाएँ जाग्रत् होती थीं। अनेक निबन्धों-द्वारा भी कवि ने इस आन्दोलन

की दिशा निर्धारित की। यही नहीं, कई महत्त्वपूर्ण अवसरों पर उन्होंने आन्दोलन का संगठन और संचालन भी स्वयं किया। १६ अक्टूबर का दिन इस आन्दोलन के लिए विशेष सनसनी का था। सरकार ने यह दिन बंगाल को वैधानिक रूप से विभाजित करने के लिए नियत किया था। उस दिन बंगाल के निवासियों की राष्ट्रीय भावनाएँ चरम सीमा पर पहुँच गई थीं। बंगाल की अभिन्न एकता का प्रदर्शन करने के लिए रवीन्द्रनाथ ने रक्षा-बन्धन की एक योजना तैयार की जिसका समर्थन सभी ने किया। एक बहुत बड़ा जलूस निकाला गया जो 'बंगलार माटी बंगलार जल' शीर्षक कवि का रचित गीत गाता हुआ प्रसन्नकुमार ठाकुर घाट की ओर चला। सबने गंगाजल में स्नान किया और वहीं पर एक-दूसरे को गले लगाकर 'अभिन्न बंधुता' की शपथ ली। इसी अवसर पर प्रत्येक ने दूसरे के हाथ में रक्षासूत्र भी बाँधा जिसका अर्थ यही था कि हम लोग 'अभिन्न बन्धुता' के सूत्र में बँधे हैं। संसार की कोई शक्ति हमारे इस सम्बन्ध को तोड़ नहीं सकती। कवि की योजना के अनुसार उस दिन कलकत्ते में पूर्ण हड़ताल रही। किसी के घर चूल्हा नहीं जला। गंगा-स्नान और राखी-बंधन की रस्म अदा हो जाने पर यह जलूस अपर सरक्यूलर रोड पहुँचा और वहाँ एक सभा के रूप में बदल गया। प्रसिद्ध देशभक्त और कांग्रेस के मद्रास-अधिवेशन के अध्यक्ष श्रीयुत आनन्दमोहन वसु इसके सभापति थे। उन्हीं के करकमलों से 'फ़ेडरेशन-हाल' का शिलान्यास-संस्कार हुआ। सभापति के भाषण का कवि ने बँगला में अनुवाद करके जनता को सुनाया। इसके पश्चात् कवि के नेतृत्व में फिर एक जलूस 'विधिर बन्धन काटिबे तुमि एमनि शक्ति-मान् ?' (शासक, क्या तुममें इतनी शक्ति है कि तुम हम वंग प्रान्त के निवासियों का भाईचारे का सम्बन्ध, जो कि विधाता का बनाया हुआ है, काट सको ?) गीत गाता हुआ नगर की बड़ी-बड़ी सड़कों पर घूमता रहा। शाम के लगभग यह जलूस पशुपति वसु के मकान पर पहुँचा। वहाँ एक बड़े आँगन में सभा की गई। हज़ारों की उपस्थिति थी। कवि का बड़ा प्रभावशाली भाषण हुआ। इस भाषण में स्वदेशी-आन्दोलन की रूपरेखा और योजना जनता को समझाते हुए कवि ने उसके

संचालनार्थ एक 'राष्ट्रीय कोष' स्थापित करने की आवश्यकता बतलाई। साथ ही उसके लिए धन एकत्र करने की भी अपील की। जनता पर कवि के भाषण का ऐसा प्रभाव पड़ा कि पचास हज़ार रुपये वहीं तुरन्त एकत्र हो गये।

उसके पश्चात् भी अनेक वक्तृताओं और लेखों-द्वारा कवि स्वदेशी-आन्दोलन को अपना पूर्ण सहयोग देते रहे। न्हीं दिनों गाल-सरकार ने एक सरक्यूलर निकाला जिसमें कहा गया था कि जो छात्र वन्देमातरम् का नारा लगायेंगे, या स्वदेशी आन्दोलन में भाग लेंगे, उन्हें स्कूल से निकाल दिया जायगा। सरकार के इस सरक्यूलर का विरोध छात्रों ने कई सभाओं-द्वारा किया जिनमें रवीन्द्रनाथ ही प्रधान वक्ता थे। इन्हीं दिनों कलकत्ते में 'नेशनल कौंसिल आफ़ बंगाल' नाम से एक विद्यापीठ के स्थापन की आयोजना बनाई गई जिसमें सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों से निकाले हुए छात्रों को पढ़ाने की राष्ट्रीय ढंग से व्यवस्था की गई थी। इस कौंसिल की स्थापना में रवीन्द्रनाथ ने बहुत बड़ा योग दिया था। इन्हीं दिनों गोखले की अध्यक्षता में होनेवाली 'बनारस-कांग्रेस' ने राजकुमार पंचम जार्ज के स्वागत के सम्बन्ध में राज-भक्ति का जो प्रस्ताव पास किया था, उसकी एक लेख-द्वारा 'भंडार' पत्र में कवि ने बड़ी मार्मिक आलोचना की। प्रख्यात राष्ट्रीय नेता श्री विपिनचन्द्र पाल ने अपने 'इंडियन नेशनलिज़्म' में कवि के उन दिनों के कार्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"रवीन्द्रनाथ ने ही सबसे पहले हमें सरकारी कार्यों में स्वेच्छा से सहयोग देने से बचने की शिक्षा दी। उन्होंने हमें सबसे पहले अपनी आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं को बिना किसी प्रकार की सरकारी सहायता के संगठित करना सिखलाया। वंग-भंग के विरोध में चलनेवाले स्वदेशी-आन्दोलन का सूत्रपात करनेवाले मस्तिष्क यद्यपि और थे, और उसका संचालन भी बंगाल के अन्य नेताओं के हाथ में था, पर वे रवीन्द्रनाथ ही थे जिन्होंने सबसे पहले शासन के बायकाट की एक व्यावहारिक योजना कलकत्ते के टाउनहाल में होने-वाली एक मीटिंग में जनता के सामने रक्खी थी। इस योजना में

वताया गया था कि क़ानून की सीमाओं के भीतर रहते हुए भी हम शासन का वायकाट किस प्रकार कर सकते हैं।

"राखी-त्योहार की योजना भी रवीन्द्रनाथ के ही मस्तिष्क की उपज थी। यह १६ अक्टूबर, १९०५ को होनेवाला त्योहार सरकार के वंग-भंग-कार्य का मुंहतोड़ उत्तर था।"

इस काल की साहित्यिक-कृतियाँ

इस प्रकार बाहर से रवीन्द्रनाथ इस महान् स्वदेशी यज्ञ के उद्गाता बने हुए थे; उनके गीतों से राष्ट्र के प्राणों को नई स्फूर्ति मिल रही थी; उनकी वक्तृताएँ जनता को कर्तव्य का मार्ग वतलाती थीं; उनका व्यक्तित्व नवयुवकों को सव कुछ त्याग कर स महायज्ञ में अपनी आहुति दे डालने की प्रेरणा देता था; उनके 'हमारी शिक्षा', 'हमारा समाज', 'हमारा धर्म', 'हमारा राष्ट्र-जीवन', 'हमारे जीवन का आदर्श', आदि निवन्ध इस आन्दोलन की रूपरेखा सदैव के लिए निर्धारित कर रहे थे; पर उनका कवि-मानस कुछ और ही कर रहा था जो न सवकी अपेक्षा चिरस्थायी और महत्तर था। राष्ट्रीय आन्दोलन की व्यस्तता, स्त्री और पिता की मृत्यु, उसके पश्चात् एक कन्या और एक पुत्र की मृत्यु भी उनकी इस आध्यात्मिक धारा की गति रोकने में समर्थ नहीं थी। वे इस समय 'खेया' के गीत लिख रहे थे। और सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि इन गीतों में वाहरी उथल-पुथल की छाया एक स्थान पर भी देखने को नहीं मिलती। मानो वाह्य-द्वन्द्वों से थक जाने पर उनका मन न गीतों में ही शान्ति प्राप्त करता था। जो रवीन्द्रनाथ बाह्य जीवन में सैकड़ों मनुष्यों के सम्पर्क में आते और रहते थे वे अपने आभ्यंतरिक जीवन में इतने शान्त, इतने गम्भीर और एक प्रकार से सर्वथा अकेले थे। यदि इस एकान्त में उनका कोई साथी था तो वह था 'महाराज' का ध्यान, जिनके चरणों में कुछ ही पहले वे नैवेद्य निवेदित कर चुके थे। प्रिय परिजनों की मृत्यु ने स 'रहस्य' के साथ उनका परिचय और भी घनिष्ट कर दिया था। फलतः 'खेया' की रचनाओं में रहस्यवाद की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है।

'खेया' की रचनाओं पर रहस्य-मिश्रित विषाद की स्पष्ट छाप है। इस विषाद का जन्म व्यर्थता से नहीं हुआ, न हताश ही इसका कारण है। जगत् के द्वन्द्वों में आकण्ठ आप्लावित कवि अनुभव कर रहा है कि जीवन का लक्ष्य कर्त्तव्य-जगत् की चंचलता, विक्षोभ, उन्मादन आदि नहीं हैं। न इनमें कहीं तृप्ति ही है। यदि इस कर्ममय जीवन से हटकर अध्यात्म-जीवन के तट पर न पहुँचे तो जीवन की सार्थकता ही क्या हुई ?

वेद भगवान् के उस उपदेश के विपरीत, जिसमें कहा गया है कि कर्म करते हुए ही हम सौ वर्ष जीवित रहने की च्छा करें, कवि कहता है कि जीवन का चरम लक्ष्य कर्म करते जाना ही नहीं है। कर्म तो एक साधन-मात्र है—

एकि शुधू जल निये आसा ?
एइ आना गोनो किसेर लागि जे
कि कवो, कि आछे भाषा ! *

कवि उस क्षण की प्रतीक्षा में है, जब उसे उस पार जाने का सुयोग प्राप्त होगा। उस शुभ क्षण की प्रतीक्षा में वह भाँति-भाँति की तैयारी करता है। 'महाराज' के स्वागत के लिए सामान सजाता है। पर 'महाराज' आते भी हैं तो ऐसे समय जब उनके स्वागत के लिए कोई तैयारी नहीं रहती; क्योंकि कवि जानता था कि आज कोई नहीं आयेगा—

तखन रात्रि आँधार हलो
साङ्ग हलो काज—

* यह क्या केवल जल लेने के लिए आना होता है ? यह आवागमन किसके लिए है ! इसके लिए क्या कहा जाय ? तने शब्द अपने पास कहाँ हैं ?

आमरा मने भेवे छिलेम
आसवे ना केउ आज*

× × ×

तखन रात आँधार आछे
उठलो बेजे भेरी,
के फुकारे—"जाग सबाइ
आरो कोरो ना देरि।"
कोथाय आलो, कोथाय माल्य,
कोथाय आयोजन!
राजा आमार देशे एल
कोथाय सिंहासन!
हाय रे भाग्य, हाय रे लज्जा!
कोथाय सभा, कोथाय सज्जा!
दुयेक जने कहे काने—
वृथा ए क्रन्दन—
रिक्त करे शून्य घरे
करो अभ्यर्थन।'†

'महाराज' आये और चले गये! कवि न जाने किस ध्यान में था कि उनकी चरण-चाप को भी नहीं सुन पाया—

ओ गो निशीथे कखन एसेछिले तुमि
कखन् जे गेछो विहाने!

---

*उस समय अँधेरी रात्रि थी। कार्य समाप्त हो गया था। मैंने मन में सोचा, आज कोई नहीं आयेगा।

†उस समय भी अँधेरी रात थी, भेरी बज उठी। कोई कह रहा था—"शीघ्र जाग, और देर न कर।" कहाँ प्रकाश, कहाँ माल्य, कहाँ आयोजन! हमारा राजा देश में आया, सिंहासन कहाँ है! हाय भाग्य, हाय लज्जा; कहाँ सभा है! कहाँ साज-सामान! दो-एक जनों ने कान में कहा—"यह क्रन्दन व्यर्थ है, सूने घर में रिक्तहस्त से ही सत्कार कर।"

आमि चरण शबद पाइ नि शुनिते
छिलेम किसेर धेयाने
ताहा के जाने ! *

× × ×

कवि ऐसा जीवन चाहता है जो अधिक पूर्ण, अधिक वास्तविक हो। उसका गन्तव्य निर्धारित हो चुका है और जिस मार्ग से उसे जाना है, उसका बोध भी उसे हो चुका है। पर जीवन के अन्तिम उत्सव को पाने के लिए यात्री को आत्मशुद्धि करनी होगी। 'लीला' शीर्षक कविता में कवि कहता है—

आमि शरत् शेषेर मेघेर मतो
तोमार गगन कोने
सदाइ फिरि अकारणे।
तुमि आमार चिरदिनेर दिनमणि गो—
आजो तोमार किरणपाते
मिशिये दिये आलोर साथे
देयनि मोरे वाष्प करे।
तोमार परशनि—
तोमा हाते पृथक् ह'ये
वत्सर मास गणि।
ओगो एमनि तोमार इच्छा जदि।
एमनि लेखा तव—
तबे खेलाओ नव नव।
लये आमार तुच्छ कणिक
क्षणिकता गो—
साजाओ तारे वर्णे वर्णे,

---

*रात्रि में तुम किस समय आये और प्रभात में किस समय चले गये ? मैं किसके ध्यान में था कि तुम्हारे चरणों की चाप को भी नहीं सुना !

डुबाओ तारे तोमार स्वर्णे,
वायुर स्रोते भासिये तारे
खेलाओ जथा तथा,—
शून्य आमाय निये रचो
नित्य विचित्रता।
ओगो आवार जबे इच्छा हबे
साङ्ग कोरो खेला—
घोर निशीथ रात्रि बेला।
अश्रुधारे झरे जाव
अन्धकारे गो—
प्रभात काले रबे केवल
निर्मलता शुभ्र शीतल,
रेखाविहीन मुक्त आकाश
हासबे चारि धारे,—
मेघेर खेला मिशिये जाबे
ज्योतिः सागर पारे।*

---

* मैं शरद् के बचे हुए मेघखण्ड की भाँति तुम्हारे आकाश के कोने में सदा अकारण मारा-मारा फिरता हूँ। अजी, मेरे चिर दिनो के दिनमणि! तुम्हारी किरणों के प्रहार ने आज मुझे वाष्प बनाकर प्रकाश के साथ नहीं मिला दिया और इस प्रकार तुमसे पृथक् होकर मैं दिन और महीने गिन रहा हूँ। अजी, यदि तुम्हारी इच्छा यही हो और तुम्हारा हिसाब-किताब यही हो, तो मेरी इस रिक्त क्षणिकता को ले लो और नये-नये खेल खेलाओ, भिन्न-भिन्न रंगों में रँगकर सजाओ। इसे अपने स्वर्ण से चमका दो, फिर उसे वायु के स्रोत में बहाकर यत्र-तत्र खेलाओ। आकाश में मुझे लेकर नित्य विचित्रता रचो। जब रात्रि में तुम्हारी इच्छा इस खेल को समाप्त करने की हो तब मैं अश्रुधार के रूप में अंधकार में झर जाऊँगा, प्रातःकाल केवल शुद्ध शीतल निर्मलता रह जायगी और रेखाविहीन शुभ्र आकाश चारों ओर हँसता दिखाई देगा। प्रकाश के सागर में मेघ का खेल मिल जायगा।

प्रतीक्षा का भाव 'खेया' की अधिकांश कविताओं में व्याप्त है। 'कुयार धारे' कविता में प्यासे पथिक के रूप में कवि को जीवन-देवता के दर्शन होते हैं। पानी पी चुकने के बाद वह पानी पिलानेवाले का नाम जानना चाहता है। पर क्या यह इतना बड़ा उपकार है कि इसके लिए किसी का नाम याद रक्खा जाय? अतएव कवि को अपना नाम बतलाते संकोच होता है; हाँ वह इस क्षण की स्मृति को अवश्य अपने हृदय में सँजोकर रखना चाहता है।

'बन्दी' शीर्षक रचना में दिखाया गया है कि मनुष्य इस संसार में बन्दी है। वह जिस बन्धन में बँधा है वह उसका अपना आविष्कार किया हुआ है। मनुष्य ने यह बन्धन समस्त संसार को बाँधने के लिए बनाया था, पर वह स्वयं बँध गया—

भेवे छिलेम आमार प्रताप
करबे जगत ग्रास,
आमि रबो एकला स्वाधीन,
सबाइ हबे दास।
ताइ गड़ेछि रजनी दिन
लोहार शिकल खाना—
कत आगुन कत आघात
नाइक तार ठिकाना।
गड़ा जखन शेष हयेछे
कठिन सुकठोर;
देखि आमाय बन्दी करे
आमारिएइ डोर।*

* मैंने सोच रक्खा था कि मेरा प्रताप सम्पूर्ण जगत् का ग्रास कर लेगा। सब मेरे दास हो जायँगे, केवल मैं स्वाधीन रहूँगा। इसी लिए रात-दिन परिश्रम करके मैं एक शृंखला गढ़ रहा था। न जाने उसे कितनी आँच दी, कितने घनों की चोट दी। जब उसका निर्माण समाप्त हो गया तब मैंने देखा कि मेरी इस शृंखला ने मुझको ही बन्दी बना लिया है।

'खया' के बाद रवि बाबू का 'नौका डुवि' उपन्यास प्रकाश में आया। यह उपन्यास कला की दृष्टि से अधिक महत्त्व का नहीं है और 'चोखेर बालि' जैसे मनोविश्लेषणपूर्ण उपन्यास के बाद इस उपन्यास की रचना आश्चर्यजनक सी लगती है। इसे हम रहस्य-रोमांच श्रेणी का उपन्यास कह सकते हैं जिसमें घटनाओं की विचित्रता ही प्रधान रहती है। इसका कथानक भी अस्वाभाविक और सर्वथा 'सम्भावना' के आधार पर आधारित है। यदि इस 'सम्भावना' को तर्क पर कसा जाय तो समस्त कथानक ही गड़बड़ हो जाय। ऐसा लगता है कि इस उपन्यास की रचना रवि बाबू ने अन्तःप्रेरणा से नहीं की थी। प्रत्युत 'वंगदर्शन' के पृष्ठ भरने के लिए—जिसके वे उस समय सम्पादक थे की थी। कथानक इस प्रकार है—

रमेश कलकत्ते में विद्यार्थी है। वह हेमनलिनी नाम की एक सुशिक्षिता और सुन्दरी लड़की पर—जो आनन्द बाबू की कन्या है—मोहित हो जाता है। इसी समय रमेश का पिता व्रजमोहन कलकत्ते आता है। रमेश चाहता है कि अपने प्रेम-व्यापार का सब भेद पिता को बता दे, पर व्रजमोहन जो उसे घर ले जाने के लिए आया है, रमेश की बातों पर अधिक ध्य न नहीं देता। वह रमेश का सम्बन्ध अपने एक मित्र की कन्या सुशीला से तय कर चुका है। दोनों पिता-पुत्र घर जाते हैं। वहाँ पहुँचकर शादी की तैयारियाँ होती हैं। फिर पिता-पुत्र सम्बन्धियों को साथ लेकर सुशीला के पिता के घर पहुँचते हैं। विवाह के बीच रमेश को अपनी पत्नी का मुख देखने का अवसर नहीं मिलता। संस्कार के कृत्य पूर्ण हो जाने पर कुल-प्रथा के अनुसार वर और बधू भिन्न-भिन्न नौकाओं पर नौका-विहार करने निकलते हैं। सन्ध्या के समय भयानक आँधी आती है और दोनों नौकाएँ जलमग्न हो जाती हैं।

जब रमेश को होश आता है तब वह देखता है कि वह नदी तट पर बालू में पड़ा है। वह इधर-उधर अपने मित्रों और संबन्धियों को खोजता है। उसे अपने स्थान से दूर पर एक कन्या जो सद्योविवाहिता के वस्त्र पहने है, बालू पर पड़ी दिखाई देती है। बहुत प्रयत्न करने के बाद रमेश उसे होश में लाने में सफल होता है। वह अपने पिता का

नाम ले-लेकर पुकारता और चाँदनी रात में इधर-उधर खोजता है, पर उसे कोई कहीं दिखाई नहीं देता। अतः उसी बालुका-तट पर वे दोनों रात्रि व्यतीत करते हैं। रमेश को तब तक यह ज्ञात नहीं होता कि उसकी पत्नी एक बालिका-मात्र है। जब रमेश उसे घर ले जाता है तब उसके मन में सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या यह वही है जिसके साथ रमेश का विवाह हुआ था या कोई दूसरी। तीन महीने पश्चात् उसके सन्देह का निवारण होता है। उसका नाम कमला है। उसका व्याह भी उसी दिन हुआ था जिस दिन रमेश का हुआ था और वह भी नौका-विहार करती हुई दुर्घटना का शिकार हुई थी। वह अपने पति को नहीं पहचानती थी। यहीं रमेश का अन्तर्द्वन्द्व आरम्भ होता है। वह निश्चय नहीं कर पाता कि उसे क्या करना चाहिए। क्या उस अबोध कन्या कमला को यह बताना उचित होगा कि वह उसका पति नहीं है ? क्या इससे वह दुःखी और चिन्तित न हो जायगी क्योंकि वह अपने मन में रमेश को ही अपना पति समझ रही है ? यदि वह ऐसा करे भी और कमला को उसके पिता के या किसी रिश्तेदार के घर छोड़ भी आए तो क्या कोई पुरुष उसके साथ व्याह करने को तैयार भी होगा, जब कि वह पत्नीरूप म उसके घर में इतने दिन तक रह चुकी है ? अन्त में वह यही निश्चय करता है कि कुछ समयके लिए इस भेद को छिपा रखना ही उचित होगा। वह कमला के असली पति का अनुसंधान करने लगता है। वह कमला को लेकर कलकत्ते चला जाता है और उसे एक कन्या-पाठशाला में भरती करा देता है।

कलकत्ते में रमेश की भेंट आनन्द बाबू से होती है। आनन्द बाबू रमेश को अपने घर आने के लिए निमंत्रण देते हैं। रमेश के हृदय में अब भी हेमनलिनी के लिए गहरा प्रेम है और वह उससे विवाह करने का इच्छुक है। इसी बीच जोगेन्द्र को जो हेमनलिनी का भाई और रमेश का मित्र है, यह सूचना मिलती है कि यहाँ एक लड़की ऐसी है जो अपने को रमेश की स्त्री बतलाती है। हेमनलिनी इस सूचना पर विश्वास नहीं करती और मूर्च्छित हो जाती है। जोगेन्द्र रमेश को अपने घर आने-जाने से मना कर देता है। रमेश फिर प्रयत्न करता है कि किसी

प्रकार कमला के असली पति का पता लग जाय! वह कलकत्ते से चल देता है। उसका अन्तर्द्वन्द्व बढ़ता ह जाता है। वह हेमनलिनी को हृदय से चाहता है पर परिस्थितियाँ उसे कमला के अधिक से अधिक निकट लाती जाती हैं। इसी बीच कमला की मानसिक अवस्था में भी परिवर्त्तन होता है और वह कुछ साहसी दिखाई देती है। जब उसे ज्ञात होता है कि रमेश उसका पति नहीं है तब रमेश को छोड़ते हुए उसे तनिक भी संकोच नहीं होता। अन्त में बहुत कष्ट और असुविधा के पश्चात् उसे अपने पति का पता मिल जाता है, जिसका नाम नलिनाक्ष है और जो डाक्टर है। वह कमला को प्रेम-पूर्वक स्वीकार कर लेता है और कमला अपने कल्पित पति रमेश को सर्वथा भुलाकर अपने असली स्वामी नलिनाक्ष के परिवार में हिलमिलकर एक हो जाती है।

राजनीति का त्याग

इधर यह साहित्य-सर्जना चल रही थी, उधर राजनैतिक-आन्दोलन भी पूरे ज़ोरों पर था। रवीन्द्रनाथ भी, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अपने लेखों, व्याख्यानों और वक्तव्यों-द्वारा उसका नेतृत्व कर रहे थे। अपने प्रत्येक भाषण में वे देश-भक्ति के थोथे प्रदर्शन की निन्दा करते और जनता को रचनात्मक कार्यों के करने की सम्मति देते, जो उनकी दृष्टि से स्वाधीनता-प्राप्ति का सबसे सरल और दृढ़ उपाय था। अनेक छात्र भी इन दिनों रवीन्द्रनाथ के पास इस उद्देश्य से पहुँचते थे कि यदि रवीन्द्रनाथ आज्ञा दे दें तो वे लोग स्कूलों-कालिजों से निकल आएँ, पर वे उन्हें ऐसा करने की सम्मति नहीं देते थे। कहा जाता है कि इसपर अनेक छात्र रवीन्द्रनाथ की देश-भक्ति को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। परन्तु फिर भी वे अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहे। वे जानते थे कि भारतवर्ष को राजनैतिक स्वाधीनता से अधिक मानसिक स्वाधीनता की आवश्यकता है जिसके प्राप्त होते ही राजनैतिक स्वाधीनता आप से आप आ जायगी। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि भारत-वासियों को आत्म-संशोधन, आत्म-त्याग और आत्मसंयम

सीखना चाहिए। देश-वासियों में स्वाधीनता की योग्यता पैदा हो जाने पर उन्हें पराधीन रखना किसी के लिए संभव न होगा। शिक्षितों को छोटे-छोटे दलों में गाँवों में निकल जाना चाहिए और वहाँ ग्रामीणों को स्वावलंबन और स्वदेशी का महत्त्व समझाना चाहिए, उनमें शिक्षा का प्रचार करना चाहिए और संगठन का भाव पैदा करना चाहिए।

परन्तु बंगाल का नवयुवक-दल रवीन्द्रनाथ की इस योजना का अनुसरण न कर सका। उसका देशप्रेम उत्कट उपायों-द्वारा प्रकट होने लगा। ३१ मार्च, १९०८ को मुजफ़्फ़रपुर में बम-बिस्फोट हुआ। बहुत से बंगाली युवक गिरफ़्तार कर लिये गये। इसके बाद और जगह भी तलाशियाँ हुईं। २ मई, १९०८ को सरकार ने कलकत्ते के मानिकतल्ला में एक बम-फ़ेक्टरी का पता लगाया और उस पर छापा मारकर बहुत कुछ सामान बरामद किया तथा बारीन्द्रकुमार घोष और बहुत से नवयुवकों को गिरफ़्तार किया। रवीन्द्रनाथ ने ऐसे कार्यों की निन्दा करते हुए २५ मई, १९०८ को चैतन्य-पुस्तकालय में एक निबन्ध पढ़ा जिसमें उन्होंने ऐसे हिंसापूर्ण कृत्यों को भारत की आत्मा के प्रतिकूल बताया। साथ ही इन नवयुवकों के साहस और त्याग की उन्होंने प्रशंसा भी की और कहा कि इन लोगों ने अपने अपूर्व त्याग से बंगालियों के माथे पर लगा हुआ 'कायर' का चिप्पा छुटा दिया है। इसी सम्बन्ध में कवि ने जुलाई १९०८ के 'प्रवासी' में भी एक लेख 'सदुपाय' शीर्षक लिखा जिसमें बंगाल में जड़ पकड़ते हुए हिन्दू-मुस्लिम झगड़े के मूल पर विचार किया गया था और बतलाया गया था कि यह झगड़ा एक तीसरा दल करा रहा है, जिसका स्वार्थ इसी में है।

बम और रिवाल्वर-द्वारा चलाए गए आन्दोलनों में रवीन्द्रनाथ का विश्वास नहीं था, न वे इन कार्यों से किसी प्रकार सहमत ही हो सकते थे। जब देश का राजनैतिक वातावरण हिंसात्मक भावनाओं से भरने लगा और सरकार को भी उन कार्यों को रोकने के नाम से मनमाना दमन करने का अवसर मिला तब रवीन्द्रनाथ के चित्त को बहुत दुःख पहुँचा और वे राजनीति से हटकर फिर अपने शान्ति-निकेतन में पहुँच गये। इस प्रकार अचानक राजनीति से हाथ खींच लेने पर सहकारियों

ने रवीन्द्रनाथ की बहुत तीव्र आलोचना की, पर वे इससे विचलित नहीं हुए, न उन्होंने अपने अपवाद की ओर ही कुछ ध्यान दिया। पिछले दिनों उन्हें अनुभव हो गया था कि राजनीति उनका क्षेत्र नहीं है।

फिर शान्ति-निकेतन में

राजनीति से पृथक् होकर और शान्तिनिकेतन में पहुँचकर रवीन्द्रनाथ साहित्य-सर्जना में फिर लग गये। उनकी इस समय की रचनाएँ बहुत सुन्दर मानी जाती हैं।

'शारदोत्सव' इस काल की सबसे पहली रचना है। ऋतुओं का अभिनन्दन भारत की पुरानी प्रथा है। इस देश में वर्ष में ६ ऋतुएँ होती हैं जिन्हें उनके लक्षणानुसार एक-दूसरे से पृथक् पहचाना जा सकता है। इस देश में प्रचलित पर्वों और त्योहारों में से अधिकांश ऋतूत्सव भी थे। पुराने काल के राजा-महाराजा लोग भी अपने यहाँ ऋतूत्सव मनाते थे। रवीन्द्रनाथ ने इस प्रणाली को पुनर्जीवित करने के विचार से शान्ति-निकेतन में ऋतूत्सवों का आयोजन आरम्भ किया। इन उत्सवों में अभिनय का भी योग रहे, अतः उन्होंने उपयुक्त नाटकों की रचना की, जिनमें वे स्वयं भी योग देते थे। समयानुसार कवि ने इन नाटकों में हेर-फेर भी किये थे। शारदोत्सव में सन् १९२२ में कवि ने बहुत कुछ परिवर्त्तन-परिवर्द्धन कर दिया था।

शारदोत्सव का पहली बार अभिनय सन् १९०८ में शान्ति-निकेतन में हुआ था। इसके पश्चात् यह और भी अनेक स्थानों में खेला गया। शारदोत्सव के बाद 'प्रायश्चित्त' की रचना हुई। 'प्रायश्चित्त' का कथानक 'बौ ठाकुरानीरहाट' से लिया गया है। परन्तु उस कथानक में इतना फेर-फार कर दिया गया है कि यह एक स्वतंत्र रचना-सी बन गई है। 'धनञ्जय बैरागी' नाम के एक नूतन पात्र की सृष्टि इसमें की गई है। यह 'धनञ्जय बैरागी' विभिन्न नामों और रूपों में रवीन्द्र बाबू के अन्य परवर्त्ती नाटकों में भी विद्यमान है। यह पात्र गांधी जी का आदर्श सत्याग्रही है जो समस्त दुःखों, यातनाओं, क्लेशों और अत्याचारों को हँसते-गाते ही सहन कर सकता है। इसके हास-गान और तत्त्वकथाएँ

दुःख के दुर्वह भार को हलका और सहनीय बनाने में पूर्ण समर्थ हैं। यदि सच कहा जाय तो यही पात्र रवि बाबू के नाटकों की जान है। यही नहीं—इस पात्र के मुख से रवीन्द्रनाथ ने राजा और प्रजा के सम्बन्ध की भी विवेचना कराई है। वह कहता है कि प्रजा जब भूखों मर रही हो तब उसे पूरा अधिकार है कि वह राजा को लगान न दे। स्वेच्छापूर्वक बन्दी होना और जेल जाना, जो आज के सत्याग्रह-आन्दोलन की प्रमुख बातें हैं, सन् १९०९ में ही इस नाटक-द्वारा रवीन्द्रनाथ ने बतला दी थीं। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सत्याग्रह-आन्दोलन की रूप-रेखा का निर्माण अपने इस नाटक-द्वारा रवीन्द्रनाथ ने सन् १९०९ में ही कर दिया था। नाटक का उक्त अंश इस प्रकार है—

(नेपथ्य में धनञ्जय बैरागी और माधवपुर की प्रजा का एक दल।)

तृतीय प्रजा—बाबा, राजा के पास पहुँचने पर हम क्या कहेंगे?

धनञ्जय—यही कहेंगे कि हम लोग खज़ाना (लगान) नहीं देंगे।

तृ० प्र०—यदि राजा पूछे कि खज़ाना क्यों नहीं दोगे?

ध०—तो हम कहेंगे कि घर के बाल-बच्चे भूखों मर रहे हैं। इस दशा में यदि हम लगान दें तो हमारे देवता को कष्ट होगा। जिस अन्न से प्राण-रक्षा होती है, उसी अन्न से देवता को भोग लगता है, वे प्राणों के देवता जो हैं! इसके बाद जो कुछ बचे, वह तुम्हें देंगे। पर यह नहीं करेंगे कि देवता को धोखा देकर तुम्हें लगान दे दें।

चतुर्थ प्रजा—पर बाबा, राजा हमारी यह बात सुनेगा नहीं।

ध० बै०—फिर भी उसे सुननी ही पड़ेगी। क्या वह राजा है, इसलिए इतना अभागा है कि भगवान् उसे सत्य सुनने भी नहीं देंगे? अरे! ज़ोर से कहकर उसे सुनायेंगे; सुनाकर ही आयेंगे?

पाँचवाँ प्रजाजन—पर बाबा, राजा में हमसे अधिक ज़ोर है, इसलिए जीत तो उसी की होगी।

ध० बै०—रे बन्दर! दूर हट जा! तुझे इतनी ही अक़्ल है। क्या तू जानता है कि हार जानेवाले में शक्ति होती ही नहीं? उसकी शक्ति तो ऐसी होती है जो एक साथ बैकुंठ तक पहुँच सकती है।

छठी प्रजा--पर ठाकुर, पहले तो हम लोग इस कारण बच गए थे कि हम दूर पर थे। पर अब हम राजा के दरवाज़े पर ही पहुँच रहे हैं। वहाँ से तो भागने का रास्ता भी न मिलेगा।

धन०—देख पंचकौड़ी ! इस लीपा-पोती से कुछ लाभ नहीं ! जो होना हो उसे होने दे। नहीं तो अन्तिम रूप से कुछ भी न हो सकेगा। शान्ति उसी से होगी जो कुछ अन्त में होगा।

इसी नाटक के एक और दृश्य में राजा के साथ धनंजय का कथोपकथन इस प्रकार है--

प्रतापादित्य--देख बैरागी, इस प्रकार के पागलपन से तू मुझे भुलावे मे नहीं डाल सकता। माधवपुर का दो साल का लगान बाक़ी है, बोल, देगा या नहीं।

ध०--नहीं महाराज, नहीं देंगे।

प्र०--नहीं देगा, इतनी हिम्मत !

ध०—जो आपका नहीं, वह आपको नहीं दे सकते !

प्र०—हमारा नहीं है ?

ध०—जो अन्न हम लोगों की भूख मिटाने के लिए है, वह आपका नहीं हो सकता। वह तो उन्हीं का है जिन्होंने हमें जीवन दिया है। वह आपका कैसे हो सकता है ?

प्र०—तू प्रजा को लगान देने से रोकता है ?

ध०—हाँ महाराज, रोकता तो हूँ, पर वे तो मूर्ख हैं, कुछ समझते ही नहीं। सिपाही के डर से वे सब कुछ दे देना चाहते हैं। मैं उनसे कहता हूँ कि—अरे ऐसा मत करो; प्राण उसके लिए दो जिसने तुम्हें प्राण दिये हैं; राजा को अपनी हत्या का अपराधी मत बनाओ।

इसके पश्चात् राजा-द्वारा धनंजय को कारावास का दंड मिलता है जिसे वह प्रसन्नमुख अंगीकार करता है। यही नहीं, जब वह कारावास से बाहर आता है और राजा उससे पूछता है कि कारावास में तुम कैसे रहे तब वह उत्तर देता है कि मैं वहाँ वैसा ही प्रसन्न और सुखी था जैसा कि आप अपने सिंहासन पर थे। इस प्रकार वह उस आध्यात्मिक प्रकाश की ओर संकेत करता है जो सुख और शान्ति का मूल कारण

है और जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य सभी अवस्थाओं में एक-सा सुखी और प्रसन्न रह सकता है।

'प्रायश्चित्त' के ठीक एक वर्ष बाद सन् १९१० में रवीन्द्रनाथ का 'राजा' नामक नाटक प्रकाशित हुआ। इसका कथानक रहस्यपूर्ण है। यद्यपि इसका अभिनय कवि के सामने ही कई स्थानों पर हुआ था और इसने जनता की प्रशंसा भी प्राप्त की थी पर वस्तुस्थिति यह है कि इसकी कथावस्तु और सन्देश को समझना साधारण दर्शक और पाठक के वश के बाहर की बातें हैं। कारण यह हैं कि इसकी रहस्यमय सांकेतिकता में पाठक को संधानसूत्र का पता लगाना कठिन हो जाता है। इसके भीतर दिखलाया हुआ द्वन्द्व और संघर्ष घटनाश्रयी न होकर भावाश्रयी हैं जिसके समझने के लिए पाठक को कल्पना पर भी निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि इसके कथानक में आँखों के सामने घटित होने-वाला अंश बहुत कम है। नायक राजा ही वायव्य रूप हे जो अपनी रानी तक को दिखाई नहीं पड़ता। कथानक इस प्रकार है—

कुछ विदेशी यात्री महाराज की नगरी में दर्शन के लिए आते हैं। महाराज अदृश्य हैं, इसलिए उनके प्रति जनता में बहुत उत्कण्ठा है। प्रजा का एक दल इस रहस्यमयी परिस्थिति के सम्बन्ध में बातचीत करता है। उसकी भेंट एक वृद्ध से होती है जो लड़कों का एक दल साथ लिए राजदर्शन को जा रहा है। वृद्ध उन यात्रियों से कहता है कि हमें राजा के स्थान का पता ज्ञात है। जिस मार्ग पर मैं जा रहा हूँ उसी पर चलने से राजदर्शन हो सकता है। समस्त देश राजा से पूर्ण है, देश का ऐसा कोई भाग नहीं है जहाँ राजा समान रूप से व्यापक न हो। प्रजा ो यह सुनकर प्रसन्नता होती है कि राजा अपना दर्शन देने के लिए आ रहे हैं और वे अब छिपे रहना नहीं चाहते। राजा की रानी सुदर्शना जो राजा का दर्शन कभी नहीं पा सकी, अपने पति का रूप देखने के लिए उत्सुक है। वह राजा को बाहर खोज रही है! जहाँ वस्तु को आँख से देखा जा सके, हाथ से छुआ जा सके, संग्रह किया जा सके! वह बुद्धि के बल पर बाह्य जीवन में ही सार्थकता पाने का निश्चय कर लेती है। सुरंगमा उसकी सहेली है। वह रानी को समझाती

है कि राजा की खोज बाहर न करके अपने अभ्यन्तर में करो। जब तुम उन्हें अभ्यन्तर में पहचान लोगी तब बाहर भी उन्हें पहचानने में भूल न होगी।

अन्ततः राजा दर्शन देते हैं, पर वे वास्तविक राजा नहीं, स्वर्ण हैं। प्रजा को यह देखकर दुःख होता है। रानी स्वर्ण को ही राजा समझकर उसके रूप पर मोहित हो जाती है और उसे आत्म-समर्पण कर देती है। उसी समय उसके चारों ओर आग लग जाती है। बाहरी राजा और उसके अभ्यन्तरवर्त्ती राजा में एक प्रकार का द्वन्द्व छिड़ जाता है। इसी अग्निदाह के सिलसिले में रानी का अपने राजा से परिचय होता है पर तब, जब दुःखों के आघात से उसका अभिमान चूर हो जाता है और वह प्रासाद छोड़कर पथ पर जा खड़ी होती है। यह राजा किसी विशेष वस्तु में नहीं रहता, किसी विशेष स्थान में नहीं रहता, वह सकल देशों और समस्त काल में समान रूप से व्याप्त है और उसकी उपलब्धि अपने अन्तःकरण के आनन्द में ही हो सकती है।

इस नाटक का राजा सम्भवतः महत् सत्य धर्म है। इसकी प्रेरणा ईशोपनिषद् के उस मंत्र से सम्भवतः कवि को मिली है जिसमें कहा गया है—'स्वर्ण-निर्मित पात्र से सत्य का मुँह ढँका हुआ है। सत्य धर्म के दर्शन के लिए तू उस ढक्कन को खोल दे।'

सन् १९१० में रवीन्द्र बाबू का प्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' प्रकाशित हुआ। यह पहले 'प्रवासी' में धारावाहिक रूप से निकलता रहा था। समसामयिक समाज और उसमें चलनेवाली विचारधाराओं के घात-प्रतिघातों का जैसा सजीव चित्रण 'गोरा' में पाया जाता है, वैसा किसी अन्य उपन्यास में नहीं मिलता। शान्तिनिकेतन के प्रशान्त वातावरण में बंगाली समाज को गहराई से अध्ययन करने का अवसर कवि को इस बार मिल गया था। साथ ही अपने दो मित्रों—श्री ब्रह्मबान्धव और श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी से समाज की तत्कालीन राष्ट्रीय और सामाजिक आवश्यकताओं पर भी कवि का विचार-विनिमय चलता रहा था। 'गोरा' इसी अध्ययन और विचार-विनिमय का प्रतिरूप है। इसमें एक पक्ष समाज के उस दल का है जो अपने को सुधारक या

प्रगतिशील मानता है—सुचरिता, ललिता, आनन्दमयी और परेश बाबू उसी दल के सदस्य हैं। वह दल ब्रह्मसमाज के नाम से पुकारा जाता है। वह दल समस्त सुधारों को हिन्दू-समाज में लाना चाहता है और ऐसा करना चाहता है इसकी पुरानी इमारत का विध्वंस करके। वह रूढ़ि और परम्परागत प्रथाओं का घोर विरोधी है। दूसरा दल उन लोगों का है जो सनातनधर्म के पक्के अनुयायी हैं और जो अपने उस पुराने धर्म में ज़रा-सा परिवर्तन भी सहन नहीं कर सकते; न अन्य मतावलंबियों-द्वारा की जानेवाली अपने धर्म की समीक्षा ही सहन कर सकते हैं। प्रगतिशील दल पुरानी प्रथाओं और विश्वासों के प्रति जितनी अनास्था प्रकट करता है, यह दल अपनी प्राचीनता के साथ उतनी ही तीव्रता के साथ और चिपटता जाता है। इस दल का प्रधान प्रतिनिधि 'गोरा' है। दोनों पक्षों में लम्बे-लम्बे तर्क-वितर्क और वाद-विवाद चलते हैं और उन्हीं के साथ-साथ धीरे-धीरे कथानक भी सरकता रहता है, यद्यपि तर्कों के जाल में उलझे हुए पाठक का इसकी ओर ध्यान नहीं जाता। यह वाद-विवाद कहीं-कहीं वितण्डा का रूप भी धारण कर लेता है।

इस प्रकार इस उपन्यास में लेखक ने, जो स्वयं प्रगति का पक्षपाती है, प्राचीनता और प्रगति के बीच सीमा-निर्धारण की चेष्टा की है। उसका मत है कि प्रगति होते हुए भी प्राचीनता का सर्वथा बहिष्कार कर देना हमारी उन्नति में सहायक नहीं हो सकता। हमें ऋषियों की हज़ारों वर्ष की संचित अनुभव-राशि से लाभ उठाना चाहिए। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि हम सर्वथा पुरानी लकीर के फ़क़ीर बने रहें। हमें उनके सिद्धान्तों को समझदारी और तर्क की कसौटी पर कसकर देखना चाहिए। उनमें से जो हमें समय और देश के अनुकूल और अपनी उन्नति में सहायक प्रतीत हों, उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए, शेष को छोड़ देना चाहिए। कवि अपने इस सिद्धान्त का प्रकाश गोरा के मुख से उस समय करता है जब गोरा अनेक तीर्थों और विभिन्न स्थानों का भ्रमण करके लौट आता है और अपना अनुभव परेश बाबू को सुनाता है। वह कहता है—"क्या आप मेरी बात समझ रहे हैं? क्या आप जानते हैं कि रात-दिन मैं क्या होने की चिन्ता में रहा, पर वैसा मैं बन नहीं सका, और

अन्त में आज मैं वैसा ही बन गया हूँ। आज मैं सच्चा भारतीय हूँ। मेरे मन में अब हिन्दू-मुसलमान और ईसाई में अब कोई भेद-भाव नहीं रहा। आज भारत की प्रत्येक जाति मेरी जाति है, सबका भोजन मेरा भोजन है। देखिए, मैंने बंगाल के प्रत्येक भाग में भ्रमण किया है और छोटे-छोटे गाँवों में भी आतिथ्य ग्रहण किया है—आप यह न समझें कि मैंने केवल शहरों में ही लेक्चर दिये हैं—पर मैं अपने को उन लोगों की समता में न रख सका। आज तक मेरे और उन लोगों के बीच में एक ऐसी खाई बनी रही है जिसे प्रयत्न करके भी मैं पार न कर सका। मेरे मन में एक प्रकार की रिक्तता थी जिसकी मैं हर प्रकार से उपेक्षा करता था। मैं चाहता था कि अपनी उस रिक्तता को सजाकर सुन्दर रूप दे दूँ। मैं देश को अपने जीवन से अधिक प्यार करता था इसलिए इसके किसी अंग की आलोचना मुझसे सहन न होती थी। अब मैं उन व्यर्थ के प्रयत्नों से मुक्ति पा चुका हूँ, और अपनी रिक्तता को सुन्दर प्रकट करने के प्रयत्नों को व्यर्थ समझता हूँ, आज मेरा पुनर्जन्म हुआ है।"

इसी वर्ष कवि ने अपने पुत्र श्री रथीन्द्रनाथ ठाकुर का, जो कि अमेरिका से शिक्षा प्राप्त करके लौट आये थे, विवाह प्रतिमादेवी नाम की एक बाल-विधवा से किया। 'गोरा' कवि ने श्री प्रतिमादेवी को ही समर्पित किया है।

'गीताञ्जलि' की रचना सन् १९१० में हुई। इसमें कवि ने स्वर-द्वारा भावाभिव्यक्ति की अभिनव शैली को अपनाया है। 'गीताञ्जलि' का नाम कवि की रचनाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसका कारण है इस पुस्तक पर नोबेल-पुरस्कार का मिलना। पुरस्कृत होने के बाद 'गीताञ्जलि' का संसार की प्रायः समस्त भाषाओं में अनुवाद हुआ और इसकी लाखों प्रतियाँ बिकीं। इसी ने रवीन्द्रनाथ को विश्व-विख्यात कर दिया।

'गीताञ्जलि' के दो रूप हैं। पहला रूप तो वह है जिसे हम मूल 'गीताञ्जलि' कह सकते हैं और जिसे कवि ने बँगला में लिखा था। दूसरा रूप वह है जिस पर 'नोबेल-पुरस्कार' मिला था और जिसका संसार

में प्रचार हुआ है। यह दूसरा रूप अँगरेज़ी में प्रस्तुत हुआ था। कवि ने अपने १०३ चुने हुए गीतों को अँगरेजी में अनुवादित करके इस संग्रह में दिया था। यद्यपि यह भी 'गीताञ्जलि' नाम से ही लंदन में छपा था पर इसमें जो गीत दिये गये हैं वे सब बँगला 'गीताञ्जलि' के ही नहीं हैं। कुछ गीत 'नैवेद्य' से चुने गये हैं, कुछ 'खेया' से और कुछ 'गीतमाल्य' से। शेष गीत, जिनकी संख्या सबसे अधिक है, 'गीताञ्जलि' से लिये गये हैं।

'गीताञ्जलि' में उपनिषदों की तत्त्वचिन्ता और वैष्णव कवियों की प्रेमभावना का अपूर्व मिश्रण हुआ है। यही इसकी विशेषता है जिसके कारण इसे सभी देशों और सभी समाजों में समान आदर मिला है। इसका प्रभु वैष्णवों का साकार भग्वान् नहीं है, न वह उपनिषदों का निराकार ब्रह्म है। उसकी समीपता पाने के लिए किसी योग, जप, ध्यान की आवश्यकता नहीं है, न किसी प्रतीक की स्थापना की ही। वह रहस्य-मय होते हुए भी हृदयग्राह्य है। कवि उस जीवन-देवता को संसार में सर्वत्र देखता है और अपने शरीर में उसका स्पर्श-पुलक अनुभव करता है। इसी लिए वह पाप-कर्मों से बचना चाहता है जिससे उसका शरीर उस पवित्र देवता के स्पर्श योग्य रह सके—

आमार सकल अंगे तोमार परश
लग्न हये रहियाछे रजनी दिवस
प्राणेश्वर एइ कथा नित्य मने आनि
राखिब पवित्र करि, मोर तनुखानि।

मने तुम विराजिछो, हे परम ज्ञान,
एइ कथा सदा स्मरि, मोर सर्व ध्यान
सर्व चिन्ता हते आमि सर्व चेष्टा करि
सर्व मिथ्या राखि दिबो दूर परिहरि!

हृदये रयेछे तब अचल आसन
एइ कथा मने देखे करिब शासन

सकल कुटिल द्वेष सर्व अमंगल——
प्रेमेरे राखिब करि प्रस्फुट निर्म्मल ! *

वह प्रभु से अपने हृदय के दौर्बल्य को दूर करने की प्रार्थना करता है, जिससे उसका प्रेम सार्थक हो सके और वह सांसारिक कष्टों को अविचल भाव से सहन कर सके। वह न केवल दीन-दुखियों के दुःख में शामिल होनेवाला हृदय चाहता है, वह ऐसा गर्व-पूर्ण हृदय भी चाहता ह जो धृष्ट पराक्रम के आगे सिर न झुकाए।

एक गीत में कवि अपने भगवान् को उस बात की याद दिलाता है जो उसके और भगवान् के बीच जीवन के प्रभात-काल में हुई थी और जिसमें तय हुआ था कि दोनों जन एक ही नाव पर साथ-साथ यात्रा करेंगे और कवि उस एकान्त में अपने गीतों-द्वारा जीवन-देवता की अभ्यर्थना करेगा——

कथा छिलो एक तरीते केवल तुमि आमि
जाब अकारणे भेसे केवल भेसे;
त्रिभुवने जानबेना केउ आमरा तीर्थगामी
कोथाय जेतेछि कोन् देशे से कोन् देशे
कूलहारा सेइ समुद्र माझ खाने
शोनाब गान एकला तोमार काने
देउयेर मतन भाषा बाँधन-हारा
आमार सेइ रागिणी शुन्बे नीरव हेसे।†

---

*हे परमेश्वर! यह जानकर कि तेरा स्पर्श मेरे समस्त अंगों से हो रहा है, मैं अपने इस शरीर को सदा पवित्र बनाये रक्खूँगा। यह जानकर कि तू वह सत्य है जिसने कि मेरे मन में विवेक की ज्योति प्रदीप्त की है, मैं सदैव अपने विचारों से असत्य को दूर रक्खूँगा। यह जानकर कि तू मेरे हृदय के अन्तस्तल में विराजमान है, मैं सदैव समस्त विकारों को अपने हृदय से दूर रखने का प्रयत्न करूँगा और अपने प्रेम को निरन्तर विकसित रक्खूँगा।

† यह निश्चय हुआ था कि एक नौका में केवल हम दोनों बैठकर अकारण तैरते रहेंगे। तीनों भुवनों में यह कोई न जान पायेगा कि हम

कवि और कुछ नहीं, केवल यह चाहता है कि उसे प्रियतम के पास बैठ सकने का संयोग प्राप्त हो जाय, क्योंकि उसकी दृष्टि से दूर रहने पर कवि के हृदय को विश्राम नहीं मिलता और उसका दैनिक जीवन-कार्य कष्टप्रद हो जाता है। वह अपना आनन्द प्रतीक्षा करने में ही समझता है और कहता है कि मैं उषाकाल से सन्ध्या पर्यन्त यहाँ द्वार पर केवल इस विश्वास से बैठा रह जाता हूँ कि कभी न कभी तो वह शुभ घड़ी अवश्य आयेगी जब मुझे तेरे दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होगा।

प्रियतम के दर्शन के लिए कवि के हृदय में परम उत्कंठा है। आज तक उसे दर्शन प्राप्त न हो सका, इसका उसे बहुत दुःख है। पर इस दुःख को ही वह अपना सौभाग्य मानता है, क्योंकि यह दुःख उसके प्रेम को और भी स्थायी बनाता है। वैष्णव कवियों की कविताओं में जो विरह-वेदना और सम्मिलन-कातरता पाई जाती है, उसकी

तीर्थयात्री हैं, कहाँ किस देश को हम जा रहे हैं। उस अनन्त सागर में मैं अकेला तुम्हारे कानों में गीत सुनाऊँगा। उस गीत की भाषा तरंगों की भाँति निर्बन्ध होगी; उस रागिणी को तुम चुपचाप हँस-हँसकर सुनोगे।

प्रियतम के साथ प्रेमी की रहस्यपूर्ण यात्रा की सुखद कल्पना ऋग्वेद में भी विद्यमान है--

> आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्रयत् समुद्रमीर याव मध्यम्
> अधियद पां स्नुभिश्चराव प्रप्रेंख ईखयावहै शुभेकम्।

अर्थात् मैं और मेरा प्रियतम एक ही नाव पर बैठकर बहुत दूर समुद्र में गये। मैं अपनी मौज में नाव पर लहरों के साथ झूमने लगा।

> वशिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषि चकार स्वपा महोभिः
> स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्ना यान्नु द्यावस्तनन्या दुवासः।

अर्थात्—मेरे प्रियतम ने नाव पर मुझे अपने बग़ल में बैठा लिया और मुझे एक गान सुनाने की आज्ञा देकर गौरवान्वित किया। यह एक अद्भुत अवसर था जब मेरे प्रियतम ने मुझे अपने प्रभातों और संध्याओं को संगीतमय बनाने का आदेश दिया।

पराकाष्ठा 'गीताञ्जलि' के गीतों में है, अन्तर केवल यही है कि 'गीताञ्जलि' के कवि को प्रिय का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है--केवल स्वप्न में या मोहितावस्था में। जाग्रतावस्था में प्रिय सदैव दूर रहता है--

से जे पाशे एसे बसे छिल
तवु जागिनि !
कि घुम तोरे पये छिल
हतभागिनी !
एसे छिल नीरव राते,
वीणा खानि छिल हाते,
स्वपन माझे वाजिये गेल
गभीर रागिणी।*

× × ×

सुन्दर तुमि एसे छिले आज प्राते
अरुण चरण पारिजात लये हाते
निद्रित पुरी पथिक छिलो ना पथे
एका चलि गेलो तोमार सोनार रथे
वारेक थामिया मोर वातायन पाने।†

कवि प्रभु का सान्निध्य अभी तक नहीं पा सका, उसके हृदय में इसका घोर दुःख है। यह दुःख 'गीताञ्जलि' के गीतों में प्रायः व्यक्त हुआ

---

*हे हतभागिनि ! तूने कैसी नींद पाई थी कि वह आकर तेरे पास बैठ गया और तब भी तू जागी नहीं। वह जिस समय आया, रात्रि नीरव थी, उसके हाथ में वीणा थी जिसकी मधुर रागिणी से मेरा स्वप्न प्रति-ध्वनित हो उठा !

† हे सुन्दर ! आज सवेरे तुम आय थे। तुम्हारे चरण अरुण थे। तुम्हारे हाथ में पारिजात-पुष्प था। समस्त नगर सो रहा था। कोई पथिक राह में नहीं था। तुम कुछ देर तक मेरे झरोखे के पास रुककर अपने सोने के रथ पर बैठकर चले गये।

है। कवि विभिन्न अवस्थाओं में, नाना परिवेशों के बीच, उसकी समीपता प्राप्त करना चाहता है। पर उसे सफलता नहीं मिलती। कवि के हृदय में असीम व्याकुलता है। उसकी प्रतीक्षा असह्य हो रही है। इस जीवन से वह मृत्यु को अच्छा समझ रहा है—

कोथाय आलो कोथाय ओरे आलो
विरहानले ज्वालारे तारे ज्वालो।
रयेछे दीप ना आछे शिखा
एइ कि भाले छिल रे लिखा,
इहार चेये मरण से जे भालो
विरहानले प्रदीपखानि ज्वालो।*

अधीर विरही पूरी तैयारी करके चित्त का द्वार खोले बैठा है। बीच-बीच में मन्द पद-ध्वनि सुनकर उसे प्रियतम के आने की आशा होती है। पर प्रियतम आता नहीं। कवि को इसका अपार दुःख है।

आकाश बादलों से घिरा है। यदि इस अवसर पर भी 'तुम' न आये तो मेरा समय कैसे कटेगा?

तुमि जदि ना देखा दाओ
करो आमाय हेला
केमन करे काटे आमार
एमन बादल बेला?†
आजि झड़ेर राते तोमार अभिसार
पराण सखा बन्धु हे आमार,
आकाश काँदे हताश सम,
नाइ जे घूम नयने मम,
दुयार खुलि हे प्रियतम,

* अरे! प्रकाश कहाँ है? प्रकाश कहाँ है? उसे विरहाग्नि से प्रज्वलित कर लो। दीपक है पर उसमें दीपशिखा नहीं, क्या भाग्य में यही लिखा था? इससे तो मृत्यु कहीं अच्छी थी।

† यदि तुम दर्शन नहीं दोगे, मेरी उपेक्षा करोगे, तो यह बादल का समय कैसे काट सकूँगा।

चाइ जे बारे बार।
पराणसखा बन्धु हे आमार! *

पर प्रियतम का सान्निध्य प्राप्त न होने का कवि को अधिक सन्ताप नहीं है। क्योंकि वह जानता है कि उसकी साधना अपूर्ण है इसी लिए वह सफल मनोरथ नहीं हो सका। फिर भी वह प्रभु की पथ-प्रतीक्षा करता रहेगा—

प्रभु, तोमा लागि आँखि जागे;
देखा जाइ पाइ
पथ चाइ
सेउ मने भालो लागे।†

कवि प्रतिक्षण भावना करता है कि प्रियतम के आने का समय आ गया; इस समय मलिन वस्त्रों को उतार कर और उज्ज्वल परिधान धारण करके उसके स्वागत के लिए तैयार हो जाना चाहिए—

एखन तो काज साङ्ग ह'लो
दिनेर अवसाने,
ह'लो, रे ताँर आसार समय
आशा एलो प्राणे।
स्नान करे आय एखन तबे
प्रेमेर वसन परते हबे,
संध्या बनेर कुसुम तुले

---

*हे मेरे प्राणों के मित्र और बन्धु, आज वर्षा की रात्रि में तुम्हारा अभिसार है। आकाश हताश की भाँति रो रहा है; मेरे नेत्रों में नींद नहीं है; हे प्रियतम! मैं द्वार खोलकर बार बार देख रहा हूँ।

†हे प्रभु, तुम्हारे लिए मेरी आँखें जागती हैं। तुम्हें देख नहीं पाता; तुम्हारा पथ देखता रहता हूँ; यह भी मुझे अच्छा लगता है।

गाँथते हे हार
ओरे आय, समय नेह जे आर।*

× × ×

तोरा शुनिस् कि शुनिस् नि तार पायेर ध्वनि,
ऐ ये आसे आसे आसे।†

कवि को विश्वास है कि जनार्दन का आसन इसी धूल-मिट्टी से निर्मित संसार में सब जनों के बीच में है। कोई एकान्त देश उसके लिए अलग नहीं है। कवि इसीलिए संसार को छोड़कर अन्यत्र देवदर्शन की कामना नहीं करता। न वह भगवान् को वन में पाना चाहता है और न विजन में, वह अपने मन में भी भगवान् के दर्शन करना नहीं चाहता। वह उन्हें वहीं देखना चाहता है जहाँ वे सब के बीच में हों—

विश्वसाथे योगे जेथाय विहारो
सेखाने योग तोमार साथे आमारो।
नयको बने नय विजने
नयको आमार आपन मन,
सबार जेथाय आपन तुमि, हे प्रिय
सेथाय आपन आमारो।‡

---

*इस समय दिन का अन्त हो गया और सब कार्य समाप्त हो गया। प्राणों में आशा आ गई। उनके आने का समय हो गया। इस समय स्नान करके प्रेम के वस्त्र पहनने होंगे। सन्ध्या के वन-पुष्पों से हार गूँथना होगा। अरे आ! क्योंकि अधिक समय नहीं है।

†तू उसकी पद-ध्वनि सुन रहा है या नहीं! वह आ रहा है, आ रहा है, आ रहा है।

‡तुम संसार के मनुष्यों से मिलकर जहाँ विहार करते हो, वहीं पर तुम्हारे साथ मेरा मिलाप होता है। न वन में, न विजन में और न मेरे अपने मन में (मैं तुम्हे पाना चाहता हूँ)—जिस स्थान पर तुम सबके अपने हो वहाँ पर मेरे भी अपने हो।

क्योंकि कवि जानता है कि दीनवन्धु का निवास वहीं हो सकता है जहाँ दीनातिदीन जन उपस्थित होगा—

जेथाय थाके सबार अधम दीनेर हते दीन
सेइ खाने ये चरण तोमार राजे
सबार पिछे सवार नीचे
सबहारा देर माझे।*
भजन पूजन साधन आराधना
समस्त थाक् पड़े।
रुद्ध द्वारे देवालयेर कोणे
केन् आछिस् ओरे?
अन्धकारे लुकिये आपन मते
काहारे तुइ पूजिस् संगोपने,
नयन मेले देख देखि तुइ चेये
देवता नाइ घरे।
तिनि गेछेने जेथाय माटि भेङे
करचे चापा चाष,—
पाथर भेङे काटचे जेथाय पथ,
खाटचे बारोमास।†

---

*सबकी अपेक्षा अधिक दलित और दीन प्राणियों का जहाँ निवास है, हे मेरे देवता, वहाँ तुम्हारा स्थान है। जो लोग सबके पीछे और सबसे नीचे पड़े हुए हैं, जो अपना सब कुछ खो चुके हैं, उन्हीं के बीच में तुम सदा विराजते हो।

† भजन, पूजन और आराधना, सब पड़े रहने दो। ऐ अभागे! तू देवालय के कोने में अपने भीतर के अंधकार में निमग्न होकर किसकी पूजा कर रहा है? आँख खोलकर देख, तेरा देवता इस मंदिर में नहीं है। वह वहाँ है जहाँ किसान मिट्टी खोद रहा है, जहाँ मजदूर पत्थर तोड़ते हुए दिन-रात अक्लान्त परिश्रम कर रहा है।

वह नहीं मानता कि एक इस प्रकार कर्म छोड़कर देवालय में बैठ जाने से मुक्ति मिल सकती है। यही नहीं, वह तो 'मुक्ति' की कल्पना से भी सहमत नहीं है। जब स्वयं भगवान् कर्मयोग में बँधे हैं तब कर्मत्यागियों की मुक्ति-व्यवस्था वे कैसे कर सकते हैं ?—

मुक्ति ओरे मुक्ति कोथाय पाबि,
मुक्ति कोथाय आछे?
आपनि प्रभु सृष्टि बाँधन परे,
बाँधा सबार काछे।*

मृत्यु के सम्बन्ध में कवि के परिवर्तित विचार हम पीछे 'खेया' में पढ़ चुके हैं। 'गीताञ्जलि' तक वे विचार और भी दृढ़ हो गये हैं। मृत्यु अब कवि को शत्रु नहीं, मित्र दिखाई देती है--

रूपहीन ज्ञानातीत भीषण शकति
धरेछे आमार काछे जननी मूरति।

× × ×

ओगो आमार एइ जीवनेर शेष परिपूर्णता
मरण, आमार मरण, तुमि कओ आमारे कथा !
बरणमाला गाँथा आछे
आमार चित्त माझे,
कबे नीरव हास्य मुखे
आसबे बरेर साजे !

वह मृत्यु को दयामयी जननी मानता है। जिस प्रकार माता के एक रिक्त स्तन से हटाकर दूसरे भरे स्तन में लगाते समय बच्चा रोता है, पर दूसरे स्तन से लगते ही वह आश्वस्त हो जाता है, इसी प्रकार मृत्यु मानवशिशु को एक रिक्त-जीवन से हटाकर दूसरे परिपूर्ण अभिनव जीवन से लगाती है।

---

* मुक्ति, ओरे ! मुक्ति कहाँ पायेगा ? मुक्ति कहाँ है ? स्वयं प्रभु सृष्टि के बंधन को धारण करके सबके साथ बँधे हुए हैं।

रवीन्द्रनाथ के काव्यों के जेक भाषानुवादों के प्रकाशक श्री जे० नजदर (J. Snajdr) ने गीताञ्जलि की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि जेक सिपाही गत महायुद्ध में मोर्चे पर जाते समय गीताञ्जलि की प्रतियाँ अपने साथ ले गये थे। इसके गीतों से उन्हें रणस्थल में अपूर्व सान्त्वना मिलती थी।

पचासवीं वर्षगाँठ

७ मई, १९११ को कवि की ५०वीं वर्षगाँठ शान्तिनिकेतन में अपूर्व समारोह के साथ मनाई गई। इसी अवसर पर 'राजा' का अभिनय हुआ जिसमें ठाकुरदादा का अभिनय स्वयं कवि ने किया। इसके पश्चात् कुछ काल के लिए कवि शेलाइदह चले गये। 'जीवनस्मृति' और 'अचलायतन' की रचना शेलाइदह में रहते हुए ही हुई थी। 'जीवनस्मृति' में कवि ने अपने आरंभिक जीवन के संस्मरण बड़े रोचक ढंग से लिखे हैं जिनमें से कुछ उद्धरण हम पीछे दे आये हैं। 'अचलायतन' कवि के नाटकों में काफ़ी प्रसिद्ध है। इसमें उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारत के शिक्षित समुदाय में बहनेवाली भावधारा का विवेचन बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है। एक प्रकार से 'गोरा' का विषय ही इसमें नाटकीय रूप में अंकित किया गया है। ६ वर्ष पश्चात् इसे कुछ संक्षिप्त और अभिनयोपयोगी करके 'गुरु' नाम से प्रकाशित किया गया था। उन दिनों बंगाली समाज में सर्वतोमुखी जागर्ति के चिह्न दिखाई पड़ रहे थे। शिक्षित बंगाली नवयुवक न केवल शिला की भाँति पुञ्जीभूत रूढ़ियों और शास्त्रों को उखाड़ फेंकना चाहते थे, देश के मिथ्या-विश्वासों, जादू-टोना, झाड़-फूँक, आदि के प्रति भी उनका आक्रोश भयानक रूप धारण कर रहा था। कथानक के अनुसार अचलायतन के निवासी पुरानी प्रथाओं के अनुयायी हैं। वे जादू-मंत्रों और भूत-प्रेतों में विश्वास करते हैं। उनमें एक बौद्धिक क्रान्ति आती है; इस क्रांति का संचालक पंचक है जो उन समस्त युवकों का नेता है जो पुराने पंथ के विरोधी हैं। शोनपांशु जाति के साथ उसकी अत्यधिक सहानुभूति है जिसे अस्पृश्य ठहराकर अचलायतन के प्रवेशाधिकार से वंचित कर दिया गया है। इन धार्मिकों

के बीच एक समझदार वृद्ध शिक्षक भी है जो नवयुवकों के विचारों का समर्थक है। लोगों को विश्वास है कि किसी गुरु का आविर्भाव होनेवाला है, पर वह गुरु कौन है, यह कोई नहीं जानता। शोनपांशु जाति अचलायतन पर आक्रमण करती है। उसके द्वार टूट जाते हैं यद्यपि अचलायतन को अब तक वज्र की भाँति अभेद्य समझा जाता था। लोगों की धारणा थी कि स्वयं देवता और परमशक्तिशाली मंत्र अचलायतन की रक्षा कर रहे हैं। धार्मिक नागरिकों के मतानुसार अचलायतन में यह कमजोरी धर्म में नागरिकों की श्रद्धा कम हो जाने से आ गई है। वृद्ध शिक्षक और पंचक को इसके लिए जिम्मेदार ठहराकर नगर से निर्वासित कर दिया जाता है और वे जाकर शोनपांशु लोगों के बीच में रहने लगते हैं। शोनपांशु जाकर अचलायतन पर अधिकार कर लेते हैं और उनकी समझ में आ जाता है कि जिस गुरु के आगमन की प्रतीक्षा थी वह हमारा नेता ही है। अचलायतन का आधुनिक सुधारों के आधार पर फिर से निर्माण कराया जाता है।

स्पष्ट है कि अचलायतन से कवि का अभिप्राय हिन्दू-समाज के ढाँचे से है जिसके द्वार चारों ओर से बन्द कर लिये गये हैं। जिससे कोई बाह्य प्रकाश भीतर न पहुँच सके। सुधारवादी इस दम्भ और रूढ़ियों के पोषक समाज के ढाँचे को तोड़कर उसका निर्माण नये रूप में करना चाहते हैं, जिससे वह समस्त जन-समाज का— जिसमें अन्त्यज और अछूत भी शामिल हैं—समान रूप से अपना हो सके। इस प्रकार इस नाटक-द्वारा कवि ने निष्ठा और विरोध के द्वन्द्व का चित्रण किया है। पर कवि की सम्मति विरोध के ही पक्ष में नहीं है। गुरु आता है, अचलायतन का द्वार भी टूट जाता है, बाहर का प्रकाश भीतर प्रवेश करता है, अस्पृश्य शोनपांशुओं को प्रवेशाधिकार मिल जाता है, पंचक की या विद्रोह की जय होती है, पर निष्ठा में अश्रद्धा फिर भी नहीं होती। कवि सत्य की किरणें निष्ठा में ही पाता है। उसके मत में चंचलता ही जीवन का एक-मात्र लक्षण नहीं है। विद्रोह की चंचलता समाप्त होने पर सत्य के प्रकाश के फैलने का अवसर आता है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ रूढ़िवाद के विद्रोही और सुधारों के समर्थक हैं। पर समाज का वही रूप उन्हें ग्राह्य होगा

जो प्रगति को स्वीकार करता हुआ भी संस्थिति का त्याग न करे। उनके मन के इसी द्वन्द्व ने 'अचलायतन' के नाटकीय रूप में प्रकाश पाया है।

सन् १९१२ में कवि ने 'डाकघर' की रचना की। योरप में इस नाटक की प्रसिद्धि सबसे अधिक हुई है। रवीन्द्रनाथ के हृदय की अन्यतम अभिलाषा 'आमि चंचल हे, आमि सुदूरेरपियासी' की अभिव्यक्ति इस नाटक में पूर्ण और सुन्दरतम रूप में हुई है। अमल, सुधा, ठाकुर दादा, डाक हरकारा, इसके प्रधान पात्र हैं। ठाकुर दादा का चरित्र प्रायः वैसा ही है, जैसा कि हम रवीन्द्रनाथ के अन्य नाटकों में देख आये हैं। कथानक इस प्रकार है—

अमल बीमार बालक है। माधव उसका सौतेला पिता है। अमल की बीमारी के विषय में चिकित्सक ने कह दिया है कि इसे बाहरी हवा न लगने पाये, नहीं तो इसकी बीमारी असाध्य हो जायगी। अमल के व्यवहारकुशल पिता ने अमल को एक घर में बन्दी बना रक्खा है। घर के सब द्वार और खिड़कियाँ हर समय बन्द रहती हैं। केवल एक झरोखा जिसके पास अमल की खाट बिछी रहती है, खुला रहता है। उस झरोखे से अमल उज्ज्वल आकाश की ओर देखा करता है। उसे ऐसा लगता है, मानो अनन्त दूरी अमल को अपनी ओर बुलाने का संकेत कर रही हो। परन्तु अमल बीमार है, पिता ने घर के सब द्वार बन्द कर रक्खे हैं, यदि बाहर जाय भी तो कैसे! अमल देखता है कि पाँचमूँड़ा पहाड़ की चोटी झरोखे से साफ़ दिखाई पड़ती है। इस पहाड़ की ओर जाने का रास्ता अमल के झरोखे से नीचे होकर ही चला गया है। रात-दिन उस पर यात्री पहाड़ की ओर आते-जाते रहते हैं। वह भी चाहता है कि बहुत-सी छोटी-छोटी धाराओं को पार करता हुआ पहाड़ के दूसरे छोर तक जाय और देखे कि उधर—उस ओर—क्या है। पर वह जाय कैसे! वह बीमार है और पिता उसको ऐसा करने नहीं देगा, क्योंकि चिकित्सक ने उसे बाहर जाने से मना कर दिया है। पथिकों से बात करने की उसे बड़ी लालसा है; उसके झरोखे के नीचे से जो निकलता है उसे वह बात-चीत करने के लिए रोक लेता है और उससे बाहर के विषय में पूछा करता है। दहीवाले को बुलाकर वह घंटों अपने पास बिठाता है।

इसी प्रकार पुलिस के सिपाही से भी बातें किया करता है। एक दिन उसने पुलिस के सिपाही से पूछा कि तू घड़ियाल क्यों बजाया करता है? उसने उत्तर दिया कि मैं लोगों को घड़ियाल बजाकर यह सूचना दिया करता हूँ कि समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता और अज्ञात देश की ओर चलता चला जाता है। बीमार बालक के मन में सिपाही की बात सुनकर तुरन्त यह भाव आता है कि क्या अच्छा होता कि मैं भी समय के साथ उड़कर अज्ञात देश में पहुँच जाता। सिपाही उत्तर देता है कि किसी न किसी दिन हममें से प्रत्येक को वहाँ जाना है। परन्तु अमल इस पर विश्वास नहीं करता। वह जानता है कि चिकित्सक उसे इस मकान से बाहर कहीं न जाने देगा। वह सिपाही से पूछता है कि हमारे घर के सामनेवाले उस बड़े मकान में क्या काम होता है? सिपाही उसे बताता है कि वह राजकीय डाकघर है। और किसी दिन तुम्हारे नाम भी वहाँ से कोई पत्र आयेगा। संसार के सभी काम इसी डाकघर की चिट्ठियों के आधार पर चला करते हैं।

सुधा नाम की माली की लड़की भी अमल के झरोखे के नीचे से रोज़ निकला करती है। वह आते-जाते समय घण्टों बैठकर अमल से बातें किया करती है। अमल अपने मन की कोई बात उससे छिपाता नहीं। वह लड़की से प्रकट कर देता है कि उसके मन में ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की शाखाओं सें फूल तोड़ने की या स्वयं चम्पा का फूल बनकर डाल से लग जाने की कितनी लालसा है। खेलनेवाले लड़कों का एक दल अमल के झरोखे के पास से होकर निकलता है और अमल को खेलने के लिए बाहर आने को कहता है। पर अमल बाहर कैसे जाय! चिकित्सक ने उसें मना जो कर दिया है!

अमल धीरे-धीरे अधिक बीमार हो जाता है। अब वह खाट से उठ भी नहीं पाता। इसी समय ठाकुर दादा अमल के पास आता है जो अमल के मनोभाव को भली भाँति समझता है। अमल कहता है—ठाकुर दादा! क्या तुम्हें मालूम है कि राजा ने मेरे नाम कोई पत्र भेजा है? वृद्ध उत्तर देता है—निश्चय रक्खो, पत्र अवश्य आयेगा।

राज-चिकित्सक आता है और देहाती-चिकित्सक की आज्ञाओं को

उलट देता है तथा मकान के सब किवाड़ खुलवा देता है। अमल को प्रकाश और तारों का दर्शन करके वहुत सुख अनुभव होता है और वह पड़कर सो जाता है। सुधा फूल लेकर आती है और अमल को जगाने का प्रयत्न करती है; पर अमल जागता नहीं। वह फूल रखकर चली जाती है और निकटवर्ती लोगों से कह जाती है कि जगने पर ये फूल अमल को दे देना और कह देना कि सुधा तुम्हें भूली नहीं है।

रवि वाबू के शैशव के संस्मरण जिन्होंने पढ़े हैं, उन्हें यह जानने में देर न लगेगी कि इस नाटक की प्रेरणा कवि को अपने वाल्यजीवन से मिली है। फिर भी विश्वजीवन पर भी यह नाटक ठीक चरितार्थ होता है। अमल मानव की उन वासना-आकांक्षाओं का प्रतीक है जो प्रति समय स्वतंत्र और स्वाभाविक विकास के लिए पंख फड़फड़ाया करती हैं, पर जिनके पंख अस्वाभाविक वंधनों और नियमों के द्वारा आवद्ध हैं। इन नियमों का निर्माण और पालन भी उन्हीं के द्वारा होता है जो अपने को मानव का निकट स्नेही और अभिभावक समझते हैं। नियम-निर्माता इस प्रकार की वासना-आकांक्षाओं को रोग समझते हैं और उनके दमन-शमन के लिए उपाय बतलाते हैं। पर ठाकुर दादा जैसे समाज के अनुभवी व्यक्ति इस कठिनाई को समझते हैं। अमल के समवयस्क भी जो संसार की ज़िम्मेदारियों से मुक्त हैं, अमल की इस दुर्दशा का अनुभव करते हैं। अमल स्वयं भी राजा के 'डाकघर' से एक पत्र पाने की प्रतीक्षा में है जिसमें उसके लिए राजा की ओर से मुक्ति-संदेश आयेगा। वह संदेश आ जाता है और फिर अमल को बंधन में रखने का सामर्थ्य किसी में नहीं रहता।

'डाकघर' की रचना शान्तिनिकेतन में हुई थी और इसका पहली बार अभिनय जोड़ासाँको में सन् १९१७ में हुआ था! दर्शकों में अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अतिरिक्त महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय, लाला लाजपतराय, मिस्टर खापर्डे, आदि राष्ट्रीय नेता भी, जो उन दिनों कांग्रेस के अधिवेशन के सिलसिले में कलकत्ते में ही थे, उपस्थित थे।

गीताञ्जलि-यात्रा

सन् १९१२ में कवि ने लन्दन व अमेरिका की यात्रा करने का निश्चय किया। उद्देश्य था डेनमार्क की सहयोगात्मक शिक्षण-पद्धति का अध्ययन करना और तद्द्वारा प्राप्त अनुभवों से शान्तिनिकेतन को लाभ पहुँचाना, साथ ही शान्तिनिकेतन की शिक्षा-पद्धति और उद्देश्यों से पश्चिम-वासियों को परिचित कराना, जिससे पूर्व और पश्चिम का सांस्कृतिक मेल कराने में आसानी हो सके। १६ जून सन् १९१२ को कवि लन्दन पहुँचे और वहाँ हैम्सटेड के 'दि वेल आफ़ हेल्थ', में ठहरे। वहाँ पहुँचकर कवि की इच्छा सर्वप्रथम प्रसिद्ध चित्रकार श्री राथेन्स्टीन से मिलने की हुई। राथेन्स्टीन भारत-प्रेमी अँगरेज़ों में से थे और भारतीय मामलों में काफ़ी दिलचस्पी रखते थे। वे भारत में कुछ दिनों रह भी चुके थे और कई बार प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए जोड़ासाँको भी गये थे। यहीं रवीन्द्रनाथ ने पहले-पहल राथेन्स्टीन को देखा था और राथेन्स्टीन ने रवीन्द्रनाथ को। यद्यपि दोनों में कोई बातचीत नहीं हुई थी, फिर भी रवीन्द्रनाथ की शुभसौम्य आकृति और गम्भीर मुद्रा से चित्रकार राथेन्स्टीन बहुत प्रभावित हो गये थे और उन्हें विश्वास हो गया था कि यह व्यक्ति कभी संसार के महापुरुषों में से एक होगा। इसके पश्चात् सन् १९१० में रवीन्द्रनाथ की एक कहानी का अँगरेजी अनुवाद 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ। राथेन्स्टीन ने भी उसे पढ़ा और वह कहानी उन्हें बहुत पसन्द आई। कुछ दिन बाद 'माडर्न रिव्यू' के संपादक श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय को राथेन्स्टीन का एक पत्र मिला जिसमें उन्होंने रवीन्द्रनाथ की अन्य कृतियों के अँगरेजी अनुवादों के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की थी। यह पत्र शान्तिनिकेतन भेज दिया गया था और वहाँ से अजित चक्रवर्ती-द्वारा किये हुए कवि की कुछ कविताओं के अँगरेजी अनुवाद उनके पास भेज दिये गये थे।

इँगलैंड में कवि से भेंट होने पर राथेन्स्टीन साहब को बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर यह मिलना-जुलना प्रायः प्रतिदिन होता रहा। एक दिन राथेन्स्टीन साहब के अनुरोध करने पर कवि ने उन्हें अपनी कविताओं के कुछ अँगरेज़ी

अनुवाद दिखाये। ये अनुवाद कवि ने स्वयं अपनी पिछली बीमारी के दिनों में, जब डाक्टरों ने उन्हें परिश्रम करने से रोक दिया था, किये थे। राथेन्स्टीन साहब ने इन्हें बड़े प्रेम से कई बार पढ़ा और इसके बाद अपने अन्य परिचित साहित्यिक-मित्रों को भी उनका रसास्वादन कराया। इन मित्रों में श्री यीट्स भी थे। कवि यीट्स बंगाली गीतों के इस अँगरेज़ी गद्यानुवाद से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने एक भोज में, जो कवि के सम्मानार्थ १० जुलाई को ट्रोकेडेरो रेस्त्राँ में दिया गया था और जिसके सभापति का आसन स्वयं कवि यीट्स सुशोभित कर रहे थे, कवि की प्रशंसा इन शब्दों में की—"रवीन्द्रनाथ के सम्मान में भाग लेना मेरे साहित्यिक-जीवन की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण घटना है। मेरे पास उनके सौ गीतों का जो अपने मूलरूप में बँगला में लिखे गये हैं, अँगरजी गद्यानुवाद है। ये गीत कवि रवीन्द्रनाथ ने गत १० वर्ष के भीतर लिखे हैं। मैं ऐसे किसी कवि को नहीं जनता जिसने अँगरेज़ी में भी इन दस वर्षों में ऐसे सुन्दर गीत लिखे हों। जब मैं इन्हें पढ़ता हूँ तब इनके भाषागत और भावगत सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता हूँ। मिस्टर टागौर संगीतज्ञ भी हैं। अपने गीतों का स्वर निर्धारण वे स्वयं करते हैं और फिर औरों को अपने गीत सिखाते हैं। बंगाल में उनके गीतों का प्रचार घर-घर में हो गया है। इन सब गीतों का विषय केवल एक ईश्वर-प्रेम है। मैंने चाहा कि योरप के समस्त साहित्य में से इन गीतों के टक्कर के गीत निकालूँ, पर मैं असफल रहा। केवल एक कवि थामस ए कैम्पिस ऐसा है जिसके 'इमीटेशन आफ़ क्राइस्ट' के गीतों की तुलना रवीन्द्रनाथ के गीतों से किसी हद तक की जा सकती है, यद्यपि मूल भावों की दृष्टि से दोनों में आकाश-पाताल का अंतर है। थामस ए कैम्पिस पाप की भावना से आविष्ट है और रवीन्द्रनाथ एक सरल शिशु के समान पाप-भावना से सर्वथा अनिर्लिप्त हैं। इसके अतिरिक्त थामस के गीतों में प्रकृति का कोई स्थान नहीं है। उनकी अत्यन्त कठोर प्रकृति प्रेम में प्रवेश नहीं करती। इधर मिस्टर टागौर प्रकृति के परम प्रेमी हैं। उनकी कविता हृदय के मार्मिक स्पर्श से परिपूर्ण है और उसमें प्रेम पूर्ण रूप से व्याप्त है।"

अन्ततः आपस में निश्चय हुआ कि रविवार के दिन मिस्टर राथेन्स्टीन

के घर पर एक मित्र-गोष्ठी हो और उसमें कवि यीट्स स्वयं रवीन्द्रनाथ की कविताओं का पाठ करें।

श्री सी० एफ़० एण्ड्रूज़ और उनके परम मित्र पियर्सन भी उन दिनों लन्दन में ही थे। रवीन्द्रनाथ के विषय में इन लोगों ने भारत में रहते समय ही बहुत कुछ सुन रक्खा था यद्यपि प्रत्यक्ष परिचय का सुयोग तब तक नहीं आया था। कवि के लंदन में आने की सूचना से इन्हें अपार प्रसन्नता हुई और ये भी रविवार के दिन उस कवि-गोष्ठी में सम्मिलित होने के लिए मिस्टर राथेन्स्टीन के घर पहुँच गये। इनके अतिरिक्त श्रीमती मेसिनक्लेयर, एवलिन अंडर हिल, अरनेस्ट रेज़, फाक्स स्ट्रेंग वेज़, हेनरी नेविल्सन आदि विद्वान् भी वहाँ पहले से ही उपस्थित थे।

इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए स्वर्गीय एण्ड्रूज़ लिखते हैं—

"धीरे-धीरे रात्रि का अंचल फैला और साहित्य तथा कला के अनेक पारखी कवि के दर्शन करने के लिए वहाँ एकत्र होने लगे। हाथ में कवि की कविताओं की पाण्डुलिपि लिए प्रसिद्ध कवि डब्ल्यू० बी० यीट्स वहाँ पहले से ही उपस्थित थे। वे उन गीतों को अनेक बार पढ़ चुके थे और उनके मर्म को अच्छी तरह समझते थे। रात्रि कुछ और भीगी। यीट्स ने कविता-पाठ आरम्भ किया। प्रत्येक कविता सांध्य-प्रार्थना-सी पवित्र प्रतीत हो रही थी। कवि यीट्स के पढ़ने का ढंग भी निर्दोष और प्रभावोत्पादक था। पढ़ते-पढ़ते कविता के किसी मर्मस्थल को समझाने के लिए वे रुक जाते थे। मुझे याद है कि कवि की एक मृत्यु-विषयक कविता के निम्न अंश की व्याख्या करते समय वे आनन्द-विभोर हो उठे थे—

I have loved life so much why should I not love death even more ?

पहला पाठ समाप्त हुआ। सभी श्रोता रस-विभोर होकर कवि के भावों की प्रशंसा करने लगे। रवीन्द्रनाथ सबके बीच चुपचाप नत-मस्तक खड़े सोच रहे थे। दूसरा पाठ आरम्भ हुआ। इस बार के गीत पावस-ऋतु, सघन मेघ, तुषारावृत पर्वत, फेनिल सागर, पद्म-शोभित पुष्करिणी आदि प्रकृति-वर्णनों से संबद्ध थे। इधर कविता-पाठ हो रहा था उधर

श्रोता अपने अन्तश्चक्षुओं के आगे बंगाल की शस्य-श्यामला भूमि को प्रतिमूर्त्त देख रहे थे। इन गीतों का अँगरेज़ी अनुवाद कवि ने स्वयं किया था। सभी उपस्थित काव्य-मर्मज्ञों की सम्मति थी कि जितना माधुर्य और जितनी स्वाभाविकता इस अनुवाद के शब्दों में है उतनी शायद मूल-भाषा के शब्दों में भी नहीं होगी।*

कवि यीट्स् ने न केवल उस गोष्ठी में कविता-पाठ करके उपस्थित कलामर्मज्ञों को रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का परिचय दिया, उन्होंने कवि के उन गीतों का स्वयं संपादन करके 'गीताञ्जलि' नाम से एक पाण्डुलिपि तैयार की और उसकी भूमिका भी स्वयं लिखी। राथेन्स्टीन साहब ने इस संग्रह के लिए कवि का एक चित्र तैयार किया और फिर इन्हीं दोनों कलामर्मज्ञों की प्रेरणा से लन्दनस्थित 'इंडिया सोसाइटी' ने डरते-डरते इस संग्रह का प्रथम संस्करण छापना स्वीकार कर लिया। पहली बार कुल ७५० प्रतियाँ छापी गईं जो केवल 'इंडिया सोसाइटी' के सदस्यों के लिए थीं। इस संग्रह का प्रकाशित होना था कि इँगलैंड में 'गीताञ्जलि' और रवीन्द्रनाथ की धूम मच गई। वहाँ के अच्छे-अच्छे साहित्यिक और कलाकार कवि के दर्शनों के लिए आने लगे।

एकान्त और शान्त वातावरण में रहनेवाले रवीन्द्रनाथ इस चहल-पहल, आवागमन, मिलने-जुलने और दावतें खाने से शीघ्र थक गये। उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया। अन्त में उन्होंने दीनबन्धु एण्ड्रूज़ से अपना मनोभाव प्रकट किया और उनकी सम्मति से एक दूरवर्ती गाँव बटरटन में स्वास्थ्य-सुधार के लिए चले गये। भारतीय सिपाही-विद्रोह के प्रख्यात शूर जनरल आऊटरम इसी ग्राम के निवासी थे। उन्हीं के पुत्र के घर रवीन्द्रनाथ अतिथि बने। इँगलैंड के इस ग्राम में रवीन्द्रनाथ की दिनचर्य्या का वर्णन दीनबन्धु एण्ड्रूज़ ने इस प्रकार किया है—"कवीन्द्र शीघ्र ही उन लोगों के बीच घर की तरह रहने लगे। वे उस घर के बच्चों के साथ बहुत प्रसन्न रहते थे। बच्चे भी उनसे खूब हिल-मिल गये

* 'माडर्न रिव्यू' अगस्त, १९१२ में श्री सी० एफ़० एण्ड्रूज़ लिखित 'एन ईवनिंग विद रवीन्द्रनाथ' से।

थे। हम लोग भी वहाँ कवि के साथ ही थे। वहाँ एक और छोटा बालक था जो मेरा धर्म-पुत्र था। कवीन्द्र उसे विशेष प्यार करते थे। वह भी उनसे ऐसा हिल गया था कि पहले वह उनकी गोद में जाता और बाद में मेरे पास आता। बालक आश्चर्यपूर्ण ढंग से पहले तो रवीन्द्र के मुख की ओर देखता रहता फिर हाथ से उनकी दाढ़ी पकड़कर खींचता और मुस्कराता। कवि और बालक का यह खेल दर्शकों को आनन्द देता था। वे बहुत देर तक इसी प्रकार खेलते रहते थे।

"वहाँ भी कवि अपनी बँगला पोशाक ही पहनते थे। उस गाँव के निवासियों के लिए वह नई चीज़ थी। पहले तो उस पोशाक को देखकर वे बड़ा आश्चर्य करते थे; परन्तु धीरे-धीरे वे उसे देखने के अभ्यस्त हो गये। कवीन्द्र से उनका परिचय भी बढ़ गया। जब कवि बाहर घूमने निकलते, तो ग्रामवासी उनका स्वागत करते और उनसे बातें करने लगते। कवीन्द्र उनके घर पर भी जाया करते थे तथा ग्राम-पाठशाला और गिरजे में भी पहुँच जाते थे। उस अल्पकाल में ही वे स्थानीय जीवन के एक अंग बन गये थे। मौसम अच्छा होने पर वे खेतों और मैदानों में भी घूमने निकल जाते थे। भ्रमण करना उन्हें बहुत पसन्द था। उस ग्राम का जलवायु कवि को अनुकूल आया और उनके स्वास्थ्य में सुधार होने लगा। वे देहात के इस शान्त वातावरण में आकर नगर के कोलाहल और धूल-धक्कड़ को भूल गये। रात्रि में भोजनोपरान्त कवीन्द्र अपने बँगला गीत हमें गाकर सुनाते। गीतों का विषय वे हमें पहले ही समझा देते थे। उस गोष्ठी के सभी सदस्य भारत-प्रेमी थे। मेरे मित्र तो अपनी बीमारी के कारण ही भारत जाते-जाते रुक गये थे। भारत की चर्चा करते समय हम लोग कवि से बहुत से प्रश्न भी पूछा करते थे। कवीन्द्र अपने बोलपुर के स्कूल की चर्चा प्रायः किया करते थे और सदैव वहाँ के विद्यार्थियों की याद उन्हें आती रहती थी। रात को कभी-कभी हम लोग खेला भी करते थे। हमारी पार्टी में कुछ बालक भी रहते थे। पर खेलते समय हँसने में हम सब बालक ही बन जाते थे। प्रातःकाल के समय कवि एकान्त में अकेले रहा करते थे। कलेवे के समय बाहर आते थे।

"इस प्रकार दिन शीघ्रता से बीत गये। इस बीच मुझे अपना लेक्चर देने के लिए केम्ब्रिज जाना पड़ा। मैं इस आशा से गया था कि लौटकर फिर भेंट होगी; परन्तु ऐसा हुआ नहीं। मौसम सहसा बदल गया। पानी की झड़ी लग गई और कड़ी सर्दी पड़ने लगी। गाँव समुद्र की सतह से काफ़ी ऊँचा था और वहाँ हमेशा तेज़ हवायें चलती रहती थीं। ऐसा मौसम कवीन्द्र की प्रकृति के अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ, और डाक्टर ने उनको दक्षिण के किसी प्रान्त में जाने की सलाह दी। फलतः कवि ने वह गाँव छोड़ दिया और फिर लंदन लौट गये।"*

लन्दन पहुँचकर कवीन्द्र ने इँगलैंड के प्रख्यात साहित्यकार श्री बर्नार्ड-शा, एच० जी० वेल्स, स्टाफर्ड ब्रुक, जान मेसफ़ील्ड, लाविस डिकिन्सन, और बर्ट्रेण्ड रसल आदि से भेंट की। और फिर वहाँ से चलकर २७ अक्टूबर, सन् १९१२ को न्यूयार्क पहुँचे। पर उनसे भी पहले उनकी प्रशंसा अमेरिका पहुँच चुकी थी और वहाँ की जनता उनके दर्शनों को उत्सुक थी। वहाँ कवि ने कई गिरजाघरों, विश्वविद्यालयों तथा सम्मानार्थ आयोजित सभाओं में भारतीय अध्यात्मवाद, दर्शन तथा भारत की वर्तमान राजनैतिक समस्याओं पर भाषण दिये। अरबाना में वे जब तक रहे, प्रति-दिन सभाओं, मित्र गोष्ठियों और भेंटों की धूम रही। जनवरी, १९१३ में वे अरबाना से शिकागो पहुँचे और वहाँ श्रीमती ब्राउन मोडी के अनु-रोध पर उन्हीं के घर पर ठहरे। यहाँ कवि के दो महत्त्वपूर्ण भाषण हुए—एक शिकागो विश्व-विद्यालय में 'भारत की प्राचीन-सभ्यता' पर और दूसरा यूनीटेरियन हाल में 'पाप की समस्या' पर। इन्हीं दिनों रोचेस्टर में जातियों की कांग्रेस (The Congress of Races) का अधिवेशन हो रहा था। रवीन्द्रनाथ भी उसमें सम्मिलित होने के लिए वहाँ पहुँचे। यहीं जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक रुडोल्फ यूकन (Rudolph Eucken) से उनकी भेंट हुई। यूकन 'गीताञ्जलि' का जर्मन अनुवाद पढ़ चुके थे और उनके हृदय में रवीन्द्रनाथ के लिए बहुत श्रद्धा थी। ३० जनवरी को उक्त कांग्रेस में 'जाति-संघर्ष' पर अपना प्रसिद्ध व्याख्यान देकर रवीन्द्रनाथ

---

*'माडर्न रिव्यू' १९१२ से संकलित।

निमंत्रण पाकर बोस्टन पहुँचे और वहाँ विद्वानों की एक सभा में भाषण दिया। इसके बाद १० मार्च को हार्वर्ड विश्वविद्यालय में भाषण देकर वे अरबाना लौट आये।

जून, १९३० में कवि अमेरिका का भ्रमण समाप्त करके इँगलैंड लौट गये और वहाँ कैक्सटन हाल में धर्म और संस्कृति पर कई महत्त्व-पूर्ण व्याख्यान दिय।

इस बार के योरप और अमेरिका में दिय गये व्याख्यानों ने रवीन्द्र-नाथ की कीर्ति में चार चाँद लगा दिये। संसार भर के समाचार-पत्रों में उनका सचित्र परिचय छपा। भारतवासी भी योरप में अपने इस महान् कवि का अभूतपूर्व सम्मान देखकर श्रद्धा और गर्व से गद्गद हो गये। उन्हें लालसा लगी थी कि रवीन्द्रनाथ कब स्वदेश लौटें और हम उनके चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करके अपना जीवन सफल करें। अन्त में वह दिन भी आया और इँगलैंड से प्रस्थान करके ६ अक्टूबर, १९१३ को कवि शान्तिनिकेतन पहुँच गये।

नोबेल-पुरस्कार

कुछ दिन बाद कलकत्ता के प्रमुख दैनिक 'स्टेट्स मैन' में लन्दन से १३ नवम्बर, १९१३ को रूटर-द्वारा भेजा हुआ एक समाचार इस प्रकार छपा—

"रवीन्द्रनाथ टागौर
नोबेल पुरस्कार दिया गया।
बंगाली कवि का सम्मान

लन्दन, १३ नवम्बर

साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार भारतीय कवि रवीन्द्रनाथ टागौर को दिया गया।

इस पुरस्कार की रक़म आठ हज़ार पौंड (क़रीब १,२०,००० रुपये) है।"

इस समाचार के छपते ही भारतीयों के हृदय बल्लियों उछलने लगे। रवीन्द्रनाथ पर उनका, अभिमान दूना हो गया जिन्होंने इन गये-बीते दिनों

में भी विदेशों के सामने भारतमाता का मस्तक ऊँचा उठाया और यह सिद्ध कर दिखा दिया कि सदियों से ग़ुलाम रहने पर भी भारतमाता सच्चे अर्थों में 'रत्नप्रसू' है और ऐसे ऐसे नर-रत्न उत्पन्न कर सकती है जो आज भी सारे संसार को सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ा सकते हैं। इस उमड़ते श्रद्धाभाव को कवि के चरणों में समर्पित करने के लिए प्रमुख मनुष्यों का एक दल एक स्पेशल ट्रेन-द्वारा कलकत्ते से बोलपुर पहुँचा।

परन्तु कवि ने इस भीड़ का स्वागत वैसा नहीं किया जैसा कि लोगों को आशा थी। उन्होंने कहा—"आप लोग मुझे आज जो सम्मान देने आये हैं वह मेरे लिए नहीं है, वह तो उस पुरस्कार के लिए है जो स्विस एकेडेमी ने मेरी पुस्तक 'गीतांजलि' पर दिया है। मैं जानता हूँ कि आप लोगों में से ऐसा शायद ही कोई होगा जिसने एक बार भी मेरी रचनाओं को पढ़ने का कष्ट किया होगा। मैं नहीं जानता कि आज आप लोगों को यहाँ आने की ज़रूरत ही क्या थी? मैं आप लोगों को अब तक प्रसन्न नहीं कर सका, पर आज अचानक वह कौन-सी बात हो गई कि आप लोग मुझसे इतने प्रसन्न हो गये हैं? आप लोग मुझे क्षमा करें, मैं आपकी उस प्रशंसा को उचित और ग्राह्य नहीं समझता जो विदेशों की प्रेरणा पाकर उमड़ उठी है।"

रवीन्द्रनाथ के शब्दों से जनता को अपार क्षोभ हुआ, यद्यपि उनमें असत्य का अंश ज़रा भी नहीं था। अखबारों में भी काफ़ी टीका-टिप्पणी हुई। अकेले बाबू विपिनचन्द्र पाल ही ऐसे थे जिन्होंने कवि के व्यवहार को उचित और न्यायसंगत बताया। कवि का समर्थन करते हुए उन्होंने 'हिन्दूरिव्यू' में लिखा—"यदि रवीन्द्रनाथ ऐसे लोगों की भर्त्सना न करते, जिन्हें किसी की प्रशंसा और निन्दा योरप की सम्मति के आधार पर करने की आदत पड़ी हुई है, तो वे वैसे न हो सकते, जैसे आज हैं।"

कवि की इस विश्वव्यापी प्रशंसा से प्रभावित होकर सर रेमज़े मेकडानल्ड जो उन दिनों भारत के पब्लिक सर्विसिज़ कमीशन के मेम्बर थे, शान्तिनिकेतन देखने आये। १४ जनवरी, १९१४ के 'डेली क्रानिकल' में शान्तिनिकेतन पर उनका लेख भी प्रकाशित हुआ। दिसम्बर, १९१३ में

अपने वार्षिक उपाधि वितरणोत्सव के अवसर पर कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भी डी० लिट्० की उपाधि देकर कवि को सम्मानित किया। इधर लार्ड कार्लमाइकेल ने कवि को गवर्नमेन्ट हाउस में आमन्त्रित किया तथा कई प्रतिष्ठित नागरिकों की उपस्थिति में अपने हाथो से उन्हें नोबेल-पुरस्कार का धन और पदक अर्पित किया।

साधना

गीताञ्जलि-यात्रा के सिलसिले में इँगलैंड और अमेरिका में कवि ने जो व्याख्यान दिये थे उनमें से कुछ का संग्रह 'साधना' नाम से प्रकाशित हुआ। 'साधना' का विषय आठ अध्यायों में बाँट दिया गया है। इसमें व्यक्ति और संसार, आत्मज्ञान, पाप की समस्या और अहंवाद, आदि पर विचार किया गया है। कवि के शब्दों में—पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं में मुख्य अन्तर यह है कि पश्चिम प्रकृति को जड़-वस्तुओं का समवाय मात्र मानता है। अर्थात् जीवन में जो कुछ जड़ता, क्षुद्रता और हीनता है, जीवन में जो वस्तु निम्नस्तर की है वही प्रकृति है। इसके विपरीत जीवन में जहाँ बौद्धिक और नैतिक महत्ता है वहाँ मानवप्रकृति है। पर भारत ने ऐसा नहीं माना। हमारे ऋषियों ने मानव-जीवन को प्रकृति का अंग माना है। प्रकृति के साथ ऐकात्म्य होना जीवन का चरम-लक्ष्य है। मनुष्य के और शेष संसार के बीच जो व्यवधान कल्पित किया गया है वह असत्य है। जिस प्रकार मानव प्रकृति से अभिन्न है, उसी प्रकार ईश्वर भी समस्त वस्तुओं में परिव्याप्त है। मनुष्य में चेतना रूप में व्याप्त होनेवाली शक्ति वही है जिसे हम ईश्वर कहते हैं और जो स्वयं को 'एकं रूपं बहुधा या करोति', के अनुसार विभिन्न प्राकृतिक रूपों में प्रकाश किया करती है। सर्वभूतों में उसी शक्ति की परिव्याप्ति का अनुभव करना (भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य) जीवन की सार्थकता है। पश्चिम को अभिमान है कि वह प्रकृति पर विजय पा रहा है, मानो वे मनुष्य को प्रकृति का शत्रु समझते हैं। पर भारत का दृष्टिकोण दूसरा था। भारत के ऋषियों ने भयानक जंतुओं से पूर्ण वनों में अपनी तपोभूमि बनाई थी। वहीं वे प्रकृति-के निकट संपर्क में रहकर आत्मचिन्तन और महत्सत्य का अनुसंधान करते

थे। प्राचीन भारत की सभ्यता का आदर्श अपना था। भारतवासी शक्ति इसलिए नहीं चाहते थे कि औरों को पराभूत करके उन पर शासन करें, अपनी क्षमता को बढ़ाकर दूसरों को अपना दास बनायें, व्यापारिक संघ बनाकर अन्य जातियों का शोषण करें, आक्रमण और आत्मरक्षा के साधनों की व्यवस्था करें। वे उस परमशक्ति के अनुसंधान और चिन्तन को ही परम लाभ मानते थे, जिसे जान लेने पर मृत्यु का भय नहीं रहता।

सभ्यता की कसौटी यह है कि यह न देखकर कि उसने कितनी शक्ति संग्रह करली है, यह देखा जाय कि उसने अपने विधानों और अपनी संस्थाओं-द्वारा, मानव-प्रेम को कितना विकसित और प्रचारित किया है।

जब हम संसार को अपनी वासनाओं के पर्दे की ओट से देखकर छोटा बना देते हैं उस समय हम उसका वास्तविक रूप पहचानने में असमर्थ रहते हैं। हमें अपने दैनिक कार्यों में सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि हम जो कुछ कर रहे हैं दैवी प्रेरणा और दैवी शक्ति ही की प्रेरणा से।* संसार में पाप भी है, दुःख भी और अपूर्णता भी। पर यदि कोई प्रश्न करे कि संसार में आखिर इनके होने की आवश्यकता ही क्या थी, तो उससे पूछा जा सकता है कि क्या पाप और अपूर्णता भी संसार में किसी का लक्ष्य है? इसका उत्तर केवल एक हो सकता है 'नहीं'। जो दार्शनिक संसार में पाप की सत्ता मानते हैं वे भ्रम में हैं। आनन्द की सत्ता ही उनके इस सिद्धान्त को मिथ्या सिद्ध कर रही है।† संसार की प्रत्येक वस्तु प्रगति करती हुई पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही है। जो मनुष्य संसार में किसी उद्देश्य के लिए जीवित रहता है, या जो देशोद्धार को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है, उसे दुःख अधिक पीड़ा नहीं पहुँचाते। इसी प्रकार उच्चजीवन निर्वाह करनेवालों के निकट सुख का अधिक मूल्य नहीं होता। क्षणिक दुःख और क्षणिक सुख जीवन पर क्या प्रभाव डालते हैं, यह व्यक्ति-विशेष पर निर्भर है।

---

* इह देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा ज्ञानं हृदये सन्निविष्टः।

† आनन्दाद्धि खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति।

हमारी आत्मा उस शाश्वत शक्ति का अंश है जो अजर-अमर है। वह जन्म और मृत्यु की अखण्ड शृंखला में प्रवर्तन करती रहती है। उसका कभी नाश नहीं होता। इस सत्य का अनुभव हो जाने पर मृत्यु का भय दूर हो जाता है।* क्योंकि मृत्यु केवल हमारे भौतिक शरीर की होती है। जिस प्रकार हमें अपनी शारीरिक इच्छाओं और वासनाओं को नियमित और संयमित रखना आवश्यक है, उसी प्रकार अपनी उन इच्छाओं और वासनाओं को भी नियमित और संयमित रखना आवश्यक है, जिनका प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर पड़ता है। हम सुख और स्वाधीनता चाहते हैं पर उनका मूल्य कम से कम चुकाना चाहते हैं। यही सब झगड़े-बखेड़े की जड़ है। यदि प्रेम और भलाई को सामने रखकर व्यवहार किया जाय तो इन झगड़ों में बहुत कुछ कमी हो जाय। हम जो कुछ करते हैं वह ईश्वर की प्रेरणा से करते हैं। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि हम दैव के हाथों की मशीन हैं। हमारी आत्मा स्वयं कार्य करने में ही सुख का अनुभव करती है। जीवन हमारे लिए ईश्वर की अनोखी देन है, यदि हम उसका पूर्ण आनन्द उठाएँ और जंगलों और एकान्त गुफाओं में रहकर उसे व्यर्थ न खो दें। दैनिक जीवन में हमारे चारों ओर सौंदर्य बिखरा रहता है। उसे पहिचानना और उससे अपने जीवन को सुखी बनाना हमारा काम है। इसी कार्य-द्वारा हम संसार की सभी वस्तुओं के साथ आत्मीयता स्थापित कर सकते हैं। ईश्वर को न जानना हमारे जीवन का सबसे बड़ा अपराध है। पर ईश्वर को जानना ही सब कुछ नहीं है। ईश्वर को जानकर उससे सम्पर्क बढ़ाना और उसके नाते विश्व-जगत् को अपना सम्बन्धी बना लेना ही जीवन की पूर्णता है। ईश्वर ही के नाते से हम समस्त जड़, जंगम प्रकृति से भ्रातृ-भाव के बंधन में बँधे हुए हैं। जीवन की सफलता यही है कि मनुष्य अपनी भौतिक संकीर्णता से निकलकर विश्व-बन्धुत्व प्राप्त कर ले। मनुष्य महान् है वह 'अपाप-विद्धम्' है, उसे अपने उद्धार के लिए किसी ईश्वर की दया की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं अपना

---

*या एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।

उद्धारक है। परम-शक्ति के साथ हमारी आत्मा का मेल स्वाभाविक है। वह सम्बन्ध जुड़ा-जुड़ाया है। परमात्मा ने हमारी आत्मा को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया है। मंत्र पढ़े जा रहे हैं। 'यदेतद् हृदये मम तदस्तु हृदये तव, की घोषणा की जा चुकी है। ईश--जिसकी व्याख्या 'यत्' और 'तत्' के अतिरिक्त और शब्दों-द्वारा नहीं हो सकती--हमारे अभ्यन्तर में सदैव निवास करता है। वही 'तत्' इस 'तत्' की जिसे हम आत्मा कहते हैं, 'परमागति' है। वही इसकी 'परमा सम्पत्ति' है।

'गीतिमाल्य' और 'गीतालि'

ये दोनों संग्रह पहली बार सन् १९१४ में प्रकाशित हुए। 'गीति-माल्य' में १११ गीत हैं जिनमें से कुछ इँगलैंड में रहते समय लिखे गये थे, कुछ वहाँ से भारत आते हुए जहाज़ पर, कुछ शान्तिनिकेतन में, एक कलकत्ते जाते हुए रेलगाड़ी पर, कुछ हिमालयवर्ती रायगढ़ में, कुछ शिलाइदह में और कुछ कलकत्ते में। इसी से पता चलता है कि कवि उन दिनों अपने मन की उस परिस्थिति में थे जब उन्हें एक जगह जमकर रहना कठिन हो जाता था और वे बराबर सोचते रहते थे कि यहाँ से और कहीं चला जाय। बाहर से इस प्रकार अस्थिर रहते हुए उनका अभ्यन्तरवर्ती जगत् इन दिनों पूर्णता पर पहुँच चुका था जैसा कि 'गीति-माल्य' के गीतों से विदित होता है। इन गीतों में सर्वत्र प्रियतम मिलन के सुख और मानसिक तृप्ति का सन्देश है। 'गीतांजलि' या 'खेया' की विरह-वेदना और प्रतीक्षापूर्ण निशा अब नहीं है। अब कोलाहल शान्त हो चुका है। इस बार कानोंकान बातचीत होगी; अब हृदय की बात गीतों के द्वारा व्यक्त की जायगी--

कोलाहल त वारण ह' लो
एवार कथा काने काने
एखन हबे प्राणेर आलाप
केवलमात्र गाने गाने।

मानव की शक्ति में कवि का विश्वास अब बहुत दृढ़ हो गया है;

वह ईश्वर से मानव को विश्व-अभिनय में भाग देने के लिए प्रार्थना करता है—

बाजाओ आमारे बाजाओ।
बाजाले जे स्वरे प्रभात आलोरे
सेई स्वरे मोरे बाजाओ।
जे स्वर भरिले भाषा भोला गीते
शिशुर नवीन जीवन बाँशिते
जननीर मुख-ताकानो हासिते,—
सेइ सुरे मोरे बाजाओ।*

कवि को इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते अनुभव हो गया है कि उसका हृदय अपार प्रेम और सौंदर्य का भाण्डार है। यदि ऐसा न होता तो भगवान् प्रभाताकाश को गीतिपूर्ण क्यों रचते! आकाश सुन्दर तारिकाओं से परिपूर्ण क्यों होता! फूलों की इतनी रेल-पेल क्यों होती! दखिन पवन कानों में प्रेमसँदेश सुनाता क्यों फिरता! —यह सब कुछ मानव के लिए ही तो है—

यदि प्रेम दिले ना प्राणे
केन भोरेर आकाश भरे दिले
एमनगाने गाने।
केन तारार माला गाँथा
केन फूलेर शयन पाता,
केन दखिन हाउया गोपन कथा
जानाय काने काने?†

---

*बजाओ, मुझको बजाओ। जिस स्वर में प्रभात के आलोक को बजाते हो उसी स्वर में मुझे भी बजाओ। जो स्वर भाषा रहित शिशु के गीत में, उसकी नवीन जीवन वंशी में, माता की मुखदेखी हँसी में भरते हो, उसी सुर में मुझे भी बजाओ।

†यदि तुमने हृदय में प्रेम नहीं दिया तो प्रभात के आकाश को इस प्रकार गीतों से क्यों भर दिया है? क्यों तारिकाओं की माला गूँथते हो?

फिर भी कवि देखता है कि वह जिसे लक्ष्य करके गा रहा है वह अभी तक गीतों के उस पार खड़ा है। कवि के गीत उसके चरणों तक पहुँचते हैं, पर स्वयं कवि वहाँ तक नहीं पहुँच पाता। अतः प्रियतम को ही कृपा करके इस ओर आना होगा—

दाँड़िये आछो तुमि आमार गानेर ओपारे।
आमार सुरगुलि पाय चरण, आमि पाइने तोमारे।
बातास वहे मरिमरि
आर बेंधे रेखो ना तरी,
एशो एशो पार हये मोर
हृदय माझारे।
तोमार साथे गानेर खेला
दूरेर खेला जे,
वेदनाते बाँशि बाजाय
सकल बेलाजे।
करे निये आमार बाँशि
बाजाबे गो आपनि आसि,
आनन्दमय नीरव रातेर
निबिड़ आँधारे।*

'गीताञ्जलि' में प्रिय के जिस स्पर्श के लिए कवि लालायित था, वह

क्यों फूलों की शय्या बिछाते हो और क्यों दक्षिण पवन आकर कान में धीरे-धीरे रहस्य की बातें कहता है?

*तुम हमारे गीत के उस पार खड़े हो। हमारे स्वर तुम्हारे चरणों तक पहुँच जाते हैं, मैं नहीं पहुँच पाता। वायु धीरे-धीरे वह रही है, अब नौका को और बँधा न रक्खो। इस पार उतर कर मेरे हृदय में आ जाओ। तुम्हारे साथ चलनेवाला गान का खेल तो दूर का खेल है, सब समय बंशी वेदना युक्त लय बजाती है। तुम आ जाओ और हमारी बंशी हाथ में लेकर आनन्दमय निःस्तब्ध रात्रि के घने अंधकार में स्वयं बजाओ।

स्पर्श प्राप्त हो गया है। अब 'सुन्दर' का संग पाकर कवि का हृदय पुल-
कित हो रहा है—

एइ लभिनू संग तव
सुन्दर, हे सुन्दर !
पुण्य ह'लो अंग मम,
धन्य ह'लो अन्तर,
सुन्दर हे, सुन्दर!
आलोके मोर चक्षु दूटि
मुग्ध ह्ये उठलो फूटि,
हृद् गगने पवन हलो
सौरभेते मन्थर
सुन्दर, हे सुन्दर!
एइ तोमारि परश रागे
चित्त ह'लो रञ्जित,
एइ तोमारि मिलन सुधा
रैल प्राणे संचित।*

× × × ×

प्रियतम की प्राप्ति हो गई, पर इस सम्मिलन से भी कवि को संतोष नहीं है। वह कुछ और चाहता है—

प्राण भरिये तृषा हरिये
मोरे आरो आरो आरो दाओ प्राण।
तव भुवने तव भवने
मोरे आरो आरो आरो दाओ स्थान।

---

*हे सुन्दर! अब मैंने तुम्हारा संग प्राप्त कर लिया। मेरे अंग पवित्र हो गये, मेरा अन्तःकरण धन्य हो गया। मेरे दोनों नेत्र प्रकाश से मुग्ध होकर खिल उठे। हृदयाकाश में सौरभ-मन्थर पवन चलन लगा। चित्त तुम्हारे स्पर्श के रंग से रंजित हो गया। तुम्हारी मिलन-सुधा हृदय में संचित हो गई।

आरो आलो आरो आलो
एइ नयने प्रभू ढालो ।
सुरे सुरे बाँशि पुरे
तुमि आरो आरो आरो दाओ तान।
आरो वेदना आरो वेदना
दाओ मोरे आरो चेतना।
द्वार छुटाये बाधा टुटाये
मोरे करो त्राण मोरे करो त्राण
आरो प्रेमे आरो प्रेमे
मोर आमि डूबे जाक् नेमे।
सुधाधारे आपनारे
तुमि आरो आरो आरो करो दान।*

सुरूल में

सन् १९१२ में शान्तिनिकेतन से लगभग ३ मील दूर सुरूल नामक गाँव में रवीन्द्रनाथ ने लील कुटी और उसके साथ ही बहुत-सी ज़मीन मोल ली थी। उनका अभिप्राय यहाँ एक ग्रामसुधार केन्द्र खोलने का था। यही सुरूल का ग्राम-सुधार केन्द्र आज बढ़ते-बढ़ते श्रीनिकेतन बन गया है। इसके सम्बन्ध में हम विशेष बातें आगे चलकर बताएँगे। वैज्ञानिक शोध कार्य के प्रयोग करने के लिए एक प्रयोगशाला बनकर यहाँ तैयार हो चुकी थी। अतः अप्रैल १९१४ में इसका गृह-प्रवेश

---

*हृदय को परिपूर्ण करके, तृषा को दूर करके मुझे और अधिक बल दीजिए। मुझे अपने भुवन में, अपने भवन में, और अधिक स्थान दीजिए। हे प्रभु, इन नेत्रों में और अधिक प्रकाश डालिये, प्रत्येक स्वर वंशी को परिपूर्ण करके और भी अधिक तान दीजिए। मुझे और अधिक वेदना, और अधिक चेतना दीजिए। द्वार छुड़ाकर और बाधायें नष्ट करके मेरा उद्धार कीजिए। मेरा महत्त्व और अधिक प्रेम में और अधिक नियमों में डूब जाय। अपनी अमृतधारा का और अधिक दान कीजिए।

उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। पियर्सन साहब और सी० एफ़० एण्ड्रूज़ भी इस अवसर पर पहुँच गये थे और इन दोनों भारतप्रेमी अँगरेज़ों की उपस्थिति ने इस उत्सव का महत्त्व कहीं अधिक बढ़ा दिया था। इस उत्सव के उपलक्ष्य में शान्तिनिकेतन में 'अचलायतन' का अभिनय किया गया था जिसकी मुख्य भूमिका में स्वयं कवि ने और पियर्सन साहब ने भी भाग लिया था।

इन्हीं दिनों प्रमथनाथ चौधरी ने 'सबुजपत्र' नामक बँगला मासिक का प्रकाशन प्रारंभ किया। रवीन्द्रनाथ इसके प्रमुख लेखकों में थे। पत्र का अधिकांश कलेवर इन्हीं के लेखों से भरा रहता था। उस समय के लिखे हुए कवि के लेखों में से अधिकांश 'सबुजपत्र' की फ़ाइलों में हैं। इसी वर्ष योरप में महायुद्ध की घोषणा हो गई। ५ अगस्त, १९१४ को कवि ने 'मा मा हिंसी' शीर्षक एक निबन्ध शान्तिनिकेतन के छात्रों के सामने पढ़ा जिसमें महायुद्ध के कारणों और उसके द्वारा संभावित विनाश की तात्त्विक आलोचना थी। इसके पश्चात् कवि कुछ दिनों निवास करने के लिए 'सुरूल' चले गये।

'गीतालि' के पूर्वभाग के गीतों में से अधिकांश या तो सुरूल में लिखे गये हैं या शान्तिनिकेतन में। एक गीत ऐसा भी है (गीत नं० ३२) जिसकी रचना सुरूल से शान्तिनिकेतन आते हुए मार्ग में हुई है। इसके पश्चात् कवि बुद्धगया, गया और इलाहाबाद गये थे। अपर भाग के गीत इन्हीं दो स्थानों पर रचे गये हैं। हाँ कुछ गीत ऐसे भी हैं जो बेला स्टेशन पर या बेला से गया जाते समय रेल में लिखे गये हैं। इस प्रकार भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक के कुछ दिन मिलाकर कुल ४६ दिन में 'गीतालि' के १०८ गीतों की सृष्टि हुई है। इससे ज्ञात होता है कि नवीन गीत रचने की कवि में कितनी अपूर्व क्षमता थी।

मिलन-आनन्द, आत्मतृप्ति और परिपूर्णता ही की ध्वनि 'गीति-माल्य' की भाँति 'गीतालि' के गीतों में भी पाई जाती है। देवता के साथ एकात्म्यबोध अब अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। इस चिन्तामणि के स्पर्श से हृदय के सारे दुःख, समस्त व्यथाएँ आनन्द रूप में बदल गई हैं। 'परशेर तियाशा' अब मिट गई है—

बहुदिन-वञ्चित अन्तरे सञ्चित
कि आशा,
चक्षेर निमेषेइ मिटलो से
परशेर तियाशा।
एत दिने जानलेम
जे काँदन काँदलेम
से काहार जन्य।
धन्य ए जागरण,
धन्य ए क्रन्दन
धन्य रे धन्य।*

प्रियतम-मिलन से होनेवाले सुख का वेग इतना प्रबल है कि हृदय उसे सहन नहीं कर पाता। मुख से बात नहीं निकलती। घर के भीतर बैठ रहना असंभव हो गया है——

आमि जे आर सहते पारिने।
सुरे बाजे मनेर माझे गो
कथा दिये कइते पारिने!
हृदय-लता नूये पड़े
व्यथा भरा फूलेर भरे गो
आमि से आर बइते पारिने।
× × × ×
घरे जे आर रइते पारिने।†

---

*बहुत दिनो से अपूर्ण और हृदय में सञ्चित आशा और स्पर्श की तृष्णा पलक मारते ही मिट गई। इतने दिनों में ज्ञात हुआ कि मैं जो रोना रो रहा था वह किसके लिए था। यह जागरण धन्य है, यह क्रन्दन धन्य है!

†मैं और सहन नहीं कर सकता। हृदय के मध्य में जो सुर बज रहा है उसका परिचय शब्दों में नहीं दे पाता। हृदय-लता झुकी पड़ती है, फूलों के भार से उसे और अधिक समय तक धारण कर रखने की शक्ति मुझमें नहीं है। अब तो घर पर और नहीं रह पाता।

कवि आनन्दोद्वेग से इस प्रकार पीड़ित है कि वह चाहता है कि उसकी छाती फट जाय जिससे आनन्द के उत्सव का कुछ अंश बाहर निकल आये और हृदय को थोड़ा विश्राम मिल जाय—

वक्ष आमार एमन करे
विदीर्ण जे कर
उत्स यदि ना बाहिराय
हबे केमन तर ?*

जिन गीतों में प्रियतम के साथ एकान्तमिलन का वर्णन हुआ है उनमें रहस्यावाद के भी दर्शन होते हैं। प्रियतम हृदय के 'निर्जन एकान्त घर' में सो रहा है और उस घर के बन्द द्वार के बाहर खड़ा होकर कवि उसे जगाने का प्रयत्न कर रहा है—

मोर हृदयेर गोपन विजन घरे
एकेला रयेछे नीरव शयन परे—
प्रियतम हे जागो जागो जागो।
रुद्ध द्वारेर बाहिरे दाँडाब आमि
आर कतकाल एमने काटिबे स्वामी
प्रियतम हे जागो जागो जागो
मिलाब नयन तव नयनेर साथे
मिलाब ए हाथ तव दक्षिण हाते—
प्रियतम हे जागो जागो जागो।†

---

* मेरे हृदय को इस तरह विदीर्ण कर दो। यदि उसमें से स्रोत (आनन्द की धारा) बाहर नहीं निकलेगा तो शान्ति कसे मिलेगी ?

† मेरे हृदय के गोपन विजन घर में अकेले चुपचाप पड़े सो रहे हो, हे प्रियतम, जागो ! मैं बन्द द्वार के बाहर खड़ा खड़ा इस प्रकार कब तक समय काटता रहूँगा ? हे प्रियतम, जागो ! ये आँखें तुम्हारी आँखों से मिलाऊँगा, यह हाथ तुम्हारे दक्षिण हाथ स, हे प्रियतम जागो, जागो, जागो !

इस प्रकार 'गीतालि' तक पहुँचते-पहुँचते ऐसा ज्ञात होने लगता है कि कवि को अपना अभीष्ट प्राप्त हो गया है। जिस गन्तव्य पर पहुँचने के लिए वह अनादिकाल से यात्रा कर रहा है, जिस पथ का परिचय 'उत्सर्ग' में—'आमि चंचल हे आमि सुदूरेर पियासी' और गीतिमाल्य में 'अनेक कालेर यात्रा आमार दूरेर पथे' तथा 'तुमि जानो ओगो अन्तर्यामी, पथे पथेइ मन फिरालेम आमि'-द्वारा दिया गया है; उस पथ का अवसान हो गया है। कवि अपने गन्तव्य पर पहुँच गया है। अब उसे आगे चलने की आवश्यकता नहीं है। पर क्या यह संभव है कि रवीन्द्रनाथ का कवि कहीं पहुँचकर ठहर जाय? वह जिस वातावरण में पला है, वह जिस संस्कृति का कवि है, उसने तो उपदेश दिया है—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥
चरैवेति चरैवेति—
चरन् वै मधु विन्दन्ति चरन् स्वादुमुदुम्बरं।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति।*

अतएव वह चलता रहेगा। उसे प्रियतम की भेरी का शब्द सुनाई दे रहा है, वह और देर नहीं रुक सकता—

आमार आर हबे ना देरी—
आमि शुनेछि ऐ बाजे तोमार भेरी।

---

* जो लम्बी यात्रा द्वारा थक जाते हैं उन्हें अतुलनीय ऐश्वर्य प्राप्त होता है। कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो पर यदि वह वेकार बैठा रहता है तो उसका ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है। जो बराबर चलता रहता है उसके साथ ईश्वर रहता है। अतः हे पथिक, चला चल, चला चल।

चलने से ही अमरता प्राप्त होती है। स्वयं चलना, (गति) ही यात्रा का मधुर फल है। सूर्य को देखो जो एकबार चलना आरंभ करके फिर नहीं रुकता।

जहाँ एक पथ समाप्त होगा वहीं दूसरे पथ का आरंभ होगा। पान्थ पथिकों का ही सखा है। पथ पर चलनेवाला ही तो उसे पा सकता है—

पान्थ तुमि पथिक जनेर सखा हे,
पथे चलाइ सेइ तो तोमाय पाओया।

कवि को पथ से ही आशा है पथ से ही प्रेम, पथ चलने के नित्य-रस से उसका मन मत्त हो उठता है—

जतो आशा पथेर आशा
पथे जेतेइ भालबासा
पथे चलार नित्य रसे
दिने दिने जीवन उठे माति।

और इसी लिए वह जीवन-पथ के सारथी को पथ चलते-चलते ही नमस्कार करता है—

पथेर साथी नमि बारंबार।
पथिक जनेर लहो नमस्कार*

× × ×

जीवन रथेर हे सारथि
आमि नित्य पथेर पथी
पथे चलार लहो नमस्कार।†

'फाल्गुनी' की रचना सन् १९१५ में हुई थी। यह वसन्तोत्सव नाटक है जो उक्त अवसर पर शान्तिनिकेतन के छात्रों के खेले जाने के लिए लिखा गया था। प्रत्येक अंक के आरंभ में और बीच-बीच में कुछ गीत भी इसमें दिये गये हैं जो विशेषरूप से उल्लेख्य हैं। इन गीतों में लाक्षणिकता के आवरण में लपेटे हुए भाव पाठक की समझ में कठिनता से आते हैं, फिर भी इनमें एक प्रकार का रस प्राप्त होता है। राजा

---

* हे पथ के साथी मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ। पथिक के नमस्कार को स्वीकार कीजिए।

× × ×

† हे जीवन-रथ के सारथी! मैं शाश्वत पथ का पथिक हूँ। मुझ राह चलते का नमस्कार स्वीकार कीजिए!

और कवि के कथोपकथन में इन गीतों की रहस्यवादिता की ओर इंगित मिलता है--

"राजा--आपने जो कुछ लिखा है, क्या मैं उसके अर्थ समझ सकूँगा?

कवि--जो कुछ मैंने लिखा है उसे उसी तरह लेना चाहिए जैसा वह है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह एक बाँसुरी है जो कि सुनी जाने के लिए यहाँ है, समझी जाने के लिए नहीं।"

'फाल्गुनी' के भावों की व्याख्या करते हुए स्वयं कवि ने लिखा है--

"जो मनुष्य भयभीत होकर मृत्यु को आड़ में रखकर जीवन की गोद में रहते हैं वे जीवन की प्राप्ति नहीं कर पाते। वे जीवन के मध्य में निवास करते हुए भी मृत्यु की विभीषिका से प्रतिदिन मरते रहते हैं। जरा का अवसाद और मृत्यु का भय लाँघकर पार हो जाने पर ही नवजीवन का स्वाद पहचाना जा सकता है। मनुष्य के इतिहास में यह लीला, यह वसंतोत्सव बारंबार देखने में आता है। समाज को बुढ़ापा घेर लेता है; प्रथायें अचल होकर रह जाती हैं, पुरातन का अत्याचार नूतन प्राण का दलन करके उसे निर्जीव कर देना चाहता है, तब मनुष्य मृत्यु और विप्लव के पर्दे के भीतर रहनेवाले वसन्तोत्सव का आयोजन करता है। फाल्गुनी का बाउल कहता है--मनुष्य युग-युग में लड़ाई करता है, आज की वसन्ती हवा में भी उसकी तरंग है। पुरातन ही मृत्यु के आवरण के पीछे अपनी चिर नवीनता प्रकाशित किया करता है। यही वसन्त का उत्सव है। मनुष्य उस जीवन को सत्य करके, बड़ा बनाकर पाना चाहता है। मनुष्य की सभ्यता में जो जीवन विकसित हो उठता है वह मृत्यु को भेद करके ही।"

गांधी जी से भेंट

गांधी जी ने ट्रांसवाल में फोनिक्स स्कूल नाम की एक शिक्षा-संस्था स्थापित की थी। उनके भारत आने पर उक्त संस्था के छात्र और अध्यापक भी उनके साथ भारत चले आये थे। दीनबंधु सी० एफ० एन्ड्रूज़ के अनुरोध पर कवि ने उन छात्रों और अध्यापकों

को शान्तिनिकेतन आने के लिए निमंत्रण दिया। सन् १९१५ के आरंभ में वे लोग शान्तिनिकेतन पहुँच गये। उन छात्रों और अध्यापकों की सादगी और उनके त्यागमय जीवन का प्रभाव शान्तिनिकेतन के छात्रों पर भी पड़ा और उन लोगों ने निश्चय किया कि वे पूर्वी बंगाल के बाढ़-पीड़ित जूट के किसानों की सहायता करने के लिए अपने भोजन में आटे और चीनी का प्रयोग करना छोड़ देंगे। यही किया भी गया और इस प्रकार जो पैसा बचा वह बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए भेज दिया गया। पर रवीन्द्रनाथ ने छात्रों के इस त्याग की प्रशंसा नहीं की। उन्होंने कहा कि त्याग का सबसे सुन्दर और उचित ढंग यह था कि छात्रगण शारीरिक परिश्रम करके कुछ उपार्जन करते और फिर उस धन से बाढ़-पीड़ितों की सहायता करते।

फोनिक्स स्कूल के छात्रों को देखने के लिए २२ फ़रवरी सन् १९१५ को महात्मा गांधी शान्तिनिकेतन पधारे। इस समय एक बड़ी मनोरंजक घटना हुई। महात्मा जी के पधारने का समाचार पाकर शान्तिनिकेतन के छात्र और अध्यापक स्वागतार्थ बोलपुर पहुँचे। गाड़ी आई और स्वागतार्थियों का दल महात्मा जी को उतारने के लिए पहले दर्जे के डिब्बों की ओर बढ़ा। महात्मा जी वहाँ नहीं थे। फिर अनिश्चय और निराशा के वातावरण में दूसरे दर्जे के डिब्बे देखे गये। वहाँ भी गांधी जी दिखाई न दिये। अब सबको निश्चय हो गया कि इस गाड़ी से किसी कारणवश वे आ नहीं सके। अन्त में निराश होकर यह दल प्लेटफ़ार्म छोड़ने ही वाला था कि गांधी जी श्रीकस्तूरबा गांधी के साथ एक तीसरे दर्जे के डिब्बे से उतरते दिखाई दिये।

गांधी जी शान्तिनिकेतन पहुँचे, पर कवि उस समय वहाँ नहीं थे। वे कलकत्ते में थे। २२ फ़रवरी को कवि शान्तिनिकेतन पहुँचे, पर गांधी जी उससे पहले ही गोखले जी की मृत्यु का समाचार पाकर पूना चले गये थे, अतः भेंट न हो सकी। एक पत्र लिखकर कवि ने गांधी जी से फिर शान्तिनिकेतन आने का अनुरोध किया। गांधीजी इस बार ६ मार्च को शान्तिनिकेतन पहुँच गये और फिर १० मार्च तक वहाँ रहे।

गांधी जी के अनुरोध से शान्तिनिकेतन की शिक्षा-पुस्तक में १० मार्च, १९१५ से एक नया पाठ स्वावलंवन का जोड़ दिया गया, जिसके अनुसार वहाँ के सब छात्र अपना सब कार्य अपने हाथ से करने का अभ्यास करने लगे। पर व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण यह प्रयोग कुछ ही दिन तक चल सका। हाँ प्रतिवर्ष १० मार्च को 'गांधी दिवस' शान्तिनिकेतन में अब भी मनाया जाता है। उस दिन सब रसोइयों, कहारों और भंगियों को छुट्टी दे दी जाती है और सफ़ाई से लेकर रसोई तक का सब काम छात्र अपने हाथ से करते हैं। गांधी जी के स्वागत में शान्तिनिकेतन में 'फाल्गुनी' का अभिनय भी हुआ था।

दो नए उपन्यास

'चतुरंग' और 'घरे बाहिरे' की रचना कवि ने इन्हीं दिनों की थी। ये दोनों रचनायें धारावाहिक रूप में 'सबुजपत्र' में प्रकाशित होती रही थीं। 'चतुरंग' में चार कहानियाँ हैं जो यों देखने पर पृथक्-पृथक् ज्ञात होती हैं, पर चारों के कथानक परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि मिलकर एक पूर्ण उपन्यास बन जाता है। इन कहानियों के शीर्षक हैं, क्रमशः—ज्याठा माशाय, शचीश, दामिनी और श्री विलास। लीलानन्द स्वामी इसके प्रधान पात्रों में से एक हैं जो एक कीर्तन-मंडली के प्रधान हैं। उनके नेतृत्व में यह कीर्तन-मंडली कीर्तन करती हुई एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण करती रहती है। प्रथम कहानी का नायक जगमोहन एक अनीश्वरवादी व्यक्ति है। इसी के चरित्र की पृष्ठ-भूमि पर शेष तीन पात्रों के चरित्रों का निर्माण होता है। शचीश कलकत्ता विश्वविद्यालय का ग्रेजुएट है। वह लीलानन्द स्वामी की कीर्त्तन मंडली का सदस्य बन जाता है। उसका मित्र श्रीविलास भी, शचीश की मित्रता के कारण, आकर मंडली में शामिल हो जाता है। गाँवों में कीर्त्तन करती-करती यह मंडली घूमती-फिरती कलकत्ता पहुँचती है।

कलकत्ते में जाकर ये लोग एक मकान में ठहरते हैं जो वहाँ के एक धनी सज्जन शिवतोष ने अपनी मृत्यु के समय लीलानन्द स्वामी को वसीयत कर दिया था। शिवतोष की विधवा दामिनी, जो अभी तक

युवती ही है और जिसके कोई संतान भी नहीं है, इसी मकान में रहती है। वह भी इस मंडली में सम्मिलित हो जाती है। पर उसका हृदय भगवद्भक्ति में लीन नहीं है। वह चाहती है पूर्ण जीवन! जीवन की सम्पूर्ण सरसता का उपभोग। वह शचीश को मन ही मन प्रेम करने लगती है। एक दिन समुद्रतटवर्ती एक गुहा में रात्रि के अंधकार में स्वयं को शचीश के चरणों में डालकर वह प्रणय-याचना करती है। पर शचीश उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता। दामिनी दुःखी होकर वहाँ से लौट आती है। पर शचीश को भी अपने इस कार्य से शान्ति नहीं मिलती। बाहर से वह पूजा-पाठ, जप-तप सभी कुछ करता है पर उसके मन में सदैव दामिनी विद्यमान रहती है। एक भीषण अन्तर्द्वन्द्व उसे प्रतिक्षण सताता है।

वर्षाकाल आता है। घनी अँधेरी रातें हैं। ऐसी ही एक रात्रि को वह दामिनी से कहता है—"मैं जिसे खोज रहा हूँ, उसकी मुझे बड़ी आवश्यकता है। और मैं कुछ नहीं चाहता। दामिनी तुम मुझ पर दया करो और मुझे छोड़कर चली जाओ।" इस प्रकार प्रत्याख्यात हो जाने पर दामिनी विद्रोहिणी हो उठती है। अन्त में वह श्रीविलास से प्रेम करने लगती है। श्रीविलास भी उसके प्रति आकृष्ट हो जाता है और इस प्रकार दोनों विवाह-बंधन में बँध जाते हैं। फिर भी दामिनी शचीश को हृदय से नहीं निकाल पाती। एक वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो जाती है।

इस उपन्यास में, जैसा कि इसके कथानक से स्पष्ट है, कुछ शीघ्रता से काम लिया गया है। फल यह हुआ है कि चरित्रों में विकास की जगह यादृच्छिकता ने ले ली है और पढ़ते समय ऐसा ज्ञात होता है कि लेखक किसी पूर्व-निर्धारित परिणाम की ओर पहुँचने की शीघ्रता में है। शचीश और दामिनी के पारस्परिक सम्बन्ध में इस प्रकार का क्षिप्र परिवर्तन पाठक के मस्तिष्क पर अनुचित भार डालता है। शचीश के चाचा जगमोहन की कहानी विचार से अधिक सम्बन्ध रखती है, व्यक्ति से कम, उसे पढ़ते समय ज्ञात होता है कि वह वर्त्तमान जीवन का वर्णन न होकर पूर्वकालीन जीवन का संस्मरण है।

'घरे बाहिरे' 'गोरा' के बाद उपन्यास-क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ के क्रमिक

विकास का ठीक परिचय देता है। इसकी गणना समस्यामूलक उपन्यासों में की जाती है। 'गोरा' की भाँति इसका आरंभ भी एक सामाजिक समस्या को लेकर हुआ है जिसको सुलझाने का प्रयत्न लेखक ने अन्त तक किया है। वह समस्या यह है कि क्या विवाहित प्रेम को शुद्ध अर्थों में प्रेम कहना चाहिए या नहीं। प्रेम मनोविज्ञान के अनुसार एक स्वतः प्रवृत्त भावना है, पर विवाहित पत्नी के प्रेम को ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'घरे बाहिरे' के नायक निखिल का यही मत है। वह एक राज-कुल का उत्तराधिकारी है और एक बड़ी ज़मींदारी का मालिक। एम० ए० तक शिक्षा पाकर उसके विचार बहुत कुछ परिपक्व और दृढ़ हो गये हैं। वह प्रत्येक वस्तु को उसके ठीक रूप में देख सकता है। उसकी पत्नी विमला, जो ग़रीब घर की कन्या है, अधिक रूपवती भी नहीं है, इस राजघराने की बहू बनकर इसी लिए आ सकी है क्योंकि वह अपनी सास की नज़रों में सुलक्षणा है। विमला की दो जेठानियाँ और भी हैं जो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दरी हैं। पर दोनों विधवा हो चुकी हैं। विमला की अपने पति में अनन्य भक्ति है। पर निखिल इस भक्ति-भाव का क़ायल नहीं है। वह चाहता है कि विमला इन महलों को छोड़ दे और कुछ दिन उसके साथ कलकत्ते में रहे। इस प्रकार विमला का परिचय संसार के अन्य मनुष्यों से भी होगा। अभी तो वह केवल उस पक्षी की भाँति है जो लाकर पिंजड़े में डाल दिया गया है। इच्छा हो या नहीं, पर उसे अपने मालिक को प्यार करना पड़ता है, अन्यथा उसका निस्तार नहीं! उस पक्षी के सामने कोई विकल्प नहीं। विमला संसार के शेष मनुष्यों को भी देखे, उनसे परिचय प्राप्त करे; उनके संपर्क में रहे और फिर भी वह निखिल को अपने प्रेम के उपयुक्त समझती रहे, तभी उसके प्रेम का कुछ मूल्य होगा; तभी वह स्वयंवरा होगी। विमला को यह सब पसंद नहीं है। वह सोचती है कि इस घर को छोड़कर चले जाने पर इस पर से मेरा अधिकार उठ जायगा।

इसी बीच बंगाल में स्वदेशी-आन्दोलन की बाढ़ आ जाती है। निखिल स्वयं स्वदेशी का समर्थक है पर वह इस अंध-विश्वास में योग नहीं देना चाहता। उसके इलाक़े में भी स्वदेशी की लहर आती है।

उसका नेता बनता है सन्दीप, जो एक बागी तथा साहसी पुरुष है और अब तक निखिल से पैसा लेकर अपना निर्वाह करता आया है। यही नहीं, देश के कार्य के बहाने भी उसने निखिल से बहुत कुछ ठगा है। पर निखिल यह सब जानते हुए भी सन्दीप को बराबर पैसा देता रहा है। निखिल के अहाते ही में सन्दीप एक सभा की योजना करता है जिसका प्रबंध स्वदेशी-आन्दोलन के प्रभाव में आकर स्कूल-कालेजों को छोड़कर निकल आनेवाले छात्र करते हैं। विमला इन छात्रों-द्वारा होनेवाले सन्दीप के अलौकिक सम्मान को देखती है और चिक की ओट से उसका प्रभावशाली भाषण भी सुनती है। इस उत्तेजनापूर्ण वातावरण का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह चिक हटाकर बाहर देखने लगती है। इसी समय संदीप की दृष्टि विमला पर पड़ती है। व्याख्यान समाप्त हो जाने पर विमला निखिल से सन्दीप को भोजन के लिए आमंत्रित करने की प्रार्थना करती है। निखिल को इससे आश्चर्य अवश्य होता है, क्योंकि विमला अभी तक पर पुरुष के सामने कभी निकली नहीं है, पर वह इसमें कोई हानि नहीं देखता और सन्दीप को निमंत्रित कर देता है। भोजन के समय सन्दीप विमला की अत्यधिक प्रशंसा करता है और ऐसा भाव प्रकट करता है मानो विमला में उसे 'वन्दे मातरम्' के प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं, मानो विमला उस माता की साक्षात् प्रतिमा है जिसके नाम पर, जिसके संकेत पर, सन्दीप अपने प्राणों की बाज़ी लगा रहा है। इस प्रशंसा से विमला बहुत प्रभावित होती है और उसके मन में सन्दीप के लिए बहुत श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। वह सन्दीप में साकार पौरुष के दर्शन करती है। निखिल स्वदेशी के आन्दोलन में योग नहीं देता, इसका कारण विमला उसकी कायरता को समझती है। वह स्वदेशी-आन्दोलन की ओर अधिक से अधिक आकृष्ट होती जाती है; सन्दीप का जादू-मंत्र उस पर प्रतिदिन अधिकाधिक असर करता जाता है। यह विमला की आत्मकथा का प्रथम परिच्छेद है। यहीं से उपन्यास का आरंभ होता है।

दूसरी आत्मकथा निखिलेश की है। उसका सिद्धान्त वाक्य, जिसकी छाया हमें निखिलेश के समस्त चरित्र में एक समान देखने को मिलती है, यह है कि देश को सादे भाव से, सत्य भाव से, देश ही जानकर,

मनुष्य को मनुष्य ही मानकर, जो उस पर श्रद्धा करके उसकी सेवा करने के लिए उत्साहित नहीं होते, चिल्लाकर, माँ कहकर, देवी कहकर, मंत्र पढ़कर जिन्हें केवल सम्मोहन की आवश्यकता होती है, उनका वह प्रेम देश के प्रति नहीं है, नशे के प्रति है।

तीसरी आत्मकथा सन्दीप की है। वह आरंभ में ही कहता है कि जो मनुष्य सारे मन से चाह सकते हैं, सम्पूर्ण हृदय से भोग करना जानते हैं, जिन्हें दुविधा नहीं, जिन्हें संकोच नहीं, वे ही प्रकृति के वर पुत्र हैं। वे पाने योग्य वस्तुओं को छीनकर ले जायेंगे। इसी में चीज़ की यथार्थ क़ीमत है। इसी में आनन्द है। वस्तुतः इसी सिद्धान्त के मूलतत्त्व से सन्दीप के जीवन का निर्माण हुआ है।

इन आत्मकथाओं का क्रम चला जाता है और उसी के साथ-साथ प्लाट आगे बढ़ता है। पर प्लाट में कोई विशेष आकर्षण नहीं है। वह मानो मनोविश्लेषण पर—जिसमें कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक गहराई पाई जाती है और आत्मकथा के दृष्टिकोण से अस्वाभाविकता भी—ऐकान्तिक रूप से आधारित है। अपनी प्रशंसा से उत्तरोत्तर स्फीत विमला तन-मन-धन से सन्दीप और उसके स्वदेशी-आन्दोलन की ओर आकर्षित हो जाती है। सन्दीप विमला का परिचय अमल नामक नवयुवक से कराता है। विमला उसे भाई और पुत्र के रूप में प्यार करने लगती है। वह भी विमला को दीदी कहता है और उसे 'वन्दे मातरम्' का प्रतिरूप मानकर पूजता है। सन्दीप अवसर पाकर विमला से पचास हज़ार रुपये माँगता है जो उसे देश के काम के लिए चाहिए। विमला देना स्वीकार कर लेती है। पर उसे रुपये जुटाने का कोई उपाय नहीं मिलता। अन्ततः जब सन्दीप की माँग ६ हज़ार रुपये पर जाकर ठहर जाती है तब विमला अपने पति की तिजोरी में से ६ हज़ार रुपये चुराकर सन्दीप को दे देती है। वह अमल को अपने गहने भी दे देती है जिन्हें बेचकर अमल ६ हज़ार रुपये ला दे, जो उन चुराये हुए रुपयों की जगह रक्खे जा सकें। अमल गहने बेचता नहीं, प्रत्युत निखिल की एक कोठी पर डाका डालकर ६ हज़ार के नोट लूट लाता है। विमला इन नोटों को नहीं लेती क्योंकि वह अमल को बचाना चाहती है, पाप के पंक में फँसाना नहीं।

वह अमल को आदेश देती है कि जहाँ से ये रुपये लूटे हैं, वहीं वापस कर आओ। कार्य दुष्कर होने पर भी विमला की आज्ञा से अमल ऐसा करने को तैयार हो जाता है। वह रुपये वापस करता हुआ गिरफ़्तार होता है और निखिल के सामने लाया जाता है। वह एकान्त में निखिल को सब भेद बता देता है। वह गहनों का बक्स भी लाकर लौटा देता है। विमला वह बक्स फिर सन्दीप को दे देती है।

इसी बीच सन्दीप को पता लगता है कि मुसलमान उपद्रवी हो गये हैं और वे सन्दीप की जान लेने की फ़िक्र में हैं। अतएव वह गहनों का बक्स विमला को लौटाकर ट्रेन से उसी रात कहीं चला जाता है। विमला को अब होश आता है। वह निखिल के निकट सर्वात्मा से क्षमा-प्रार्थिनी होती है। दोनों कुछ काल के लिए कलकत्ते जाने की तैयारी करते हैं। शाम को सूचना मिलती है कि उत्तेजित मुसलमानों का दल पास के एक ज़मींदार को, जिसने स्वदेशी-आन्दोलन में सहायता पहुँचाई थी, मार डालने को चढ़ आया है। निखिल उसे बचाने को घोड़े पर चढ़कर दौड़ पड़ता है। बहुत रात गये यह समाचार मिलता है कि अमल गोली का शिकार होकर मर गया है और निखिल के सिर में गहरी चोट आई है।

इस उपन्यास में बंगाल के स्वदेशी-आन्दोलन के एक अंश का—जब कि बमों और पिस्तौलों का प्रयोग स्वदेशी-प्रचार के लिए होने लगा था और जिसे देखकर रवीन्द्रनाथ ने उससे नाता तोड़ लिया था, बड़ा मार्मिक चित्र खींचा गया है। फिर भी आरंभ में जिस समस्या को उठाया गया था, उसका समाधान पुस्तक के अन्त तक नहीं हो पाया। कारण भी स्पष्ट है। सन्दीप निखिल की प्रतिद्वंद्विता के उपयुक्त नहीं है। वह कुछ और ही प्रकार का है। उसके साहस से प्रभावित होकर विमला उसमें श्रद्धा कर सकती है, पर उससे प्रेम नहीं करती। इधर सन्दीप धनलोलुप अवश्य है, वह विमला से धन लेता है, पर उसे भ्रष्ट करने की चेष्टा अवसर पाने पर भी नहीं करता। वह सदैव अपने मन पर अधिकार रखता है। वह केवल मंत्र-बल का प्रयोग करना चाहता है। इस प्रकार उपयुक्त प्रतिद्वन्द्वी के अभाव में लेखक का वह प्रयोग अपूर्ण ही रह जाता

है, जिसके लिए इस उपन्यासरूपी प्रयोगशाला की रचना हुई है। अमल और सन्दीप इन दोनों में से ऐसा एक भी नहीं है जिसको प्रतिद्वन्द्विता में रखकर विमला निखिल के प्रति अपने प्रेम का परीक्षण कर सके। स्वदेशी-आन्दोलन का जो चित्र इस उपन्यास में रवीन्द्रनाथ ने अंकित किया है, उसे किसी सीमा तक एकपक्षीय और अतिरंजित कहा जा सकता है।

वलाका

गीताञ्जलि, गीतिमाल्य और गीतालि के कवि ने 'वलाका' में फिर अपने को उन्मुक्त कल्पनाकाश में विचरण करने को छोड़ दिया है। कवि की अवस्था इस समय ५५ वर्ष की हो गई थी, फिर भी उनके हृदय में युवकोचित शक्ति थी। 'वलाका' के गीतों से यह स्पष्ट प्रकट होता है। इन गीतों में सर्वत्र यौवन का जयघोष सुनाई पड़ता है। कवि के यौवन, प्रेम और सौन्दर्य से सम्बन्धित अनेक गीत हम पीछे पढ़ आये हैं। 'कड़ि ओ कोमल' से लेकर 'चित्रा' तक के गीत सब इसी प्रकार के हैं। पर 'वलाका' के गीतों में जिस यौवन का अभिनन्दन किया गया है उनमें शक्ति है, वासना नहीं। युवकोचित सामर्थ्य है पर भोग-लिप्सा नहीं। गति की अभिलाषा है—अपने उत्कटतम रूप में—पर मोह की तीव्रता नहीं है। कवि का हृदय स्थिरता से खिन्न है, वह गति चाहता है। उसके गीत अपने जन्मस्थान में बंद नहीं रहना चाहते। वे लहरों पर फेन के समान उन्मुक्त वायुमंडल में नाचना चाहते हैं। वे एक स्थान पर रुकना नहीं चाहते। वे एक तीर्थ-यात्री की भाँति एक स्थान से दूसरे स्थान पर फिरना चाहते हैं—

मोर गान एरा सब शैवालेर दल
जेथाय जन्मेचे सेथा आपनारे करेनि अचल।
मूल नाइ, फूल आछे, शुधू पाता आछे,
आलोर आनन्द निये जलेर तरंगे एरा नाचे।
बासा नाइ, नाइको संचय,
अजाना अतिथि एरा कबे आसे नाइको निश्चय।

× × ×

पथ जे हाराय,
देशे देशे दिके दिके जाय भेसे भेसे ।*

कवि स्वयं अज्ञात देश का यात्री है। यात्रा ही उसका आनन्द है। 'अजाना' ही कवि के जीवन-पोत का माझी है। उसके साथ कवि का चिरकाल के लिए ठेका हो गया है। कवि अब उस तट पर लौटकर नहीं आयेगा जहाँ से उसने यात्रा आरंभ की थी—

आमि जे अजानार यात्री सेइ आमार आनन्द।

× × ×

अजाना मोर हालेर माझि अजानाइ त मुक्ति,
तार सने मोर चिरकालेर चुक्ति ।

× × ×

फिरबे ना रे, फिरबे ना आर, फिरबे ना;
सेइ कूले आर भिड़बे ना।

× × ×

पथ भूलकर देश-देश और दिशा-दिशा में विभिन्न भेस में जाते हैं।

कवि झेलम के तट पर खड़ा है। संध्याराग से झिलमिलाता हुआ झेलम का प्रवाह अंधकार में मलिन हो जाता है। कवि के हृदय में गमन की प्रेरणा जाग्रत् हो उठती है। वलाकाओं की पक्षध्वनि उसे सुनाई देती है जो क्रमशः दूर से दूरतर होती जाती है। मानो कोई अप्सरा स्तब्धता का तपोभंग करके चली गई हो। अंधकारपूर्ण पर्वतश्रेणी सिहर उठती है, देवदारु वन कम्पित हो उठता है। उसके मन में कोई कह उठता है—

---

*मेरे गीत शैवाल दल के समान हैं; जहाँ पैदा होते हैं वहीं स्थिर होकर नहीं रहते। मूल नहीं है, फूल हैं और पत्र हैं। प्रकाश का आनन्द लिये हुए जल-तरंगों पर ये नाचते हैं। इनका न कोई निवासस्थान है, न कहीं संचयस्थल। ये अनजान अतिथि हैं। ये कब आजायेंगे, इसका कोई निश्चय नहीं है।

"हेथा नय, हेथा नय, आर कोनोखाने।"

यहाँ नहीं, यहाँ नहीं, किसी और जगह!

'शा-जाहान' कविता में कवि शाहजहाँ की दूरदृष्टि की प्रशंसा करते हुए कहता है—

ए कथा जानिते तूमि, भारत ईश्वर शा-जाहान,
कालस्रोते भेसे जाय जीवन यौवन धन मान।
शुधू तव अन्तर वेदना
चिरन्तन हये थाक् सम्राटेर छिल ए साधना।

× × ×

हीरा मुक्ता माणिक्येर घटा
जेन शून्य दिगन्तेर इन्द्रजाल इन्द्रधनुच्छटा
जाय जदि लुप्त हये जाक्,
शुधू थाक एक विन्दु नयनेर जल
कालेर कपोल तले शुभ्र समुज्ज्वल
ए ताजमहल।*

और इसी लिए सम्राट् ने ताजमहल का निर्माण कराया। पर क्या उसकी अभिलाषा पूरी हो सकी?

मानवता में कवि का अखण्ड विश्वास है। वह मृत्यु के सम्मुख खड़ा होकर, अकम्पित हृदय से उसे बतला देना चाहता है कि मैं तुमसे नहीं डरता। इस संसार में प्रतिदिन तुम पर मैं विजयी होता रहता हूँ। मैं तुम्हारी अपेक्षा सत्य हूँ, इसी विश्वास पर मैं प्राण दे दूँगा। शान्ति सत्य है, शिव सत्य है और वही चिरन्तन एक सत्य है—

---

*हे भारतेश्वर शाहजहाँ, तुम यह बात जानते थे कि जीवन, यौवन, धन और मान काल के स्रोत में बह जाता है। केवल तुम्हारी अन्तर्वेदना चिरन्तन स्थायी हो, यही तुम्हारी साधना थी। × × ×

हीरा, मोती और माणिक्य की राशि शून्य दिगन्तर के इन्द्रधनु की छटा की भाँति यदि लुप्त हो जाय तो हो जाय, केवल काल के कपोल के नीचे शुभ्र और समुज्ज्वल एक अश्रुविन्दु—यह ताजमहल—बना रहे।

तार परे दाँडाओ सम्मुखे,
बलो अकम्पित बुके ।
"तोरे नाहि करि भय,
ए संसारे प्रतिदिन तारे करियाछि जय।
तोर चेय आमि सत्य ए विश्वासे प्राण दिव, देख !
शान्ति सत्य, शिव सत्य, सत्य सेइ चिरन्तन एक।"

यदि मृत्यु के अन्तर में प्रवेश करके अमृत नहीं खोजा जा सकता, यदि दुःख के साथ युद्ध करते हुए सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, यदि पाप अपने प्रकाशित होने की लज्जा से ही न मर जाय, यदि अहंकार अपनी असत्य सज्जा से भंग नहीं हो जाता तो ये सैकड़ों लोग, जिन्होंने घर छोड़ दिया है, अन्तःकरण के किस विश्वास के आधार पर मरते जाते हैं; ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार लाखों नक्षत्र प्रभात के प्रकाश के निकट मरते हैं—

मृत्युर अन्तरे पशि अमृत ना पाइ यदि खुँजे,
सत्य यदि नाहि मेले दुःख साथे जूझे,
पाप यदि नाहि म'रे जाय
आपनार प्रकाश लज्जाय,
अहंकार भेंगे नाहि पड़े आपनार असह्य सज्जाय,
तबे घर-छाड़ा सबे
अन्तरेर कि आश्वास-रबे
मरिते छूटिबे शत शत
प्रभात आलोर पाने लक्ष लक्ष नक्षत्रेर मत ?

एक गीत में 'जीवन-देवता' को उद्देश्य करके कवि कहता है—

एइ क्षणे
मोर हृदयेर प्रान्ते आमार नयन-वातायने
ये-तूमि रयेच चेये प्रभात-आलोते
से तोमार दृष्टि येन नाना दिन नाना रात्रि ह'ते
रहिया रहिया

चित्ते मोर आनिछे वहिया
नीलिमार अपार संगीत
निःशब्देर उदार इंगित
आजि मने हय बारे-बारे
येन मोर स्मरणेर दूर परपारे
देखियाछ कत देखा
कत युगे, कत लोके, कत चोखे, कत जनताय,
कत एका।
सेइ सब देखा आजि शिहरिछे दिके दिके
घासे घासे निमिखे निमिखे,
बेनुवने झिलमिल पातार झलक-झिकमिके।
कत नवनव अवगुंठनेर तले
देखियाछ कत छले
चुपे चुपे
एक प्रेयसीर मुख कत रूपे-रूपे
जन्मे जन्मे, नाम हारा नक्षत्रेर गोधूलि-लगने।
ताइ आजि निखिल गगने
अनादि मिलन तव अनन्त विरह
एक पूर्ण वेदनाय झङ्कारि' उठिछे अहरह।
ताइ या देखिछ ता'रें घिरेचे निविड़
'याहा देखिछना तारि भिड़।
ताइ आजि दक्षिण पवने
फाल्गुनेर फूल गंधे भरिया उठिछे बने-बने
व्याप्त व्याकुलता,
बहुशत जनमेर चोखे-चोखे काने-काने कथा।*

---

*तुम इस क्षण मेरे हृदय के प्रान्त से, मेरे नेत्रों के वातायन से, प्रभात का प्रकाश देख रहे हो; तुम्हारी यह दृष्टि अनेक रात्रियों से गुज़रती हुई नीलिमा का अपार संगीत और निःशब्द का उदार संकेत मेरे हृदय

मानव शक्ति के प्रति कवि के अटूट विश्वास का परिचय निम्न· गीत से भी मिलता है। इसमें कहा गया है कि मनुष्य को पृथ्वी पर स्वर्ग निर्माण करने का कार्य सौंपा गया है और विधाता जो कुछ उसे देता है, उससे कहीं अधिक मानव सृष्टि को दान कर देता है--

पाखीरे दियेच गान, गाय सेइ गान,
तार वेशि करे ना से दान।
आमारे दियेच स्वर, आमि तार वेशि करि दान,
वातासेरे करेच स्वाधीन,
सहजे से भृत्य तव बंधन-विहीन।
आमारे दियेच यत बोझा,
ताइ निये चलि पथे कभू बाँका कभू सोजा।
एके एके फेले भार मरणे मरणे
निये जाइ तोमार चरणे

में ला रही है। आज मेरे मन में बारंबार यही आ रहा है कि अपने स्मरण के दूसरे तट पर मैंने अनेक घटनाएँ, कितने ही युग, कितने ही लोग, कितनी ही आँखें, कितनी ही जनता और कितने ही एकान्त देखे हैं। जो कुछ मैंने देखा है वह सब आज प्रत्येक दिशा में, प्रत्यक पौदे में, बाँस के बन में, पत्तों की चमक में प्रतिक्षण सिहर रहा है। कितने ही नये-नये आवरणों में अनेक भेष में, अनेक रूप में, नये-नये शरीरों में, अज्ञातनाम नक्षत्रों के नीचे, जन्म-जन्म में चुपचाप एक प्रेयसी का मुख तुमने देखा ह, वही तुम्हारा अनादि मिलन और अनन्त विरह रात्रिदिन इस अनन्त आकाश के नीचे एक पूर्णवेदना में बज उठता है। अतः जो कुछ तुम देख चुके हो वह, जो कुछ तुमने नहीं देखा है, उससे घिरा हुआ है। इसी लिए आज दक्षिण पवन में, फाल्गुन के फूलों की गंध में, प्रत्येक बन में आँख-आँख और कान-कान में सकड़ों जन्मों की अपार व्याकुलता जाग्रत् हो उठी है।

एक दिन रिक्तहस्त सेवाय स्वाधीन,
बन्धन या दिले मोरे करि ता' रे मुक्ति ते विलीन।

× × × ×

तुमि तो गड़ेच शुधू ए माटिर धरणी तोमार
मिलाइया आलोके आँधार।
शून्य हाते सेथा मोरे रेखे
हासिछ आपनि सेइ शून्येर आड़ाले गुप्त थेके।
दियेच आमार परे भार,
तोमार स्वर्गटि रचिबार।

× × × ×

मोर हाते याहा दाओ
तोमार आपन हाते तार वेशि फिरे तुमि पाओ।*

---

*पक्षी को तुमने गाना दिया है, वह गाना गाता है उससे अधिक कुछ नहीं दान करता। मुझे स्वर दिया है, मैं उससे अधिक दान करता हूँ। वायु को स्वाधीन कर दिया है। वह बंधन-विहीन तुम्हारा स्वाभाविक भृत्य है। पर हमारे सिर पर बोझ रख दिया है, उसे लिये-लिये पथ पर चलता हूँ, कभी सीधा कभी टेढ़ा! फिर भी मरते-मरते वह भार तुम्हारे चरणों तक पहुँचाता हूँ। और फिर खाली हाथ होकर स्वाधीनता से सेवा कर सकूँगा। मुझे जो बन्धन दिया है उसे मुक्ति में विलीन कर दूँगा।

× × ×

प्रकाश और अंधकार के मेल से तुम्हीं ने अपनी यह पृथ्वी रची है। उस पर मुझे रिक्तहस्त रख दिया है और स्वयं शून्य की आड़ में छिपे-छिपे हँस रहे हो। मुझ पर अपनी इस पृथ्वी पर स्वर्ग बनाने का भार रख दिया है।

× × ×

मेरे हाथ जो कुछ देते हो, उससे अधिक तुम्हारे हाथ में फिर (मेरे द्वारा) तुम्हें मिल जाता है।

कवि अन्त में इस परिणाम पर पहुँच गया है कि मनुष्य का लक्ष्य पृथ्वी है, स्वर्ग नहीं। स्वर्ग स्वयं मनुष्य के जीवन के रूप में कृतार्थ होता है—

स्वर्ग कोथाय जानिस् कि ता, भाइ?
तार ठिक ठिकाना नाइ!
तार आरंभ नाइ, नाइ रे ताहार शेष,
ओरे, नाइरे ताहार देश,
ओरे, नाइरे ताहार दिशा,
ओरे, नाइरे दिवस, नाइरे ताहार निशा!
फिरेचि सेइ स्वर्ग शून्ये शून्ये
फाँकिर फाँका फानूस्।
कत जे युग युगान्तरेर पुण्य
जन्मेचि आजि माटिर परे धूला-माटिर मानुष।
स्वर्ग आजि कृतार्थ ताइ आमार देहे
आमार प्रेमे, आमार स्नेहे,
आमार व्याकुल बुके',
आमार लज्जा, आमार सज्जा, आमार दुःखे-सुखे।*

निम्न कविता में स्त्री के द्विधा-रूप का परिचय कवि ने किस कवित्व-पूर्ण ढंग से दिया है—

कोन क्षणे
सृजनेर समुद्र मंथने
उठे छिल दुइ नारी

* हे भाई, क्या जानते हो कि स्वर्ग है कहाँ? उसका कोई ठिकाना नहीं है, न उसका आरम्भ है और न उसका अन्त। न उसका कोई देश है, न दिशा। न उसका दिन है न रात्रि! एक दीन यात्री की भाँति इसी शून्य स्वर्ग में मैं फिरता रहा। कितने ही युग-युगान्तरों के पुण्य से इस पृथ्वी पर—इस मिट्टी पर, धूल-मिट्टी के पुतले के रूप में जन्म पाया है। आज मेरे देह में, मेरे प्रेम में, मेरे स्नेह में, मेरे व्याकुल हृदय में, मेरी लज्जा, सज्जा और सुख-दुःख में स्वर्ग कृतार्थ हो रहा है।

अतलेर शय्यातल छाड़ि।
एक जना उर्व्वशी, सुन्दरी,
विश्वेर कामना राज्ये रानी,
स्वर्गेर अप्सरी।
अन्यजना लक्ष्मी, से कल्याणी,
विश्वेर जननी तांरे जानि,
स्वर्गेर ईश्वरी।
एकजन तपोभंग करि'
उच्चहास्य-अग्नि रसे फाल्गुनेर सुरापात्र भरि'
निये जाय प्राणमन हरि,'
× × ×
आरजन फिराइया आने
अश्रुर शिशिर स्नाने
स्निग्ध वासनाय,
हेमन्तेर हेमकान्त सफल शान्तिर पूर्णताय;
फिराइया आने
निखिलेर आशीर्वाद पाने
अचंचल लावण्येर स्मित हास्य-सुधाय मधुर।*

---

* किस क्षण सृष्टिकर्त्ता के समुद्र-मंथन करते समय अतल की शय्या को छोड़कर दो नारियाँ उठ खड़ी हुई थीं। उनमें से एक थी उर्व्वशी, सुन्दरी, विश्व के कामनाराज्य की रानी, स्वर्ग की अप्सरी। दूसरी थी लक्ष्मी, कल्याणी, विश्व की जननी, स्वर्ग की ईश्वरी।

उनमें से एक (उर्व्वशी) तप को भंग करती हुई उच्च हास्य के अग्नि-रस में फाल्गुन का सुरापात्र भरकर हृदय और मन को हर ले जाती है। × × × दूसरी आँसुओं के शीतल स्नान से स्निग्ध वासना में, हेमन्त की स्वर्णकान्त सफल शान्ति की पूर्णता में हृदय को फिरा लाती ह—सबके आशीर्वाद के निकट, अचंचल लावण्य के स्मितहास्य की मधुर सुवा में।

जापान-भ्रमण

जापान-भ्रमण करने की रवीन्द्रनाथ की इच्छा बहुत दिनों से थी। वे चाहते थे जापान को उसके असली रूप में अति निकट से देखना, जिससे एशिया के इस छोटे से देश का, जिसे संसार की 'थर्ड रेट पावर' समझा और कहा जाता है, ठीक-ठीक परिचय प्राप्त किया जा सके। योरप में महासमर छिड़ा हुआ था। उस ओर जाना इन दिनों न संभव था, न वाञ्छनीय ही; काश्मीर वे कुछ दिन पहले ही हो आये थे, अतः फिर भ्रमण की प्रेरणा होने पर इस बार जापान जाने का निश्चय हुआ। ३ मई सन् १९१६ को अपने दो अँगरेज़ मित्रों—श्री पियर्सन और देशबन्धु एंड्रूज़ तथा श्रीयुत मुकुल दे को साथ लेकर तोशामारू जहाज़ पर उन्होंने जापान के लिए प्रस्थान कर दिया। यह यात्रा भी उनकी अन्य यात्राओं की भाँति महत्त्वपूर्ण रही। मार्ग में रंगून की जनता ने उनका शानदार स्वागत किया। ६ से लेकर १० मई तक वे रंगून में रहे फिर १० ता० को वहाँ से रवाना होकर १५ ता० को सिंगापुर पहुँचे और २२ मई को हाँगकाँग। हाँगकाँग में जहाज़ के अधिकारियों ने रवीन्द्रनाथ को सूचना दी कि 'तोशामारू' अब शंघाई न जाकर सीधा जापान पहुँचेगा क्योंकि जापान की जनता आपके दर्शनों के लिए बहुत लालायित हो रही है। अतः अधिकारियों की आज्ञा है कि आपको यथा-संभव शीघ्र जापान पहुँचा दिया जाय।

२९ मई, १९१६ को 'तोशामारू' कोबे बन्दरगाह पर लगा और रवीन्द्रनाथ ने जापान की भूमि पर प्रथम बार पदार्पण किया। पत्रकारों की एक ख़ासी भीड़ भेंट करने के लिए पहले से ही उपस्थित थी। यात्रा-सम्बन्धी कुशल-क्षेम के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर कवि ने कहा कि मेरी यात्रा प्रायः सुखप्रद और मनोरंजक रही। केवल एक बार कुछ असुविधा हुई थी जब कि बंगाल की खाड़ी में मेरा जहाज साइ-क्लोन के घेरे में आगया था और फिर शीघ्र ही साइक्लोन के ठीक केन्द्र में पहुँच गया था। समुद्र-यात्रा में साइक्लोन का सामना करने का मेरे लिए यह पहला अवसर था। इस बार मुझे ज्ञात हुआ कि जिस काल-

वैशाखी की कथा मैं बचपन से सुनता आ रहा हूँ, वह वास्तव में कैसी होती है।

"आप जापान यात्रा किस उद्देश्य से कर रहे हैं?" पत्रकारों ने अपने स्वभावानुसार प्रश्न किया।

"मैं जापान को उसके असली रूप में देखने आया हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि जापान अपने असली रूप में कहाँ पर है! मैं जनता की भारी-भारी सभाओं में भाग लेकर अपना समय खोना नहीं चाहता। मैं जापान के नगरों को भी देखने का अभिलाषी नहीं हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि सुदूरपूर्व के इस देश के नगरों में भी मुझे वही सब कुछ देखने को मिलेगा—वही व्यापारिकता का राज्य, इस्पात, मशीन, कोयला, मज़दूर, कल, कारखाने, व्यस्त और कोलाहल पूर्ण जीवन—जो मैं पश्चिम में देख आया हूँ। मैं यहाँ के गाँवों को देखना चाहता हूँ। मैं यहाँ के बौद्धमठों को देखना चाहता हूँ और यदि संभव हो तो उन मठों में कुछ समय तक रहना भी। शायद वहाँ मुझे जापान के मूलरूप के दर्शन हों। शायद वहाँ मुझे उस संस्कृति की कुछ झलक मिल जाय जिसे अब से हजारों वर्ष पूर्व भारत ने जापान को दिया था, और जिसे सिखाने के लिए ही भारत के भिक्षुओं ने, उस युग में, जब कि आने-जाने के साधन ऐसे सुख-प्रद और सुलभ न थे जैसे आज हैं, हज़ारों मील की पैदल-यात्रा की थी। दुर्लंघ्य पहाड़ों को लाँघा और पथरीली घाटियों को पार किया था। चौड़ी नदियाँ और काँटेदार वन भी उनके उत्साह को कम न कर सके थे। उन्होंने सत्य का अन्वेपण कर लिया था। उन्हें सत्यामृत की प्राप्ति हो गई थी और वे अपने पड़ोसियों को भी उस अमृत का आस्वादन कराना चाहते थे। आज के युग में उस साहसपूर्ण कार्य का, उस महान् त्याग का स्मरण करके भी रोमांच हो आता है।

"इसके अतिरिक्त एक उद्देश्य इस यात्रा में मेरा और है। मैं अपने साथ एक चित्रकार को लाया हूँ। वह भारतीय चित्रकला में निपुण है। मैं जानना चाहता हूँ कि जापानी चित्रकला का भारतीय चित्रकला के साथ क्या सम्बन्ध है और दोनों में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा

सकता है।" यही कवि का उत्तर था। इससे उनके जापान भ्रमण का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

कवि के जापान पहुँचने की सूचना वहाँ के पत्रों में मोटे-मोटे शीर्षकों के साथ छपी। जनता उनके दर्शनों को और भी उत्सुक हो उठी। वहाँ के प्रसिद्ध कवि निगोची ने कवि के स्वागत में एक कविता लिखी जिसका अँगरेज़ी अनुवाद भारतवर्ष भी भेजा गया और 'माडर्न रिव्यू' में छपा। १ जून, १९१६ को कवि तिनोजी (ओसाका) बुलाये गये। वहाँ के पब्लिक हाल में 'भारतवर्ष और जापान' विषय पर उनका महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। बहुत अधिक भीड़ थी। कोलाहल भी काफ़ी हो रहा था। पर कवि के मधुर कंठ से भाषण का प्रारंभ होना था कि सभा में सन्नाटा छा गया। श्रोतागणों में ऐसे बहुत कम थे जो भाषण की भाषा समझने की योग्यता रखते थे; पर अन्य श्रोता भी मधुर स्वर के लोभ में अन्त तक बैठे-बैठे शान्ति के साथ भाषण सुनते रहे। इस भाषण का अँगरेज़ी अनुवाद 'ओसाका आशाई शिम्बून' के ३ जून के अंक में मोटे-मोटे शीर्षकों के साथ प्रकाशित हुआ।

इसके पश्चात् जापान के प्रीमियर काउण्ट ओक्यूमा ने कवि के स्वागतार्थ एक प्रीति-भोज किया। १३ जून को कानीजी के ब्योनो पार्क में जनता की ओर से भी विराट् रूप में कवि का स्वागत किया गया। सभा में जनता के अतिरिक्त लगभग २०० प्रतिष्ठित अधिकारी भी सम्मिलित थे जिनमें काउण्ट ओक्यूमा शिक्षा-मंत्री डाक्टर ताकता, कृषि-मंत्री मिस्टर कोनो तथा टोकियो के मेयर डाक्टर ओकुदा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रधान मेज़मान का पद चीफ़ ऐबट हाइको सुशोभित कर रहे थ। सत्कार का उत्तर देते हुए कवि ने बंगला में भाषण किया। आपने कहा—"मुझे दुःख है कि मैं जापानी नहीं जानता। मैं अँगरेज़ी भी इतनी नहीं जानता कि अपने मनोगत भावों को पूरी तरह व्यक्त कर सकूँ। इसके अतिरिक्त मुझे यह भी ज्ञात है कि अँगरेज़ी जापान की राष्ट्र-भाषा नहीं है। अतः मुझे यही उचित ज्ञात होता है कि मैं आप लोगों को अपनी मातृ-भाषा में अपनी बात सुनाऊँ।"कवि के भाषण का प्रोफ़ेसर किमुरा ने जापानी में अनुवाद करके जनता को सुनाया। काउण्ट

ओक्यूमा ने कवि के भाषण का जापानी में उत्तर देते हुए कहा कि अँगरेज़ी समझने में मुझे भी बड़ी कठिनाई पड़ती है।

कानीजी से कवि कोबे गये और वहाँ से शिज़ोका। शिज़ोका में एक जापानी पुरोहित ने नितान्त भारतीय ढंग से करतलबद्ध प्रणाम करके कवि का अभिवादन किया। कवि को यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि जापान को शिष्टाचार का जो ढंग भारत ने हज़ारों वर्ष पूर्व सिखाया था, वह अब भी उसने सर्वथा भुलाया नहीं है। कवि उक्त पुरोहित के साथ बहुत देर तक धार्मिक सिद्धान्तों पर वार्तालाप करते रहे।

१२ जून को टोकियो विश्व-विद्यालय का निमंत्रण पाकर कवि वहाँ गये और 'भारत का जापान को सन्देश' विषय पर व्याख्यान दिया। उपस्थित श्रोताओं में छात्र व प्रोफ़ेसर ही अधिक थे। इनके सिवाय कुछ विदेशी लोग और स्त्रियाँ भी थीं। कवि की खरी-खरी आलोचना से उपस्थित जापानी तिलमिला उठे और उनके स्वागत करने और भाषण सुनने के लिए जापानी जनता में जो उत्साह था, वह स्थायी नहीं रह सका। ऐसा ज्ञात होता था कि पश्चिम के पीछे दौड़नेवाले जापानियों के पास न आत्मा और परमात्मा की बातें सुनने-समझने के लिए समय था और न उन्हें जापान की साम्राज्य-लिप्सा की आलोचना ही सहन हो सकती थी। फल यह हुआ कि अधिकांश जापानी कवि के विरोधी बन गये और उन्होंने जापानी पत्रों में मोटे-मोटे शीर्षकों में छपाया कि जापानी नवयुवकों को रवीन्द्रनाथ की बातें नहीं सुननी चाहिए, क्योंकि वे दक़ियानूसी और थोथी हैं और रवीन्द्रनाथ स्वयं ऐसी जाति के कवि हैं जो पद-दलित और पराधीन है। यह आलोचना पढ़कर कवि को बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने 'साँग आफ दि डिफ़ीटिड' शीर्षक कविता लिखी, जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है। इस कविता से ज्ञात होता है कि भारत की पराधीनता का कवि की दृष्टि में कैसा रूप था—

"मेरे प्रभु ने मुझे आज्ञा दी है कि जब तक मैं पथ पर खड़ा हूँ, पराजय के गीत गाऊँ। क्योंकि वही ऐसी दुलहिन है जिससे वे छिपकर ब्याह करते हैं।

"उसने काला घूँघट डाल रक्खा है, जिससे भीड़ उसका मुँह न देख सके, पर उसके वक्ष पर सुशोभित रत्न अंधकार में प्रकाश करते हैं।

"दिन ने उसे त्याग दिया है, पर ईश्वर की रात्रि दीपक जलाये और ओस से भीगे फूल लिए उसकी प्रतीक्षा करती है।

"वह मौन है। उसके नेत्र नीचे की ओर झुके हैं। वह अपने घर से दूर है। घरवालों का क्रन्दन वायु-द्वारा उसके कानों में पहुँचा है।

"परन्तु तारागण लज्जा और पीड़ाओं से मधुर उसके मुख के आगे अनन्त के प्रेम-गीत गाते हैं।

"एकान्त-भवन का द्वार खुल गया है। आह्वान सुनाई पड़ा है। अंधकार का हृदय कंपित हो उठा है, क्योंकि मिलनवेला आ पहुँची है।"

जापान-भ्रमण के सिलसिले में कवि ने जो व्याख्यान दिये थे उनका संग्रह सन् १९१७ में 'नेशनलिज़्म' नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें ३ अध्याओं में 'पश्चिम में राष्ट्रीयता,' 'भारत और जापान में राष्ट्रीयता' तथा 'पश्चिम की आक्रामक मनोवृत्ति एवं प्राचीन भारत का विनम्रता का आदर्श' पर विचार किया गया है। इसके पश्चात् सन् १९१९ में 'जापानेर जात्री' नाम से दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें कवि ने अपने जापान-सम्बन्धी अनुभवों का उल्लेख किया है।

जापान से रवीन्द्रनाथ अमेरिका चले गये। वहाँ जे० बी० पाण्ड से मिलकर उन्होंने समस्त संयुक्तराष्ट्र में एक व्याख्यानमाला देने का निश्चय किया। कवि का स्वागत करने का सर्वप्रथम सौभाग्य सीटल सनसेट क्लब की सदस्याओं को प्राप्त हुआ। और इसी क्लब के हाल में २५ सितम्बर को 'राष्ट्रीयता का अनुराग' विषय पर कवि का पहला व्याख्यान हुआ। इस भाषण में कवि ने पाश्चात्य देशों की साम्राज्य-तृष्णा की निन्दा की और भारत के अँगरेजी शासन की भी कड़े शब्दों में आलोचना की। दूसरा लेक्चर २७ सितम्बर को पोर्टलैंड में हुआ। इसके पश्चात् अन्य कई स्थानों पर भी उनके भाषण हुए। भारतीय ग़दर पार्टी के नेता रामचन्द्र इन दिनों अमेरिका में थे। उन्होंने रवीन्द्रनाथ के 'राष्ट्रीयता' भाषण की कड़ी आलोचना करते हुए वहाँ के पत्रों में छपाया कि रवीन्द्रनाथ अँगरेज़ी राज्य की तीव्र आलोचना करते हैं पर अपने नाम के साथ

सरकार की दी हुई 'सर' की उपाधि (नाइटहुड की उपाधि सन् १९१५ में रवीन्द्रनाथ को भारत-सरकार-द्वारा दी गई थी।) लगाये फिरते हैं। इसके पश्चात् यह अफ़वाह उड़ी कि ग़दर पार्टी के कुछ सदस्य रवीन्द्रनाथ की जान लेने की घात में भी हैं। कई शुभचिन्तकों ने यह खबर सुनकर भय प्रकट किया और सम्मति दी कि कवि सदैव सतर्क और पुलिस के संरक्षण में रहें। पर रवीन्द्रनाथ इससे ज़रा भी विचलित न हुए। सेण्ट बारबर में उन्होंने अपने 'राष्ट्रीयता' व्याख्यान को फिर से दुहराया। इसके बाद बीसवीं सदी क्लब में एक व्याख्यान में उन्होंने अमेरिका की स्वर्ण-लिप्सा की कटु शब्दों में भर्त्सना की और न्यूयार्क में २१ नवम्बर को भाषण देते हुए एशिया के प्रति अमेरिका की गीध-दृष्टि की चुटीले शब्दों में खबर ली। इसके पश्चात् कई अन्य स्थानों पर भाषण देकर तथा एक विश्व-विद्यालय में प्रेसीडेण्ट हेडले का स्वागत-सत्कार ग्रहण कर २१ जनवरी सन् १९१७ को वे फिर जापान लौट आये और वहाँ से चलकर १७ मार्च को शान्तिनिकेतन पहुँच गये।

अमेरिका में दिये गये भाषणों का संग्रह 'परसनालिटी' नाम से सन् १९१७ में प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह के एक भाषण में कला के सम्बन्ध में गवेषणा करते हुए कवि ने यह निश्चय करने की चेष्टा की है कि कला का जन्म किसी सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ है या मानव की सौन्दर्य-विषयक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए; या इसका जन्म मानव की आत्माभिव्यक्ति के लिए उत्सुकता का परिणाम है। कवि की राय है कि मनुष्य अपने प्रिय और अप्रिय भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए विवश हो उठता है और उसकी यही कामना कला के रूप में साकार हो उठती है। कला के रूप में मानव स्वयं को अभिव्यक्त करता है।

इस भ्रमण से कवि काफ़ी थक गये थे। इधर घर आकर उन्होंने देखा कि उनकी सबसे बड़ी पुत्री बेला रोग-शय्या पर पड़ी है और उसका रोग लगभग असाध्य हो गया है। यह देखकर कवि को बहुत दुःख हुआ और वे यत्नपूर्वक उसकी परिचर्या में लग गये। यद्यपि उनका सार्वजनिक जीवन इसके लिए काफ़ी अवकाश न दे रहा था।

९ मई, १९१८ को बंगाल के गवर्नर ने एण्ड्रूज़ साहब को सूचित किया कि सरकार को सेनफ़्रांसिस्को (अमेरिका) से विश्वस्तसूत्र-द्वारा सूचना मिली है कि कवि का भारत के षड्यंत्रकारी युवकों से सम्पर्क है। यही नहीं, सरकार को यह भी ज्ञात हुआ है कि आपने सन् १९१६ के अमेरिका भ्रमण के लिए कवि ने जर्मन सरकार से आर्थिक सहायता ली थी। इसी कारण उन्होंने अमेरिका में भारत में अँगरेज़ी शासन के विरुद्ध ऐसा ज़ोरदार भाषण दिया था। यह समाचार पाकर कवि को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने प्रेसीडेन्ट विल्सन को एक पत्र लिखकर यह जानना चाहा कि आख़िर सेनफ़्रांसिस्को से इस प्रकार की सूचना भेजे जाने का आधार क्या है।

पलातक

१६ मई, सन् १९१८ को बेलादेवी का देहान्त हो गया। इसी वर्ष 'पलातक' नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ। अंतिम तीन कविताओं को छोड़कर 'पलातक' की सभी कविताएँ बड़ी-बड़ी हैं। इन कविताओं के शब्द-चयन से ज्ञात होता है कि उन दिनों कवि की प्रवृत्ति बोलचाल की बँगला की ओर अधिक थी और वे कविता में शब्दो का उच्चरित रूप ही देना पसंद करते थे। प्रायः कविताएँ कहानी को आधार मानकर लिखी गई हैं जिनके बीच बीच में जीवन-अनुभूति की करुण-झाँकी भी मिल जाती ह। प्रकृति के प्रति कवि का अटूट अनुराग भी इन कविताओं में व्यक्त हुआ है जिसकी झाँकी प्रथम रचना 'पलातक' से ही मिलने लगती है—

ऐ एखाने शिरीष-गाछे
झुरु झुरु कचि पातार नाचे
घासेर परे छायाखानि काँपाय थरथर
झरा फूलेर गंधे भरभर—
ऐखाने मोर पोषा हरिण चर्त आपन मने
हेना-बेड़ार कोने

शीतेर रोदे सारा सकाल बेला।
तारि संगे कर्त्त खेला
पहाड़ थेके आना
घन राङा रोंयाय ढाका एकटि कुकुर छाना। *

प्रकृति के साथ-साथ मानव प्रकृति को भी समुचित स्थान दिया गया है। जीवन के पटो में छिपी हुई वेदना स्वर पाकर इन गीतों में वज उठी है। कवि स्वयं जीवन के उस उच्चस्तर पर आसीन है जहाँ व्यक्तिगत दुःख-शोक उसके अन्तस्तल को स्पर्श नहीं कर पाते। पर मानव कहे जानेवाले अन्य जीवों के दुःख-शोको की वह उपेक्षा नहीं कर सकता। 'पलातक' के गीतों में विश्व-जगत् के प्रति कवि की संवेदना मुखरित हो उठी है। 'चिरदिनेर दागा' की शैल एक साधारण लड़की है। उसके जीवन में विशेषता केवल एक यह है कि वह अपनी माता की गोद म तीन और बहनों के बाद चौथी होकर आई है अतएव जननी की लज्जा का कारण हुई है। जननी उसे 'द्वार पर आए हुए अवाञ्छित कंगाल' की भाँति समझती है और इसी लिए 'बिना दोष के अपराधी' की भाँति शैलबाला का जीवन अपने माता-पिता के घर में आरंभ होता है। अपराध का भार पल-पल पर गुरु होता जाता है। अकारण अनादर और शान्ति उसके दैनिक जीवन की वस्तुएँ हैं जिनमें उसे कोई नवीनता नहीं दिखाई देती। केवल एक पड़ोसी वृद्ध जिसे शैल दादा कहती है, उसके साथ कुछ सहानुभूति रखता है। जब दादा पूछता है कि तेरा नाम क्या है, तब वह उत्तर देती है कि मेरा नाम है, 'दुष्ट सर्वनाशी', क्योंकि घर में सब उसे इसी नाम से पुकारते हैं। विवाह की आयु हो जाने पर भी

---

*यहाँ शिरीष के वृक्ष में कोमल पत्ते झुरु-झुरु शब्द करते हुए नाचते हैं। घास पर छायाएँ थर-थर काँपती हैं। सुगंध से भरभर फूल झरते हैं। मेरा पालतू हिरण यहाँ अपने मन से चरता है—मेहँदी के पाँत के कोने में शीतकाल की किरणों में, प्रभात के सारे समय। उसके साथ पहाड़ से लाया हुआ गहरे रंग के रोओं से ढका हुआ कुत्ते का बच्चा खेला करता है।

उसका विवाह नहीं हो पाता। अन्त में बर्मा प्रवासी एक वर, जो थोड़े दिनों की छुट्टी पर आया हुआ है, मिल जाता है और 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार शैल उसके साथ ब्याह दी जाती है। ब्याह की शहनाई बज रही है। आज 'दुष्ट सर्वनाशी' अनादर का घर छोड़कर विदा हो रही है। विदा के समय दादा के गले मिलकर शैल कहती है, "दादा मैं तुम्हें निमंत्रण देती हूँ, आना, आना अवश्य आना ।" तीन बार के कहे शब्दों के उत्तर में दादा "आऊँगा, आऊँगा, अवश्य आऊँगा," कह देता है। और कुछ नहीं कहता। फिर आशीर्वाद की मुक्तामाल पहनाकर उसे विदा कर देता है।

चौथे दिन प्रातःकाल समाचार मिलता है कि जिस जहाज़ पर शैल अपने पति के साथ रंगून जा रही थी वह इरावती नदी के मुहाने के पास किसी वस्तु से टकराकर डूब गया । शैल भी उसके साथ डूबकर कहाँ पहुँची, यह कौन जान सकता है। केवल उसका निमंत्रण दादा को याद है ।

कुछ दिन बीत जाते हैं। शैल का पिता किसी काम से वृद्ध पड़ोसी के घर जाता है और शैल के बचपन की एक घटना सुनाता है। एक दिन शैल के पिता ने देखा कि बही-खाते पर किसी ने काली स्याही से टेढी मेढ़ी रेखाएँ खींच दी हैं। समझा गया कि यह काम शैल का ही हो सकता है। शैल को बुलाया गया। मारा-पीटा और डराया-धमकाया गया, पर कुछ फल न हुआ। अन्त में शास्ति का नवीन ढंग निकाला गया— उसे तुम्हारे घर (वृद्ध के घर) आने से मना कर दिया गया। इस शास्ति को शैल सहन न कर सकी और उसने शीघ्र ही पिता से यह कहकर क्षमा माँगनी चाही कि अब कभी ऐसी दुष्टता न करेगी। आज इतने वर्ष बीत गये—

> हिसाबेर सेइ अंक गुलार समय ह'ल गत; —
> से शास्ति नेइ, से दुष्टु नेइ;
> रइलो शुधू एइ
> चिर दिनेर दागा

अब हिसाब के उन अंकों का समय बीत गया। वह शास्ति भी नहीं

न वह 'दुष्ट' ही है। केवल यही एक चिरदिन का दाग़ रह गया है। और—

शिशु-हातेर आँचड़ क'टि आमार बुके लागा।

और उस शिशु के हाथ की बनाई हुई रेखाएँ हमारे हृदय में बन गई हैं।

वेदना का यही स्वर 'मुक्ति' में झंकृत हो रहा है। डाक्टर औषध और हवा का नियंत्रण करके प्राणों को बंधन में डाले रखना चाहता है। जीवन में न जाने कितनी कड़वी-खट्टी ओषधियाँ खाई गई हैं। घर में बाईस वर्ष काट दिये हैं। घर के सब लक्ष्मी, सती कहकर पुकारते हैं पर इन बाईस वर्षों के लम्बे समय में—

आमि केवल जानि,

रांधार परे खाओया, आवार खाओयार परे राँधा।

केवल यही जान पाया है कि पकाने के बाद खाना, और खा चुकने के बाद फिर पकाना। जीवन में बाईस वसन्तों की हवाएँ आकर द्वार पर धक्के देकर पुकार गई हैं कि—

"खोलरे दुयार खोल।"

आज 'मुक्ति' का समय आगया है। अब बंधन स्वीकार नहीं है—

मधुर भुवन, मधुर आमि नारी,
मधुर मरण, ओगो आमार अनन्त भिखारी!
दाओ, खुले दाओ द्वार;
व्यर्थ बाइश बछर हते पार करे दाओ
कालेर पारावार।*

'फाँकी' (धोखेबाज़ी) कथा में एक ज़मींदार के लड़के की स्त्री बिनू को, जिसकी आयु केवल २३ वर्ष की है और जो बहुत दिनों से बीमार है, जब दवा से लाभ नहीं होता तब डाक्टर वायु-परिवर्तन की

---

*भुवन मधुर है, मैं मधुर नारी हूँ। मृत्यु मधुर है, अनन्त हमारा भिक्षुक है। द्वार खोल दो। व्यर्थ के बाईस वर्षों से काल का पारावार पार कर दो।

सलाह देते हैं। वह अपने जीवन में प्रथम बार रेलयात्रा करती है। बीच में गाड़ी बदलने के लिए एक स्टेशन पर दोनों पति-पत्नी कुछ समय के लिए ठहर जाते हैं। इस बीच एक अत्याचार-पीड़ित मजदूर की स्त्री से विनू की कुछ देर बातें होती हैं। विनू का सरल हृदय, जिसमें विरोधी संस्कार नहीं हैं, उस दुःखिनी स्त्री की कथा सुनकर करुणा से भर जाता है। गाड़ी का समय समीप आया जान विनू अपने पति से प्रार्थना करती है कि उस स्त्री की लड़की का विवाह होनेवाला है, अतः उसकी कुछ सहायता करनी चाहिए। पति बुर्जुआवर्ग का है। वह उदासीनता और घृणा के साथ ये बातें सुनता है, पर विनू अपनी बात पर अड़ी रहती है। गाड़ी छूटने का समय हो आता है। अपने प्राण बचाने के लिए पति तरह-तरह के बहाने करता है। वह कहता है कि मेरे पास केवल सौ-सौ रुपये के नोट हैं, उन्हें ऐसी शीघ्रता के समय कैसे भुनाऊँ ! पर पत्नी उसकी चाल समझ जाती है और कहती है कि निश्चय ही कोशिश करने पर स्टेशन से नोट भुनाया जा सकता है। वह यह भी कहती है कि यदि तुम कम से कम २५) उस स्त्री को नहीं दे दोगे तो मैं गाड़ी पर नहीं चढ़ूँगी। कोई उपाय न देखकर पति पत्नी को वचन देकर उस स्त्री को एकान्त में ले जाता है और वहाँ उसे डाँट बताते हुए कहता है कि मैं तुम्हें खूब पहचानता हूँ। तुम्हारा पेशा है मुसाफ़िरों को ठगना। यदि तुम फिर ऐसी बदमाशी करोगी तो मैं तुम्हें भी नौकरी से हटा दूँगा और तुम्हारे पति को भी। यह कहकर उसके हाथ में केवल २) रखकर वह उसे विदा कर देता है। इधर विनू के पास जाकर कहता है कि तुम्हारे कथनानुसार मैंने उसे २५) दे दिये। विनू यह सुनकर बहुत प्रसन्न हो जाती है।

दो महीने बाद विनू की मृत्यु हो जाती है। पति महोदय सदा के लिय विनू से विदा होकर घर की ओर लौटते हैं। मार्ग में फिर वही स्टेशन मिलता है। पत्नी की अन्तिम अभिलाषा की याद उनके अन्तस्तल को रह रह कर पीड़ित करती है। जिन पचीस रुपयों के लिए उन्होंने अपनी स्त्री को धोखा दिया, उनके बदले आज वे २५ हज़ार व्यय करने को तैयार हैं—यदि आज विनू फिर आकर उनसे आग्रह कर सके। वे पाप का प्रक्षा-

लन करने के लिए उस मज़दूर स्त्री की तलाश करते हैं, पर उसका कुछ पता नहीं लगता। शायद वह उस स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र चली गई थी।

मानव-हृदय की छिपी हुई वेदना का आभास 'मायेर सम्मान', 'निष्कृति' और 'छिन्नपत्र' में भी मिलता है। वस्तुतः ये रचनायें रवीन्द्रनाथ की कहानियों की कक्षा की हैं, और कहानियों के साथ ही इनकी गणना भी की जानी चाहिए। अन्तर केवल यह है कि इन्हें कवि ने मुक्तछन्द में लिखा है जो भाव प्रकाश के लिये गद्य और पद्य दोनों से अधिक उपयुक्त होता है।

जलियाँवाला काण्ड

सन् १९१९ में रौलटएक्ट, मार्शल ला और उनके परिणाम में घटनेवाले जलियाँवाला काण्ड ने भारतीयों के हृदय को समान रूप से क्षुब्ध कर दिया था। इन घटनाओं ने भारतीयो की आँखें खोल दी थीं और उन्हें पूर्णरूप से ज्ञात हो गया था कि ब्रिटिश शासन में उनकी अपनी क्या स्थिति है। दमन की इन भयानक खबरों को दबाने और अख-बारों में न छपने देने के लिए सरकार की ओर से विशेष क़ानून बनाये गये थे, फिर भी वे जनता तक पहुँच गईं और समूचे भारत में एक सिरे से दूसरे सिरे तक शोक की लहर दौड़ गई। रवीन्द्रनाथ के भावुक हृदय को बड़ा आघात लगा और पंजाब तथा भारत के अन्य प्रान्तों में सरकारी कर्मचारियों-द्वारा होनेवाले अत्याचारों के समाचार सुन कर वे विचलित हो उठे। सरकर की इस नीति के प्रति अपना विरोध व्यक्त करने के लिये उन्होंने सरकार-द्वारा दी हुई 'नाइटहुड' की उपाधि को वापस करते हुए तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्सफ़ोर्ड को एक लम्बा पत्र लिखा जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है--

"श्रीमान्

कुछ स्थानीय उपद्रवों को दवाने के लिए पंजाब की सरकार ने जिन भीषण उपायों से काम लिया है उनसे हमारे दिलों को भारी धक्का लगा है और हमारी आँखें खल गई हैं कि ब्रिटिश प्रजा की हैसियत से

भारत में हमारी कैसी असहाय अवस्था है ! अभागी जनता को दिये गये दंड की कठोरता अत्यंत असंगत है। निश्चय ही उसकी मिसाल कुछ प्राचीन या अर्वाचीन प्रसिद्ध अपवादों को छोड़कर संसार की सभ्य सरकारों के इतिहास में कहीं नहीं मिल सकती। जब हम सोचते हैं कि यह दुर्व्यवहार निःशस्त्र और निरुपाय जनता के ऊपर एक ऐसी शक्ति ने किया है, जिसके पास मानव-जीवन को नष्ट करने के लिए अत्यंत भयंकर और पूर्ण साधन हैं, तो हमें कहना पड़ता है, कि वह न केवल नैतिक औचित्य बल्कि राजनीतिक चातुर्य का भी कोई दावा नहीं कर सकती। हमारे पंजाबी भाइयों को जो अपमान और यातनायें सहनी पड़ी हैं, उनके समाचार दबाये जाने पर भी धीरे-धीरे देश के कोने-कोने में फैल गये हैं। उनसे आम जनता के हृदय क्षोभ और क्रोध से भर गये हैं; परन्तु हमारे शासकों ने उसकी कोई पर्वाह नहीं की, शायद उल्टे वे अपने को इसलिए शाबासी दे रहे हैं कि उन्होंने हम लोगों को एक अच्छा सबक़ सिखा दिया। अधिकांश अधगोरे पत्रों ने इस निर्दयता की प्रशंसा की है और उनमें से कुछ ने तो पाशविकता की सीमा पर पहुँचकर हमारी यातनाओं का उपहास किया है। और तुर्रा यह कि अधिकारियों की ओर से उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। दूसरी ओर उन्हीं अधिकारियों ने सताई हुई जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाले पत्रों की करुण चीत्कारों और निर्णयों को सावधानी के साथ निर्दयतापूर्वक दबाया है। क्योंकि वे यह जानते हैं कि हमारी सरकार प्रतिकार की भावना से अंधी हो गई है और उसकी उदार राजनीतिक दृष्टि नष्ट हो गई है। अगर वह चाहती तो अपनी सैनिक शक्ति और नैतिक परंपरा के अनुरूप आसानी से उदारता दिखा सकती थी। मैं अपने देश के लिए कम से कम इतना तो कर ही सकता हूँ कि भारी से भारी दुष्परिणाम भोगने के लिए तैयार होकर अपने उन करोड़ों देश-वासियों की विरोध-भावना को व्यक्त करूँ जो आतंक और भय के कारण मूक बने वेदना सह रहे हैं! समय आ गया है जब कि सम्मान के पट्टे अपमान के साथ मेल नहीं खा सकते। केवल वे हमारी निर्लज्जता को और अधिक चमका देते हैं। इसलिए जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं समस्त विशिष्टताओं को छोड़कर अपने

उन देशवासियों के साथ खड़ा होना चाहता हूँ जिन्हें अपनी तथाकथित नगण्यता के कारण अमानुषीय निरादर सहने पड़ते हैं। ये ही कारण हैं जिनसे दुखी होकर मैं श्रीमान् से आदर और खेद के साथ यह निवेदन करने पर विवश हुआ हूँ कि सम्राट् की ओर से गत वाइसराय द्वारा दी गई 'नाइट' की उपाधि से आप मुझे मुक्त कर दें। उन महोदय के हृदय की उदारता की मैं अब भी बहुत प्रशंसा करता हूँ।

आपका

रवीन्द्रनाथ ठाकुर।"

सरकार ने इस प्रार्थनापत्र को स्वीकार नहीं किया। पर इससे क्या? रवीन्द्रनाथ ने उसी दिन से अपने नाम के साथ 'सर' की उपाधि का प्रयोग बन्द कर दिया।

योरप-भ्रमण और अभूतपूर्व स्वागत

१४ मई, १९२० को रवीन्द्रनाथ ने योरप-भ्रमण के लिए प्रस्थान किया। जिस जहाज से ये योरप जा रहे थे उसी से श्री आग़ाख़ाँ भी जा रहे थे। फलतः जहाज़ पर ही दोनों महा-पुरुषों की भेंट हो गई। मार्ग भर अच्छी चहल-पहल रही। आग़ाख़ाँ सूफ़ीमत के सिद्धान्त हाफ़िज़ से पढ़-पढ़कर सुनाते थे और रवीन्द्रनाथ एक भावुक श्रोता की भाँति ध्यान लगाकर उन्हें सुनते थे। अलवर और जामनगर के नरेश भी इसी जहाज़ पर योरप को जा रहे थे। उनसे भी रवीन्द्रनाथ की भेंट हुई। रवीन्द्रनाथ का विचार इस बार योरप में बहुत समय तक ठहरने का नहीं था। इसी संबन्ध में उन्होंने एक मित्र को पत्र लिखते हुए लिखा था—"मैं अनुभव कर रहा हूँ कि हम लोग योरप में अधिक समय तक नहीं ठहर सकते क्योंकि आज कल मेरी मनःस्थिति ऐसी नहीं है कि मैं संसार का सामना कर सकूँ और उसके प्रश्नों के उत्तर दे सकूँ। मैं अपने जीवन के उन्हीं दिनों में लौट जाना चाहता हूँ जब उपयोगिता का इतना भार कन्धों पर नहीं था।" २४ मई को जहाज़ स्वेज़ नहर में पहुँचा, जहाँ नहर पर अँगरेज़ों का एकाधिकार और भारतीयों के प्रति वहाँ के अधिकरियों की उपेक्षा देखकर रवीन्द्रनाथ को आन्तरिक दुःख हुआ। इस

सम्बन्ध में अपने मित्र को पत्र लिखते हुए वे लिखते हैं--"ये लोग चाहते हैं कि हम उनके लिए लड़ते रहें और अपना कच्चा माल इन्हें बराबर दिये जायँ, साथ ही हम नतशिर इनके द्वार पर खड़े रहें—उस द्वार पर जिस पर एक तख़्ती लगी है—'जो एशियाई लोग अनधिकार प्रवेश करने की चेष्टा करेंगे, उन्हें गिरफ़्तार किया जायगा।'

लन्दन पहुँचने पर टागौर ने सबसे पहले जार्ज बर्नार्ड शा और प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक एवं चित्रकार निकोलस रोरिक से भेंट की। यहीं आपको अपने मित्र पियर्सन भी मिले जो कि पिछले ३ वर्ष से नहीं मिले थे। आक्सफ़ोर्ड में आपकी भेंट प्रसिद्ध कर्नल लारेंस से हुई। बातचीत के सिलसिले में कर्नल साहब ने रवीन्द्रनाथ को बताया कि उन्होंने (कर्नल साहब ने) अरबों के साथ जो-जो वायदे किये थे, ब्रिटिश सरकार ने उनमें से एक को भी पूरा नहीं किया। इसलिए अब वे फिर अरबों को मुँह दिखाने का भी साहस नहीं कर सकते।

इन दिनों भारत में सत्याग्रह आन्दोलन ज़ोरों पर था और पंजाब का हत्याकाण्ड हो चुका था। इस हत्याकांड के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने भारतमंत्री मिस्टर मांटेग्यू से और उपमंत्री मिस्टर सिंह से भेंट की और इन दोनों अधिकारियों से अनुरोध किया कि डायर को उसके अमानुषिक अत्याचारों के लिए उदाहरणीय दंड दिया जाय। पर जब रवीन्द्रनाथ ने पंजाब हत्याकाण्ड पर होनेवाले पार्लियामेण्ट के वाद-विवाद को सुना तब उनकी आँखें खुल गईं और उनकी समझ में ठीक-ठीक आगया कि असल में अँगरेज़ राज-नीतिज्ञ भारत के बारे में क्या राय रखते हैं। इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए लन्दन से अपने २२ जुलाई, १९२० के पत्र में एक मित्र को उन्होंने लिखा था—"पार्लियामेण्ट के दोनों हाउसों में डायर सम्बन्धी वाद-विवाद से यह स्पष्ट हो गया है कि इस देश के शासक-वर्ग का भारत के प्रति कैसा रुख है। इस वाद-विवाद से यह प्रकट होता है कि इन लोगों की सरकार के एजेण्ट हम पर कितना ही क्रोध प्रदर्शन करें, हमारे ऊपर कितने ही अत्याचार करें, पर इन लोगों को इससे क्षोभ नहीं होगा। यह मनोवृत्ति उस वर्ग की है जिसमें से भारत के लिए

गवर्नर चुने जाते हैं। राक्षसी कृत्यों के लिए निर्लज्जता-पूर्वक क्षमा क भाव, जो इन लोगों की वक्तृताओं में प्रकट किया गया है और जो इनके समाज में प्रतिध्वनित हो रहा है, वह भयंकर कुरूप है। गत ५० वर्ष से एँग्लो-इंडियन राज्य में अपनी तिरस्कारपूर्ण परिस्थिति का अनुभव हम प्रतिदिन अधिकाधिक कटुता के साथ करते आ रहे हैं, फिर भी हमें यह सोचकर सान्त्वना मिलती थी कि अँगरेज़ जाति न्यायप्रिय है और उसकी आत्मा अभी अधिकार के विष से मूर्च्छित नहीं हो गई है। पर हमारा अनुमान ग़लत था। विष का असर हमारे अनुमान से अधिक हो गया है।"

इसके बाद १३ अगस्त को रवीन्द्रनाथ पेरिस चले गये। पेरिस उन दिनों ख़ाली था और वहाँ ऐसा कोई गण्यमान व्यक्ति नहीं था जिससे भेंट करने की रवीन्द्र को इच्छा होती। फिर भी दर्शन शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफ़ेसर बर्गसन रवीन्द्रनाथ से मिलने आये और उनकी पुस्तक 'पर्सनालिटी' पढ़कर बहुत प्रभावित हुए। यहीं प्रोफ़ेसर सिल्वन लेवी से रवीन्द्रनाथ की भेंट हुई। उनकी प्रशंसा करते हुए रवीन्द्रनाथ अपने एक पत्र में लिखते हैं—"प्रोफ़ेसर लेवी महान् विद्वान् हैं, पर उनका हृदय उनकी विद्या और शिक्षा से भी बृहत्तर है। दर्शनशास्त्र उनकी आत्मा को शुष्क नहीं कर सका। उनके विद्यार्थी दर्शन से प्रेम करते हैं, वे प्रोफ़ेसर लेवी से प्रेम करते हैं। इन विद्वान् अध्यापकों से मिलकर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि मनुष्य को सत्य का ग्रहण केवल व्यक्तित्व के माध्यम से कराया जा सकता है। शान्ति-निकेतन में भी शिक्षा के इस मूलभूत सिद्धान्त से हम लाभ उठा सकते हैं। हमें यह जान लेना चाहिए कि वही शिक्षा दे सकता है, जो प्रेम कर सकता है। मनुष्यजाति के महान् शिक्षक मनुष्यजाति के महान् प्रेमी ही हुए हैं।"

फ़्रांस की प्रसिद्ध कवयित्री 'कान्ते-द-नोपले' ने भी रवीन्द्रनाथ से पेरिस में भेंट की। अपनी भेंट में उक्त कवयित्री ने 'गीताञ्जलि' के सम्बन्ध में एक बड़ी मनोरंजक बात बताई। उन्होंने कहा कि जर्मनी के साथ फ़्रांस ने जब युद्ध की घोषणा की थी तब मैं फ़्रांस के तत्कालीन

प्रधान मंत्री क्लिमेन्स्यू के पास थी। उक्त घोषणा को सुनकर हम लोगों के हृदयों को ऐसी चोट लगी कि बहुत देर तक हम लोग यह न सोच सके कि अब क्या करना चाहिए। अन्त में मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए 'गीताञ्जलि' का फ्रेंच-अनुवाद निकाल कर हमने उसमें से कई पद पढ़े।

इन्हीं दिनों रवीन्द्रनाथ को जर्मनी से निमंत्रण मिला। परन्तु उन दिनों फ़्रांस से जर्मनी जाने का मार्ग इतना ख़राब हो गया था कि उन्हें जर्मनी जाने का विचार स्थगित कर देना पड़ा और वे हालैण्ड से निमंत्रण पाकर वहाँ के लिए १८ सितम्बर की रात्रि को रवाना हो गये। हालैण्ड से बेलजियम होकर रवीन्द्रनाथ न्यूयार्क पहुँचे। न्यूयार्क में एक प्रेस-प्रतिनिधि से बातें करते हुए रवीन्द्रनाथ ने उसे गांधी जी द्वारा संचालित असहयोग आन्दोलन का महत्त्व बताया। इन्हीं दिनों महात्मा गांधी मौलाना शौकतअली के साथ शान्तिनिकेतन पहुँचे। असहयोग में भाग लेने की दृष्टि से शान्तिनिकेतन के अधिकारियों ने निश्चय किया कि इस वर्ष शान्तिनिकेतन के छात्र मैट्रिक की परीक्षा में सम्मिलित नहीं होंगे और वे सुरूल में रहकर ग्रामसुधार का कार्य करेंगे। शान्तिनिकेतन के छात्रों ने असहयोग आन्दोलन में इससे अधिक कोई क्रियात्मक सहयोग नहीं दिया। कारण, न्यूयार्क से ४ नवम्बर १९२० को असहयोग के प्रति शान्तिनिकेतन की नीति के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने लिखा था—

"शान्तिनिकेतन को राजनीति के झगड़ों से दूर रखना। मैं जानता हूँ कि इन दिनों भारत में राजनैतिक प्रश्न तेजी से बढ़ रहा है और उसके हस्तक्षेप को निवारण कर सकना कठिन है। फिर भी हमें ध्यान रखना चाहिए कि राजनीति हमारा ध्येय नहीं है। जहाँ मैं राजनैतिक हूँ, वहाँ मैं शान्तिनिकेतन से सम्बन्ध नहीं रखता। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि राजनीति में कोई दोष है, मै यही कहना चाहता हूँ कि वह हमारे आश्रम के लिए उपयुक्त नहीं है। क्योंकि 'शान्तिनिकेतन' नाम हमारे लिए कुछ अर्थ रखता है।"

न्यूयार्क से शिकागो और हेक्स होते हुए रवीन्द्रनाथ फिर योरप लौट गये। लन्दन में पूर्व और पश्चिम के साम्राज्य पर उनका

एक बहुत प्रभावशाली भाषण हुआ। यहाँ से वे पेरिस चले गये और वहीं प्रसिद्ध विद्वान् रोमारोलाँ से उनकी भेंट हुई। पेरिस के प्रसिद्ध जौहरी श्री श्रीवर राणा ने अपना प्रसिद्ध पुस्तकालय विश्वभारती के लिए प्रदान कर दिया।

पेरिस से रवीन्द्रनाथ स्विट्जरलैंड के जेनेवा, लूसर्न, ब्रेसिल और ज़ूरिच गये। जेनवा में डाक्टर क्लेपर्डे ने अपनी The Institute Jean-Jacques Rousseau संस्था की ओर से रवीन्द्रनाथ का स्वागत किया और वहाँ के संगीत-भवन में ३ मई को कवि का व्याख्यान हुआ। १० मई को ब्रेसिल विद्यालय ने रवीन्द्रनाथ का स्वागत किया। यहीं पर प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् विस्कर बेकरनेगिल (Vischer Wackernagel) तथा अन्य प्रोफ़ेसरों से उनकी भेंट हुई।

सात मई रवीन्द्रनाथ की ६१वीं वर्षगाँठ का दिन था। उस दिन कवि लूसर्न से ब्रेसिल की राह थे थे। कवि को उस दिन 'जर्मन इम्पीरियल रिपब्लिक' की ओर से बधाइयाँ तथा अभिवादन मिले। साथ ही एक बहुमूल्य भेंट भी मिली। यह भेंट थी वीमेर और गायटे के युग से लेकर उस समय तक की प्रकाशित समस्त साहित्यिक, दार्शनिक, और वैज्ञानिक जर्मन पुस्तकों के संगृहीत पुस्तकालय की। इस संग्रह में जर्मनी के तत्कालीन सभी विद्वानों ने योग दिया था, इनमें से हाप्टमॅन, बर्नस्ट्राफ़, जेकोबी, केसरलिंग और यूकन के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।

इस अपूर्व भेंट और समस्त बधाइयों का उत्तर देते हुए रवीन्द्रनाथ ने ब्रेसिल से भारत की ओर से जर्मनी को लिखा था--

"भारत के आध्यात्मिक और बौद्धिक सम्बन्ध को पश्चिम के साथ जोड़ने और परिवर्द्धित करने में जर्मनी ने सबसे अधिक काम किया है। और आज पूर्व के एक कवि कोउस ने जो आतिथ्य प्रदान किया है वह इस सम्बन्ध को और भी दृढ़तर बना देगा।"

जर्मन सरकार-द्वारा निमन्त्रण पाकर रवीन्द्रनाथ हेमबर्ग के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय को देखने गये। वहाँ उन्होंने मेयर फ्रेंक नामक प्रख्यात भाषा वैज्ञानिक के तत्त्वावधान में कई एक व्याख्यान दिये। विश्व-

विद्यालय के अधिकारियों पर रवीन्द्रनाथ की इस भेंट का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने एक भारतीय विद्वान् की अध्यक्षता में आधुनिक-भारत के लिए एक चेयर स्थापित करने का निश्चय कर लिया। हेमबर्ग में ही रवीन्द्रनाथ को प्रिंस ओटो बिस्मार्क का निमन्त्रण प्राप्त हुआ। यही नहीं प्रिंस महोदय स्वयं मोटरकार लेकर आ पहुँचे और रवीन्द्रनाथ को अपने साथ बिठाकर Friedrichruhe लिवा ले गये और उन्हें अपने महल दिखाये।

२० मई को कोपेनहेगेन स्टेशन पर रवीन्द्रनाथ का डेनमार्क की ओर से जो स्वागत-समारोह किया गया वह अब तक होनेवाले समस्त स्वागत-समारोहों से बढ़कर था। वहाँ विश्वविद्यालय में रवीन्द्रनाथ का भाषण हुआ। भाषण समाप्त होने के पश्चात् छात्रों और जनता के प्रधान-प्रधान व्यक्तियों ने एक वृत्त बनाया जिसके बीच में कवि को रखकर वे लोग डेनिश राष्ट्रीय गीत गाते हुए सड़क की सभी प्रधान सड़कों पर घूमें। इसके पश्चात् रवीन्द्रनाथ को होटल में पहुँचा दिया गया, जहाँ उनके ठहराने का प्रबन्ध किया गया था। होटल के बाहर १० बजे रात तक दर्शनों के लिए उत्सुक जनता की भीड़ लगी रही। अन्त को रवीन्द्रनाथ को बाहर बारजे पर खड़े होकर जनता को दर्शन देने पड़े, तब कहीं जाकर लोग हटे।

२४ मई को रवीन्द्रनाथ स्टाकहोल्म पहुँचे। स्टाकहोल्म वही नगर है जिसने सन् १९१२ में नोबेल-पुरस्कार देकर तरुण भारतवर्ष की नव-जाग्रत् प्रतिभा की क़द्र की थी, और अपनी गुणग्राहकता-द्वारा संसार को भारत की योग्यता का नये रूप में परिचय दिया था। स्टेशन पर स्वीडिश एकाडेमी की ओर से—यह वही संस्था है जो नोबेल-पुरस्कार देने योग्य विद्वान् का चुनाव करती है—उसके मंत्री कार्लफ़ील्ट ने जनता के कुछ प्रतिनिधियों और तीन राजकुमारियों के साथ उनका स्वागत किया। उसी दिन संध्या को रवीन्द्रनाथ कला-संग्रहालय के चौक में होनेवाले नागरिकों के उत्सव को देखने गये। वहाँ के विश्राम-भवन में कवि को उत्तरी योरप के निवासियों को देखने का सुयोग प्राप्त हुआ जो अपने देश की सैकड़ों वर्ष पुरानी

प्रथा के अनुसार आमोद-प्रमोद मना रहे थे। स्वीडन की देहाती नर-नारियों ने अपने देहाती गीतों-द्वारा अपने इस अपूर्व मेहमान का—जो एशिया के किसी दूरवर्त्ती देश के किसी कोने से उनके यहाँ आ गया था—स्वागत किया।

यह स्वागत हुआ जनता की ओर से, राज्याधिकारियों की ओर से भी रवीन्द्रनाथ के स्वागत का जो आयोजन किया गया वह अपने ढंग का निराला था। स्टाकहोल्म के प्रेस एसोसिएशन ने एक पब्लिक लेक्चर की आयोजना की और इस आयोजना के अनुसार कन्सर्टहाल में 'पूर्व और पश्चिम' विषय पर रवीन्द्रनाथ का प्रभावशाली भाषण हुआ। स्वीडन के राजा ने भारत की इस महान् आत्मा को अपने महल में भोजन के लिए आमंत्रित किया और दोनों के बीच अँगरेज़ी में बहुत देर तक वार्त्तालाप हुआ। इसके पश्चात् 'लीग आफ़ नेशन्स' के पहले प्रेसीडेंट ब्रांटिंग ने रवीन्द्रनाथ से भेंट की।

स्वीडिश एकाडेमी के प्रथानुसार नोबेल-पुरस्कार के प्रत्येक विजेता को एकाडेमी के सामने एक भाषण देना होता है। रवीन्द्रनाथ से भी इस सम्बन्ध में एक डिनर में भाषण देने की प्रार्थना की गई, जिसमें एकाडेमी के मेम्बरों के अतिरिक्त सौ से अधिक अन्य विद्वान् भी उपस्थित थे। इन्हीं लोगों में स्वेन हेडिन भी थे जिनका नाम भारत में काफ़ी प्रसिद्ध है। सेल्मा और माण्टेलस नामक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् भी वहाँ उपस्थित थे। प्रोफ़ेसर हालस्टार्म भी थे जो संस्कृत और बँगला के अच्छे पंडित थे और जिन्होंने रवीन्द्रनाथ की काव्य-कला पर एक पुस्तक भी लिखी थी। उप्साला के प्रधान धर्माधिकारी इस सभा के अध्यक्ष थे। अपने सभापति के भाषण में बिशप महोदय ने कहा—"साहित्य में नोबेल-पुरस्कार उसी व्यक्ति को दिये जाने का नियम है जिसके व्यक्ति में कलाकार और भविष्यवक्ता का समान रूप में मिश्रण हो। रवीन्द्रनाथ से बढ़कर इन शर्तों को और किसी ने आज तक पूरा नहीं किया।"

इसके पश्चात् उपसाला विश्वविद्यालय ने, जो योरप की प्राचीनतम यूनिवर्सिटियों में से है, रवीन्द्रनाथ का अभिनन्दन किया। २७

मई को इनके स्वागत में एक बृहत् जलूस निकाला गया जिसका नेतृत्व स्वयं प्रधान धर्माधिकारी कर रहे थे।

डेनमार्क से रवीन्द्रनाथ निमन्त्रण पाकर बर्लिन गये। वहाँ शिक्षा-मन्त्री डाक्टर हेर बैकर ने कवि के स्वागत में एक प्रीतिभोज दिया जिसमें भूतपूर्व प्रधान मन्त्री हारनैक तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मिलित थे। इसी समय बर्लिन विश्वविद्यालय के रैक्टर ने तार देकर कवि को विश्वविद्यालय में भाषण देने को आमंत्रित किया। विश्वविद्यालय का लेक्चर भवन इतना पर्याप्त बड़ा नहीं था कि उसमे लाखों व्यक्ति आ सकते। अत: विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने जनता की संख्या को नियंत्रित करने के विचार से टिकट वितरण का प्रबन्ध किया था। लेक्चर का समय २ जून को १२ बजे दिन नियत किया गया था।

पर भीड़ बहुत अधिक थी। १० बजे से ही लेक्चर-हाल,बरामदा, सीढ़ियाँ सब भर गई थीं, इनके सिवा हज़ारों मनुष्य जिन्हें अन्दर जगह न मिल सकी, सड़क पर ही खड़े थे। रेक्टर ने कवि का स्वागत किया और बाहर की भीड़ ने कवि को मार्ग दे दिया। पर सीढ़ियों पर भीड़ इतनी अधिक थी कि आध घंटा हो गया और कवि लेक्चर-हाल में, जो कि नीचे की मंज़िल में ही था, न पहुँच पाय। रेक्टर ने जनता से बार-बार अपील की पर कोई लाभ न हुआ। कोई अपना स्थान छोड़कर महाकवि के वचनामृत-पान से वञ्चित रह जाने को राज़ी न होता था। इसके सिवा पीछे से भीड़ का दबाव इतना अधिक था कि सीढ़ियों पर खड़ी जनता को किसी ओर निकल जाने का मार्ग ही नहीं था। विवश होकर रेक्टर ने धमकी दी कि यदि आप लोग नहीं हटेंगे तो विवश होकर मुझे पुलिस बुलानी पड़ेगी। इस घोषणा से जनता को बहुत क्षोभ हुआ। डाक्टर हार्नेक ने जनता से शान्त हो जाने की प्रार्थना की और जनता शान्त भी हो गई। एक और डाक्टर महोदय ने, जो प्रख्यात चिकित्सक थे और इस कारण जनता के अधिक विश्वास-भाजन भी, खड़े होकर कहा कि यदि कवि लेक्चर-हाल म न पहुँच पाये तो यह बर्लिन विश्वविद्यालय के लिए शर्म की बात होगी। हम लोग

जनता से चले जाने के लिए नहीं कह सकते क्योंकि जनता मेहमान है और विश्वविद्यालय के छात्र तथा प्रोफ़ेसर मेज़मान हैं। यह कहकर चिकित्सक महोदय स्वयं बाहर चलने लगे और उन्होंने छात्रों से अपील की कि वे लोग भी बाहर निकल चलें और इस प्रकार जनता के लिए जगह खाली कर दें। निकलते समय उक्त डाक्टर अपने दोनों हाथ ऊपर उठाये थे जिससे छात्र उन्हें जाते हुए देख सक। इस अपील का फल यह हुआ कि लगभग ६०० छात्र भी उनके साथ भीड़ में से बाहर निकल आये। इस घटना का कवि के हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने जाते हुए छात्रों को विश्वास दिलाया कि व्याख्यान समाप्त करने के बाद वे उन्हें एकान्त में भेंट करने का अवसर देंगे। कवि जिस समय भाषण समाप्त करके बाहर निकले, लगभग १४-१५ हज़ार आदमी बाहर सड़क पर उनकी प्रतीक्षा में खड़े थे। कवि का दर्शन पाकर वे लोग बड़े प्रसन्न हुए और सब ने करतलध्वनि से कवि का अभिवादन किया। जर्मनी की जनता में कवि की सर्वप्रियता का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि इन तीन सप्ताहों में ही 'साधना' के जर्मन अनुवाद के प्रथम संस्करण की पचास हज़ार प्रतियाँ और 'घरे बाहिरे' के जर्मन अनुवाद की डेढ़ लाख प्रतियाँ बिक गईं। जर्मनी ही नहीं, फ़्रांस में भी रवीन्द्रनाथ की फ़्रेंच में अनुवादित पुस्तकों की लाखों प्रतियाँ उन्हीं दो-तीन सप्ताह में बिक गई थीं।

३ जून को रवीन्द्रनाथ स्वयं जर्मन छात्रों से भेंट करने गये और उन्होंने उनकी सभा में एक छोटी-सी वक्तृता दी जिसमें कहा कि—
"जर्मनी के नवयुवको और नवयुवतियो, मैं यहाँ आप लोगों से मिलने के उद्देश्य से आया हूँ। मैं जानता हूँ कि आप लोग मेरे मित्र हैं और मुझे चाहते हैं। मेरे अपने देश में भी नवयुवक ही मुझे अधिक चाहते हैं। मैं भी नवयुवकों को ही, वे चाहे जहाँ हों, चाहे जिस देश के हों, अधिक चाहता और प्यार करता हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि नवयुवक ही संसार का पुनर्निमाण कर सकते हैं।"

बर्लिन के भारतीयों ने, जिनकी संख्या ३० के लगभग थी, रवीन्द्रनाथ को चाय के लिए आमंत्रित किया। रिपेरेशन्स कमेटी के प्रधान

डाक्टर रेथना ने भी भोज के लिए कवि को निमंत्रण दिया। प्रशियन लाइब्रेरी के रेकर्ड सेक्शन ने अपने डायरेक्टर को रवीन्द्रनाथ की सेवा में उनकी आवाज़ का रिकार्ड लेने के लिए भेजा। कवि ने अपने प्रसिद्ध गीत--'मोर वीणा उठे कोन सुरे बाजि, कोन नव चंचल छन्दे।' का रिकार्ड दिया।

जर्मन-संस्कृति के केन्द्र म्यूनिख़ में ६ जून को कवि का स्वागत किया गया। यहाँ कवि को पता चला कि एक ऐसी संस्था की यहाँ स्थापना की गई है जो बच्चों की देख-रेख करने के लिए धन संग्रह करती है। कवि ने भी इस संस्था को दस हज़ार मार्क दान दिये।

इसके पश्चात् ड्यूक आफ़ हेस ने फ़्रेंकफ़ोर्ट में कवि का स्वागत किया और उन्हें मोटर-द्वारा अपनी ज़मींदारी का भ्रमण कराया। कवि के स्वागत में वहाँ 'रवीन्द्र सप्ताह' मनाया गया जिसके अध्यक्ष चीन और बुद्ध-साहित्य के लेखकों के सुपरिचित प्रोफ़ेसर केसरलिंक थे। यहाँ विश्वविद्यालय में कवि के कई भाषण भी हुए।

आस्ट्रियन रिपब्लिक की ओर से कवि के स्वागत की धूमधाम से तैयारी की गई। वीयेना में अपूर्व समारोह हुआ।* १४ जून को कन्सर्ट हाल में जनता के समक्ष कवि का भाषण हुआ। बहुत अधिक भीड़

* वीयेना में रवीन्द्रनाथ के स्वागत के सम्बन्ध में 'लन्दन आवज़र्वर' के वीयेनास्थित संवाददाता ने २६ जून, १९२१ के अंक में लिखा था--

I cannot remember any living poet who has been received with such unanimous and profound reverence and praise by the Vienna Public and the Press or who has made such a deep impression by his personal appearance as this great Bengali writer and thinker.

अर्थात्--मुझे किसी एसे जीवित कवि का स्मरण नहीं है जिसका वीयेना की जनता ने ऐसी श्रद्धा से सार्वजनिक स्वागत किया हो और

थी। इसके बाद ज़ेकोस्लोवाकिया की रिपब्लिक के प्रेसीडेंट प्रोफ़ेसर मसारिक के निमन्त्रण पर कवि ज़ेकोस्लोवाकिया गये। प्रेग स्टेशन पर विदेशी आफ़िस के डाक्टर हायका और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् लेस्ने ने उनका स्वागत किया। वहाँ जर्मन और ज़ेक विश्वविद्यालयों में रवीन्द्रनाथ के कई भाषण हुए। ज़ेक विद्यार्थियों ने कवि को अपने राष्ट्रीय क्लब में विशेष रूप से आमंत्रित किया जहाँ कवि ने अपने कुछ बँगला गीत पढ़कर सुनाये। डाक्टर विण्टरनीज़ भी, जो रवीन्द्रनाथ के पुराने परिचितों में थे प्रेग में ही थे।

इस यात्रा में न केवल योरप के प्रत्येक देश ने रवीन्द्रनाथ का हृदय से स्वागत किया, सभी देशों के प्रख्यात विद्वानों से साहित्यिक विचार-विनिमय करने का भी कवि को अच्छा असवर मिला जिससे विदेशों के विद्वानों को पता लग गया कि अपने इस गये गुज़रे ज़माने में भी भारत ऐसे-ऐसे रत्न पैदा कर सकता है। रवीन्द्रनाथ को इस यात्रा म यह भी अनुभव हुआ कि योरप के विद्वानों की जानकारी आधुनिक भारत के विषय में बहुत कम है और वे लोग इस विषय में जानने के लिए बहुत उत्सुक हैं। इस भ्रमण से योरप के विद्वानों को यह भी ज्ञात हो गया है कि भारत की अध्ययनयोग्य सामग्री उसके दूरवर्त्ती भूतकाल तक ही सीमित नहीं है, आधुनिक भारत में भी बहुत कुछ ऐसा है जिसके अध्ययन से मानव-जाति का हित हो सकता है, और उसकी ज्ञानवृद्धि भी।

जिसे वीयेना की जनता और प्रेस की ओर से ऐसी प्रशंसा प्राप्त हुई हो। या जो अपने व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप डालने में समर्थ हुआ हो, जैसा कि यह महान् बंगाली कवि और दार्शनिक हुआ है।

अपराह्ण

फिर भारत में

सन् १९२१ की जुलाई में योरप-यात्रा समाप्त कर कवि भारत लौट आये। इस एक वर्ष के योरप-प्रवास ने उनके दृष्टिकोण को अधिक विस्तृत कर दिया था। उनकी आयु भी अब साठ वर्ष की हो चुकी थी। अपराह्ण की धवलता अब केशों से उतरकर विचारों में भी दिखाई पड़ने लगी थी। राष्ट्रीयता का स्थान सार्वभौमता ने ले लिया था। अब वे केवल भारत की नहीं, समस्त विश्व की दिव्य विभूति थे। भारत में इन दिनों सत्याग्रह आन्दोलन ज़ोर से चल रहा था पर रवीन्द्रनाथ इस आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे। योरप से जो पत्र उन्होंने श्री एण्ड्रूज़ के नाम भारत भेजे थे उनमें भी इस आन्दोलन के विरुद्ध विचार प्रकट किये थे। उन्होंने यह भी लिखा था कि जहाँ तक हो शान्तिनिकेतन को इस आन्दोलन की हवा न लगने दी जाय, क्योंकि शान्तिनिकेतन के नाम का भी कुछ अर्थ है जो हमारी दृष्टि में अधिक महत्त्व रखता है। परन्तु जनता को रवीन्द्रनाथ के इस परिवर्त्तन की सूचना नहीं मिली थी।

उसका अनुमान था कि स्वदेशी-आन्दोलन के प्रमुख कर्णधार और सरकार की ओर से होनेवाले अत्याचार के विरोध में 'सर' की उपाधि को ठुकरा देनवाले रवीन्द्रनाथ इस राष्ट्रीय यज्ञ में अवश्य सक्रिय योग देंगे। पर उसे निराशा हुई। गांधी जी द्वारा फुसलाये जाने और चारों ओर से दवाव पड़ने पर भी रवीन्द्रनाथ सत्याग्रह आन्दोलन में शामिल नहीं हुए। इन्हीं दिनों एक निबन्ध 'शिक्षार-मिलन' लिखकर उन्होंने अपना मन्तव्य प्रकट किया। इस निबन्ध को जनता न पसन्द नहीं किया। यहाँ तक कि प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने 'शिक्षार विरोध' शीर्षक लेखद्वारा उसका प्रतिवाद किया। इस पर कवि ने 'सत्येर आह्वान' शीर्षक एक लेख छपवाया जिसमें तत्कालीन असहयोग आन्दोलन को अव्यावहारिक एवं व्यर्थ बतलाया गया था। इस लेख का उत्तर महात्मा गांधी ने 'यंग-इंडिया' में एक लेख-द्वारा दिया था। रवीन्द्रनाथ का इा दिनों कथन यह था कि "मनुष्य-जाति में जो कुछ महान् और सत्य है वह भारत के सिंहद्वार पर खड़ा प्रवेशाज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा है। भारतीयों के लिए यह प्रश्न करना शोभाजनक नहीं है कि वह महान् और वह सत्य आयेंगे किस देश से! वे किसी देश से आयें, भारतीयों को उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए।" स्पष्ट है कि रवीन्द्रनाथ के ये शब्द भारतीयों की तत्कालीन मनोवृत्ति से मेल न खाते थे। फल यह हुआ कि भारत में उनकी सर्व-प्रियता बहुत कुछ कम हो गई और जनता ने समझा कि योरप में अभूत-पूर्व सम्मान पा जाने के कारण रवीन्द्रनाथ देशभक्ति से विमुख हो गये हैं और अपने को भारतपुत्र कहलाने की अपेक्षा विश्वनागरिक कहलाना अधिक पसन्द करने लगे हैं।

योरपयात्रा से रवीन्द्रनाथ के मन में एक धारणा दृढ़रूप से जम गई थी। उन्हें विश्वास था कि भारत के पास इस गये-गुज़रे ज़माने में भी ऐसा बहुत कुछ है जो वह योरप को दे सकता है और जिसे पाकर योरप भारत का चिर ऋणी हो जायगा। इसके बदले में भारत को योरप से वह सभी कुछ ले लेना और सीख लेना है जिससे भारत की भौतिक उन्नति में सहायता मिल सकती है। जापान, अमेरिका और योरप के समस्त देशों में भ्रमण करके अपनी कवितायें सुनाकर और

भारत की प्राचीन-संस्कृति और सभ्यता के आदर्शों के सम्बन्ध म भाषण देकर वे यह जान चुके थे कि विज्ञान के पीछे पागल रहनेवाले इन देशों की जनता आज भी आध्यात्मिक पिपासा से पीड़ित है और वह इसके लिए भारत की ओर देख रही है जो युग के आरम्भ से संसार का आध्यात्मिक गुरु रहा है। 'पूर्व और पश्चिम' पर कवि ने जो महत्त्वपूर्ण भाषण विदेशों में दिये थे उन्हें वहाँ की जनता ने बड़े मनोयोग से सुना था और व्याख्यान की समाप्ति पर कवि से अनेक आध्यात्मिक विषयों पर प्रश्नोत्तर भी किये थे। कवि की सम्मति से अध्यात्मवाद ही वह सुदृढ़ और चिरस्थायी सूत्र है जो पूर्व और पश्चिम में सामंजस्य स्थापित करके दोनों को मानवता के समानस्तर पर बिठा सकता है। पूर्व के सांस्कृतिक दूत बनकर वे सभी योरपीय देशों में भ्रमण कर आये थे और उन्हें यह अनुभव हो गया था कि पूर्व और पश्चिम को निकट लाने की ज़िम्मेदारी सबसे अधिक उन्हीं पर है। योरप से लिखे गये पत्रों में भी ये विचार उन्होंने कई बार प्रकट किये थे। उन्होंने लिखा था कि यह काम शान्तिनिकेतन ही कर सकता है और इसके लिए उसके स्वरूप में कुछ परिवर्त्तन करके हमें उसे ऐसा बना देना होगा कि वह समस्त विश्व का सांस्कृतिक केन्द्र बन जाय और सभी देशों के छात्र वहाँ आकर समान मानवता के धरातल पर बैठकर परस्पर विचार-विनिमय और सांस्कृतिक आदान-प्रदान कर सकें। इसी विचार को साकार रूप देने के लिए शान्तिनिकेतन को 'विश्वभारती' का रूप दिया गया जिसका प्रधान मोटो (आदर्शवाक्य) है 'यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्—' जिस एक स्थान पर समस्त संसार आश्रय पा सकता है। शान्तिनिकेतन के विश्वभारती बन जाने पर विदेशी छात्रों का भी उसकी ओर आकर्षण हुआ। अब वह अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय हो गया। योरप के अनेक देशों से आ-आकर छात्र विश्वभारती में प्रविष्ट होने लगे और उनके सम्पर्क मे रहने से भारतीय छात्रों को भी विश्व की विभिन्न संस्कृतियों की जानकारी होने लगी।

शान्तिनिकेतन और विश्वभारती रवीन्द्रनाथ के जीवन के चरम-ध्येय थे। वे इन्ह कभी भूलते न थे। अपने योरप-प्रवास के दिनों में भी वे इनके लिए बराबर चिन्तित रहते थे। जिन दिनों वे शान्तिनिकेतन

में रहते, उसके सभी कार्यों में बराबर भाग लिया करते। छोटे-छोटे बच्चों को खेल-खेल में पढ़ाने में वे अपूर्व कुशल थे। बच्चों के साथ उनका हेलमेल देखने योग्य था। इस हेलमेल में उन्हें बाल-स्वभाव की अभिज्ञता प्रदान की थी।

'शिशुभोलानाथ' में इस अभिज्ञता का सर्वप्रथम प्रदर्शन हुआ है। इसकी कवितायें 'शिशु' की रचनाओं जैसी ही हैं, हाँ इनमें गंभीरता कुछ अधिक है। एक बच्चा ताड़ के वृक्ष को देखता है जिसके पत्ते सदैव चंचल रहते हैं। बच्चा उस वृक्ष को एक प्रकार का पक्षी समझता है जो उड़ जाने के लिए पंख फड़फड़ा रहा है, पर उड़ नहीं पाता। हवा रुक जाती है; ताड़ के पत्ते भी स्थिर हो जाते हैं। बच्चे के विचार भूमि पर लौट आते हैं और उसे पृथ्वी के कोने में अपना स्थान फिर सुन्दर दिखाई देने लगता है। एक दूसरा बच्चा अपनी माँ से पूछता है कि आकाश में जो ये अजब-अजब तारे दिखाई देते हैं, ये क्या हैं? शायद इनके पैर नहीं हैं, इसी कारण ये हमारी पृथ्वी तक नहीं आ पाते। पर बच्चे के भी पंख नहीं हैं, अन्यथा वही उड़कर तारों के पास पहुँच जाता। इन तारों के साथ दिन भर चबूतरे पर खेलने और फिर रात को खाट पर पड़कर सो जाने को मिलता तो कैसा आनन्द आता। एक तीसरा बच्चा अपने चाचा के कथनानुसार समझता है कि समय आने पर प्रत्येक मनुष्य स्वर्ग के सबसे निकट के स्थान में चला जाता है। यद्यपि चाची को इस बात पर विश्वास नहीं है, फिर भी उस बच्चे का पिता, जैसा कि उसे पूरा निश्चय है, इसी मार्ग से गया है। बच्चा चाहता है कि वह अपनी बाहें माँ के कण्ठ में डाले रात भर सोता रहे और एक क्षण के लिए भी माँ के कण्ठ से पृथक् न हो। उसे यह विश्वास नहीं होता कि स्वर्ग पृथ्वी से अधिक सुन्दर हो सकता है। वह स्वर्ग जाना नहीं चाहता। वह पृथ्वी पर ही अपनी चाची के घर में ही रहना पसन्द करता है।

मुक्तधारा

जनवरी, १९२२ में कवि की प्रख्यात कृति 'मुक्तधारा' का प्रकाशन हुआ। इस पर तत्कालीन असहयोग आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट-

परिलक्षित होता है। भारत की राजनीति में उस समय से अब तक कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ है, अतः यह कहा जा सकता है कि 'मुक्तधारा' अब तक की भारतीय राजनैतिक-विचारधारा का प्रतिबिम्ब है।

इसका कथानक इस प्रकार है—

रणजित् उत्तरकूट का राजा है और विभूतिक उसका इंजीनियर। रणजित् विभूतिक को उस मुक्तधारा का बाँध बाँधने का कार्यभार सौंपता है जो शिवतराइ नामक भूमिभाग में जल पहुँचाती है। उद्देश्य है शिवतराइ के अबाध्य प्रजाजन को वश में लाना। इंजीनियर इस कार्य में सफल हो जाता है और उसके बनाये हुए बाँध से मुक्तधारा का जल निरुद्ध हो जाता है। जलावरोध से कष्ट पीड़ित जनता धनंजय वैरागी के नेतृत्व में सत्याग्रह करती है। देश में दुर्भिक्ष पड़ जाने से प्रजा लगान देने से इनकार कर देती है। राजकुमार अभिजित् को प्रजा का नियंत्रण करने के लिए भेजा जाता है। अभिजित् स्नेहपूर्वक हितकार्यों को करता हुआ प्रजापक्ष को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ होता है। वह उत्तर दिशा के नन्दीगढ़ को भंग कर देता है जिससे शिवतराइ की प्रजा को वाणिज्य की सुविधा हो जाती है, पर इससे उत्तरकूट को हानि पहुँचती है। उत्तरकूट के निवासियों में स्वदेश और स्वजाति का प्रबल अभिमान है। उसी स्वदेशप्रेम और स्वदेशाभिमान के कारण वे शिवतराइ की जनता का सर्वनाश करने पर तुल जाते हैं। वे राजसभा में आन्दोलन करके राजकुमार अभिजित् को शिवतराइ के शासनभार से पृथक् करके उत्तरकूट में बुला लेते हैं और राजा के साले को वहाँ का नया शासक बनाकर भेजते हैं। उसके अत्याचारों से दो ही दिन में प्रजा परेशान हो जाती है। एक तो दुर्भिक्ष और उस पर शासक का अत्याचार! पर शिवतराइ का क्षुब्ध-क्रन्दन मुक्तधारा के बाँध के गर्जन में डूब जाता है। शिवतराइ के निवासियों के दुःख से उत्तरकूट के निवासियों को प्रसन्नता होती है। उन्हें मुक्तधारा के बाँध पर गर्व है। पर इस बाँध को बाँधने में न जाने कितने मजदूरों ने श्रम किया और धारा की प्रबल चपेट में आकर कितने युवकों के प्राण गये! उनका क्षीण क्रन्दन उत्सव के मध्य में भी सुनाई देता है।

'सुमन, हमारा सुमन' कहती हुई सुमन की माँ विलाप करती है। पागल बटूक सभी को सावधान करता हुआ कहता फिरता है—'सावधान, भाई, सावधान! उधर से न जाना। उधर बलि चढ़ती है! नरबलि!' इधर राजकुमार अभिजित् अपने चाचा विश्वजित् से सुनता है कि वह राजवंश से संबंधित नहीं है। राजा ने उसे मुक्तधारा के निकट पड़ा पाया था। वहीं से उठा लाकर उसका पुत्रस्नेह से पालन किया गया है। वह राजकुल का नहीं है; वह व्यक्ति-विशेष का नहीं है। वह सबका है। उसके लिए कोई बन्धन नहीं है। उसका कोई अपना घर नहीं, वह सभी देशों का है, सभी जातियों का है। उत्तरकूट के उत्सव से उसका कुछ लगाव नहीं क्योंकि वहाँ पर मानवात्मा पीड़ित और लाञ्छित हो रही है। पुत्र-विरहिता माता के क्रन्दन ने, बटुक के प्रलाप ने, उसे अपवित्र कर दिया है। वह इंजीनियर से अनुरोध करता है कि वह शिवतराइ के लोगों का सर्वनाश न करे! पर विज्ञान-गर्व से गर्वित, ऐश्वर्य से उन्मत्त और स्वदेशाभिमान से अन्ध विभूतिक इसे सुनना नहीं चाहता। राजाज्ञा से अभिजित् बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया जाता है। विश्वजित् राजकुमार को बन्धन-मुक्त करा के मोहनगढ़ ले जाना चाहता है, पर युवराज राज़ी नहीं होता। अकस्मात कारागार में आग लग जाती है और राजकुमार वहाँ से निकल भागता है। इसके पश्चात् सुनने में आता है कि शिवतराइ का बाँध टूट गया; मुक्तधारा बह निकली; जिस बृहत्काय एँजिन के बल पर वह बाँध बनाया गया था वह भी नष्ट कर दिया गया; पर इसके साथ ही राजकुमार भी धारा में पड़कर अदृश्य हो गया।

इस प्रकार इस नाटक-द्वारा कवि ने मशीनरी की उपयोगिता का प्रश्न हल करने का प्रयास किया है। महात्मा गांधी मशीनरी के घोर विरोधी हैं, पर रवीन्द्रनाथ चाहते थे कि मशीनरी का उपयोग उसी अवस्था तक होना चाहिए जहाँ तक वह जनता के परिश्रम को कम करके उसके लाभों और सुखों को बढ़ा सकें। पर जो मशीन जनता को दुःख पहुँचाने और उसके हितों को नष्ट करने के लिए प्रयोग की जाय उसका न रहना ही अच्छा है। क्योंकि इस प्रकार की मशीन अपने उद्देश्य की

पूर्ति नहीं करती और जनता पर विपद् लाती है तथा कुछ थोड़े से लोगों में स्वार्थ-प्रियता की वृद्धि करती है। अभिप्राय यह है कि जो यांत्रिकता मानवता को अतिक्रम कर जाती है, रवीन्द्रनाथ उसी के विरोधी हैं। प्रभु जाति का दौरात्म्य और पराधीन जाति की दुःख-व्यथायें भी इसमें सुन्दरता से चित्रित हुई हैं। इस प्रकार 'मुक्तधारा' में भारत की वर्त्तमान राजनैतिक परिस्थिति का सच्चा प्रतिबिंब देखने को मिल जाता है।

इस बार के योरप भ्रमण में कवि ने विभिन्न विश्व-विद्यालयों में जो भाषण दिये थे उनका संग्रह 'क्रियेटिव यूनिटी' के नाम से सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ। इन व्याख्यानों से हमें पता लगता है कि उन सामयिक समस्याओं पर, जो आज मानवजाति के मस्तिष्क को आन्दोलित कर रही हैं, और जिनका सर्वमान्य हल निकाल सकने के अयोग्य होने के कारण मानवजाति आज विनाश के मार्ग पर चलने को उतारू हो गई है, रवीन्द्रनाथ के व्यक्तिगत विचार क्या थे। इन व्याख्यानों के ध्यानपूर्वक अध्ययन से रवीन्द्रनाथ के दृष्टिकोण को समझना सरल हो जाता है। कवि के मतानुसार विश्व असीम का आत्म-प्रकाशन है। नवोदित दिवस के आनंद में गाये जानेवाला प्रभात-संगीत और जीवन-संग्राम की विजय-यात्रा में थके हुए यात्री के लिए नवजीवन का सन्देश देनेवाले संध्या के तारों के सन्देश मनुष्य को अपने सत्य और अपनी अनंतता का अनुभव करने को विवश कर देते हैं। मानव में अन्तर्हित दैवी शक्तियों का स्मरण दिलाते हुए वे उसे विश्व-विकास में ईश्वर के साथ सहयोग करने को प्ररित करते हैं। मनुष्य का आदर्श सौन्दर्य का निर्माण होना चाहिए। हमारे प्राचीन महर्षियों ने विश्व-बंधुत्व को मानव-जीवन का चरमसत्य निर्धारित करके प्रशंसनीय कार्य किया है। उनका विश्वास था कि इस सत्य का ज्ञान मनुष्य का अनन्त के साथ समन्वय करा देता है। इस ज्ञान से मनुष्य को परमार्थ की प्राप्ति हो जाती है।

एक व्याख्यान में रवीन्द्रनाथ ने यह भी शिकायत की है कि जो पश्चिम के यात्री भारत जाते हैं वे भद्दे उदाहरणों को चुनते हैं और उनसे

ग़लत नतीजे निकालते हैं। वे पूर्व के विरुद्ध दूषित उदाहरणों का प्रयोग करते हैं। दूसरा दोष इन यात्रियों में यह होता है कि वे देश में भ्रमण तो करते हैं, पर दश निवासियों से सम्पर्क नहीं रखते। फल यह होता है कि दोनों पक्षों में एक-दूसरे के प्रति मिथ्या धारणाएँ बनी रहती हैं। अभी तक वास्तविक पूर्व की खोज नहीं हो पाई है, क्योंकि पश्चिम उसे समझ सकने में असमर्थ हैं। पश्चिम के जो यात्री पूर्व का भ्रमण करने जाते हैं वे अपने हृदय में अहंभाव और आर्थिक तथा राज-नैतिक पैशाचिकता भर कर ले जाते हैं। आज—जब कि महायुद्ध का अंत हो चुका है, पूर्व आश्चर्य के साथ पश्चिम से पूछता है कि क्या पश्चिम का यह गौरव सचमुच महान् है? किपलिंग के प्रख्यात शब्द कि पूर्व और पश्चिम कभी नहीं मिल सकते, आज केवल इसी लिए सत्य कहे जा सकते हैं क्योंकि पूर्व और पश्चिम में संपर्क बढ़ने के कोई लक्षण नहीं दिखाई देते। कारण स्पष्ट है। पश्चिम ने पूर्व को अपनी मनुष्यता नहीं भेजी, मशीनें भेजीं। आज किपलिंग के शब्दों को बदलकर हम इस प्रकार कहना होगा—'मनुष्य मनुष्य है और मशीन मशीन है। ये दोनों कभी मिल नहीं सकते।'

एक व्याख्यान में कवि पुराने युग की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—'वह युग सचमुच महत्त्वपूर्ण था जब मानव की आध्यात्मिक देन की क़द्र की जाती थी और उसके लिए साधन प्रस्तुत किये जाते थे।' एक व्याख्यान में वे सम्पत्ति के लिए दौड़नेवाली जातियों की निन्दा करते हैं और व्यक्तियों के उन संगठित आयोजनों के प्रति घृणा प्रदर्शित करते हैं जिनका उद्देश्य दूसरी जातियों को लूटना या दूहना होता है। एक व्याख्यान में वे अपने देशवासियों से प्रश्न करते हैं कि 'तुम लोग सच्ची स्वाधीनता चाहते हो या केवल बाहरी सुख-चैन का जीवन! क्या तुम लोग अपने बच्चों के मस्तिष्कों को ऐसा बना देना चाहते हो कि वे अन्यायपूर्ण दमन को सहन ही न कर सकें? यदि ऐसा चाहते हो तो तुम्हें जान लेना चाहिए कि असली स्वाधीनता अभ्यन्तर से आती है, कोई बाहरी आदमी उसे नहीं देता। राष्ट्र या 'नेशन' के विषय में रवीन्द्रनाथ की राय यह है कि 'राष्ट्र' शक्तियों के संगठन का

नाम है। अतएव एक जाति की जीवित भावनाओं में और एक संगठित जाति के सिद्धान्तों में अन्तर होता है। आज के यातायात के साधन पूर्व को पश्चिम के निकट सम्पर्क में ला रहे हैं, अत: एशिया म जागत्ति की एक नई लहर फैल रही है। आज पूर्व के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह पश्चिम पर अपने प्रभाव को प्रकट करे और उससे यह मनवा ले कि पूर्व का भी कोई स्थान इस सांस्कृतिक युग में निश्चित हो जाना चाहिए जिसके बिना संसार का कल्याण नहीं हो सकता। विचारशीलों को निष्पक्ष होकर इस प्रश्न को सुलझाना चाहिए। यहाँ किसी के स्वार्थों में संघर्ष होने की आवश्यकता नहीं है। संसार के सभी विद्वानों को अपने अपने रहस्य प्रकट कर देने चाहिए। कलाकारों को सौन्दर्य की सृष्टि करनी चाहिए और धर्मात्माओं को सत्य की खोज के लिए जीवन अर्पण कर देना चाहिए। ये प्रयत्न देशगत न होकर समस्त संसार की हित-कामना से होने चाहिए।

सन् १९१९ में कवि ने 'लिपिका' की रचना की, जो प्रकाशित सन् १९२२ में हुई। इस गद्य-काव्य में छोटे-छोटे ३८ शब्द-चित्र हैं। 'पुनश्च' की भूमिका म कवि ने लिखा है कि अँग्रेज़ी-साहित्य के प्रभाव और अपने परममित्र श्री सत्येन्द्रनाथदत्त की प्रेरणा से उन्होंने गद्य-काव्य लिखने का विचार बहुत दिन पूर्व किया था, पर श्री सत्येन्द्रनाथदत्त की असामयिक मृत्यु के कारण वह विचार कार्य-रूप में परिणत न हो सका। 'लिपिका' उसी प्रयास का प्रथम फल है। इसकी भाषा और शैली अत्यन्त परिमाजित और प्रांजल है। लेखनी पर कवि का ऐसा संयम है कि कहीं से एक शब्द भी निकाल देने या बदल देने की गुंजायश नहीं है। शब्द-विन्यास ऐसा विलक्षण है कि पढ़ते समय दशकुमार और कादंबरी के स्वरताल पूर्ण शब्द-विन्यास का मज़ा आता है, यद्यपि इसकी भाषा में स्वाभाविकता और सरलता अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

परन्तु इन सभी नवीनताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण एक नवीनता और है जिसकी ओर पाठक का ध्यान 'लिपिका' पढ़ते समय अवश्य जाता है। वह यह ह कि इस संग्रह के शब्द-चित्र कवि की परिणतावस्था की ओर

इंगित करने लगे हैं। अब रवीन्द्रनाथ पीड़ित सहृदय मात्र रह गये हैं। वे अब रूप और अरूप के सौन्दर्य में डुबकी लगानेवाले कवि नहीं रहे। वह चिर अतृप्ति और नव-नवरसों में संचार करने की प्रवृत्ति अब नहीं है। अब वे सभी वस्तुओं को मार्ग के एक किनारे खड़े होकर देखते हैं और उनके संबंध में अपनी राय दृष्टा-सुलभ ढंग से प्रकट करते हैं। दुःख और वेदना का स्थान अब अपार शान्ति ने ले लिया है। गत जीवन की कुछ स्मृतियाँ ऐसी अवश्य हैं जिनकी गहरी छाप कवि के हृदय पर अब भी दिखाई देती है। प्रथम रचना 'पाये-चलार पथ' में कवि पथ से उन सब पथिकों का जीवन-वृत्त सुनना चाहता है जो अनेक भावनाएँ अनेक इच्छाएँ लिए हुए उस पर चलते रहे हैं और जिनकी भावनाओं और इच्छाओं को पथ ने अपनी धूलि-रेखाओं में संक्षिप्त करके अंकित कर रक्खा है।' कवि अब पथ को मौन रहने देना नहीं चाहता। वह चाहता है कि पथ उन कथाओं को धूलि-बंधन में बाँधकर चुपचाप पड़ा रहने न दे, वह कवि के कान में सब सुना दे'—

ओगो पाये चलार पथ, अनक कालेर अनेक कथा के तोमार धूलि बन्धने बेंधे नीरव क' रे रेखोना। आमि तोमार धूलाये कान पेते आछि, आमाके काने-काने बल।"

'पुरोनो बाड़ि' और 'गलि' में भी पूर्व-स्मतियों की सकरुण छाया दिखाई पड़ती है। 'प्रश्न' में वेदना की यही स्मृति साकार हो उठी है। —"बाप श्मशान से लौट आता है। उसका सात वर्ष का बच्चा गले में सोने का तावीज़ पहने गली के ऊपर वाले जँगले को पकड़े अकेला खड़ा है। वह क्या सोच रहा है, उसे स्वयं ज्ञात नहीं है। प्रातःकाल का सूर्य सामने के मकान के नीम-वृक्ष की डालों के बीच से दिखाई पड़ रहा है। आम वाला 'कच्चे आम लो' की आवाज़ लगा कर लौट गया है। बाबा ने आकर बच्चे को गोद में उठा लिया। बच्चे ने पूछा—'माँ कहाँ है ?"

बाप ने ऊपर की ओर मुँह उठाकर कह दिया—"स्वर्ग में।"

उस रात्रि को शोक-सन्तप्त पिता सोते-सोते क्षण-क्षण में रो पड़ता है। द्वार पर लालटेन का मन्द प्रकाश है। दीवाल पर लगी घड़ी टिक-टिक कर रही है।

सामने खुली छत है। किसी समय आकर बच्चा वहीं खड़ा हो गया।

चारों ओर प्रकाश रहित घर दैत्यपुरी के प्रहरियों के समान खड़े-खड़े ऊँघ रहे हैं।

नंगे बदन बच्चा खड़ा आकाश की ओर देख रहा है। उसका दिशा ज्ञान से रहित मन किससे पूछता कि स्वर्ग का मार्ग किधर से है?

आकाश से उसे कोई उत्तर नहीं मिलता।

केवल तारिकाओं में गूँगे अंधकार की आँखों का जल है।

'विदूषक' में करुण अनुभूति का स्वर विदूषक के शब्दों से फूट पड़ा है। काञ्ची का राजा कर्णाट को जीतकर लौटा है। चन्दन, हाथीदाँत और स्वर्ण से हाथी बोझिल हो रहे हैं। मार्ग में वलेश्वरी का मन्दिर मिलता है। राजा देवी को बलि चढ़ाता है और पूजा करके शरीर में रक्तवस्त्र, गले में जयमाल धारणकर मस्तक पर लाल तिलक लगाकर लौटता है—साथ में हैं मंत्री और विदूषक। मार्ग में कुछ लड़के पुतले बनाकर युद्ध का खेल खेल रहे हैं। ये लोग उनसे प्रश्न करते हैं कि यह युद्ध किस-किस का है। गर्व से छाती फुलाकर लड़के कहते हैं--"काञ्ची और कर्णाट का।" फिर प्रश्न होता है—"विजय किसकी हुई?"

उत्तर मिलता है--"कर्णाट की जीत, काञ्ची की हार।"

यह सुनकर मंत्री का मुख गंभीर हो जाता है, राजा के नेत्र रक्त-वर्ण हो जाते हैं, पर विदूषक हो, हो, करके हँस पड़ता है। राजा सेनापति को आदेश देता है कि इन लड़कों को वृक्षों से बाँधकर बेंत लगाय जायँ। उनके माँ-बाप यह सुनकर दौड़े आते हैं और प्रार्थना करते हैं कि यह तो लड़कों का खेल है, इनको क्षमा कर दिया जाय। इस पर राजा सेनापति को आज्ञा देता है कि इस ग्राम के निवासियों को ऐसी शिक्षा दो जो काञ्ची के राजा को किसी दिन भूलें न। यह कहकर वह शिविर में लौट जाता है।

संध्या समय सेनापति राजा के सम्मुख खड़ा होकर निवेदन करता है कि 'महाराज शृगालों और कूकुरों को छोड़कर इस ग्राम में और किसी का शब्द अब नहीं सुन पड़ता।'

मंत्री कहता है—"महाराज की मानरक्षा हो गई।" पुरोहित कहता है—"विश्वेश्वरी ने महाराज की सहायता की"। पर विदूषक राजा से विदाई की प्रार्थना करता है और कहता है कि—"मैं मार नहीं सकता, काट नहीं सकता। ईश्वर की कृपा से मैं केवल हँस सकता हूँ। महाराज की सभा में रहकर शायद मैं हँसना भूल जाऊँगा।"

'तोता काहिनी' में सम्भवतः कवि का व्यंग्य उन सभ्य देशों के प्रति है जो असभ्य देशों को अपने नये ढंग से सभ्य बनाना चाहते हैं। तोता मूर्ख है, क्योंकि वह पंख फड़फड़ाता और दाना न मिलने पर टाँय-टाँय करता है। उसे सभ्य बनाने के लिए योजना तैयार होती है। सोने का पींजड़ा बनता है। लाखों रुपये कारीगरों को मिलते हैं। उसकी रक्षा के लिए उच्च-वेतनभोगी नौकर रक्खे जाते हैं। बड़-बड़े पंडित तोते को पढ़ाने को नियुक्त होते हैं। लाखों रुपये की पुस्तकें एकत्र की जाती हैं। पंडित लोग उसे सब प्रकार से शिक्षित और सभ्य बनाने का उपक्रम करते हैं। अन्त में राजा तोते को अपने पास मँगाकर देखना चाहता है कि वह सभ्य हुआ या नहीं। पक्षी लाया जाता है। साथ में कोतवाल आता है, सिपाही आते हैं, सवार सेना आती है। राजा तोते को छेड़ता है पर वह हाँ—हूँ कुछ नहीं करता। केवल उसके पेट में भरे हुए पुस्तकों के सूखे पत्र खस्खस्-गज्गज् का शब्द करने लगते हैं।

ठीक इसी प्रकार का मर्मन्तुद व्यंग्य 'घोड़ा' में है। सृष्टि का कार्य समाप्त हो जाने पर जब छुट्टी का घंटा बजा तब ब्रह्मा के मन में एक नया भाव उदय हुआ। उन्होंने भाण्डारी को बुलाकर पूछा—"भाण्डारी जी, हमारे कोष में से थोड़े-थोड़े पंच महाभूत ले आओ। एक नया जीव बनाऊँगा?" भाण्डारी ने उत्तर दिया—"पितामह, आपने जिस समय हाथी, ह्वेल, अजगर, सिंह और व्याघ्र बनाने का निश्चय किया था उस समय आपने व्यय-अपव्यय का कुछ भी ध्यान न रक्खा। जितने भारी और कठोर-जाति के भूत थे वे सब समाप्त हो गये। क्षिति, जल और अग्नि बहुत थोड़े बचे हैं। हाँ, आकाश और वायु आप जितने चाहें ले सकते हैं।

ब्रह्मा जी कुछ समय तक अपनी चार जोड़ा मूँछों पर ताव देते हुए

बैठे विचार करते रहे, फिर बोले—"अच्छा, भाण्डार में जो हो, वही ले आओ, देखा जायगा।"

इस बार प्राणी की रचना करते समय ब्रह्मा ने पृथ्वी, जल और अग्नि को बहुत कम व्यय किया। उसे न सींग दिये, न नख। दाँत भी ऐसे दिये जो केवल चबाने के काम के थे, उनसे काटना संभव नहीं था। अग्नि का उपयोग ऐसी बुद्धिमत्ता से किया गया कि वह प्राणी युद्ध के काम का बन गया। वह प्राणी था घोड़ा। वायु और आकाश-तत्त्वों का उसकी रचना में आश्चर्यजनक प्रचुरता से व्यय किया गया था। अतः वह सदैव वायु के वेग को हराने का और आकाश में उड़ने का प्रयत्न किया करता। अन्य प्राणी दौड़ने का कारण उपस्थित होने पर ही दौड़ते पर वह बिना कारण दौड़ा करता। वह न किसी का पीछा करना चाहता था, न किसी को मारना, केवल दौड़ना चाहता था। वह चाहता था दौड़ते-दौड़ते विन्दु हो जाना, सूक्ष्म हो जाना, छाया बन जाना।

ब्रह्मा अपनी इस रचना से बहुत प्रसन्न हुए। और प्राणियों के रहने को तो उन्होंने वन, गुहा आदि स्थान निश्चित किये पर घोड़े को खुले मैदान में छोड़ दिया। वहीं पास में रहता था मनुष्य। उसे वस्तुओं के संग्रह का बड़ा चाव था। वह तब तक सन्तुष्ट नहीं होता जब तक संगृहीत वस्तुओं का भार उसके लिए दुर्वह न हो उठे। घोड़े को मैदान में चरते-दौड़ते देखकर उसने सोचा कि यदि इसे किसी प्रकार बाँध सकूँ तो बाज़ार जाने-आने में बड़ी सुविधा हो जाय। अन्ततः उसने फन्दा बनाया और उसमें घोड़ा फँस गया। उसके पीठ पर ज़ीन रक्खा गया, मुँह में कटीली लगाम लगाई गई, चाबुक और एँड़ भी घोड़े को यह स्मरण कराने के लिए रक्खे गये कि स्वतन्त्र इच्छा रखना उसके लिए अपराध है। ऊँची दीवालों वा घुड़साल बनाकर उसमें उसे रक्खा गया। सिंह के लिए वन था, वह वहीं रहता था, चीते के लिए माँद थी, वह अपनी माँद में ही रहा, पर घोड़ा मैदान से लाकर घुड़साल में बन्द कर दिया गया। उसके पवन और आकाश तत्त्व बार-बार इस बन्धन से निकल भागने की इच्छा करते, पर बंधन दृढ़ था। जब घोड़े को अनुभव हुआ कि यह बंधन उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं है तब वह

लातें फेंकने लगा। इससे थोड़ा पलस्तर गिर पड़ा, और कुछ हानि नहीं हुई। केवल घोड़े की टापों को चोट लगी। यह देखकर मनुष्य को बड़ा खेद हुआ। उसने कहा—"कैसा अकृतज्ञ जीव है यह? मैं इसे घास-पानी देता हूँ, इसकी निगरानी के लिए मोटी-मोटी तनख्वाहों के नौकर रखता हूँ, फिर भी यह सन्तुष्ट नहीं होता।" फल यह हुआ कि घोड़े पर डंडों की इतनी वर्षा की गई कि वह न केवल लातें चलाना भूल गया, वह बहुत कुछ नम्र और आज्ञाकारी भी हो गया। मनुष्य ने अपने मित्रों को बुलाकर कहा—"यह जानवर जितना सीधा और हमारा भक्त है, उतना और भी कोई है?" मित्रों ने उत्तर दिया—"बेशक, यह जल की तरह, धर्म की तरह शीतल है।"

घोड़े के न तो सींग ही थे, न पंजे और न काम के योग्य दाँत ही! जब शून्य में या दीवाल की ओर दुलत्ती झाड़ना भी बन्द कर दिया गया तब उसके पास अपने मानसिक क्षोभ को प्रकाश करने का केवल एक साधन रह गया, 'आकाश की ओर मुंह उठाकर हिन हिनाना।' पर इससे मनुष्य की सुख-निद्रा में विघ्न पड़ता था। साथ ही एक बात और भी थी। पड़ोसियों को इस हिनहिनाने का अर्थ यह नहीं समझाया जा सकता था कि घोड़ा प्रसन्न है और वह अपनी भक्ति और कृतज्ञता ज्ञापन कर रहा है। अतएव मनुष्य ने उसका मुँह बन्द रखने का उपाय खोज निकाला। पर जब तक श्वास को बन्द न कर दिया जाय, आवाज़ तो रुकती नहीं। वह मुमूर्षु की कराहने की आवाज़ की भाँति बीच-बीच सुनाई पड़ ही जाती थी।

एक दिन वह आवाज़ ब्रह्मा के कानों में पहुँची। उन्होंने एक बार पृथ्वी के मैदान की ओर देखा। घोड़े का कहीं चिह्न भी नहीं था। उन्होंने यम को बुलाकर कहा—"निश्चय ही यह तुम्हारी शरारत है। तुम्हीं ने घोड़ा चुरा लिया है।"

यम ने उत्तर दिया—"सृष्टिकर्त्ता, आपका सब सन्देह मेरे ही ऊपर है। एक बार मनुष्य की ओर भी तो झाँककर देखिये!"

ब्रह्मा ने देखा, एक अत्यन्त छोटी जगह में, जो चारों ओर दीवालों से घिरी हुई है, घोड़ा खड़ा मन्द-स्वर से चिहिं-चिहिं कर रहा

है। उनका हृदय विचलित हो गया। उन्होंने मनुष्य से कहा—"यदि तुम मेरे इस जीव को मुक्ति नहीं दोगे तो मैं बाघ की भाँति इसके भी पंजे और दाँत बना दूँगा, फिर यह तुम्हारे किसी काम का नहीं रहेगा।" मनुष्य ने कहा—"छिः छिः, यह तो हिंसा को प्रश्रय देना होगा। फिर, यदि आपकी सृष्टि के बारे में राय देने का अधिकार मुझे हो तो मैं यह कह सकता हूँ कि यह जानवर मुक्त रखने योग्य नहीं है। इसी के हित को ध्यान में रखकर ही मैंने इसके लिए यह अस्तबल बहुत व्यय करके बनवाया है।" पर ब्रह्मा ने ज़िद करते हुए कहा—"नहीं, उसे तुम छोड़ ही दो।" मनुष्य ने कहा—"जो आज्ञा, मैं छोड़े देता हूँ। केवल सात दिन का समय दीजिए। इसके बाद भी यदि आप समझें कि इस प्राणी के लिए आपका मैदान मेरे इस अस्तबल की अपेक्षा अधिक अच्छा है, तो मैं हार मान लूँगा।"

मनुष्य ने किया यह कि घोड़े के अगले पैरों को कसकर बाँध दिया और उसे मैदान में छोड़ दिया। घोड़ा इस प्रकार चलने लगा कि उसे देखते हुए मेंढक की चाल अधिक सुन्दर लगती थी।

ब्रह्मा सुदूर स्वर्ग में थे। घोड़े की चाल तो उन्हें दिखाई देती थी, पर उसके पैरों का बन्धन नहीं। अपनी कीर्त्ति का यह उपहास देखकर वे लज्जा से लाल हो उठे और बोले—"यह तो बड़ी भूल हो गई।" मनुष्य हाथ जोड़कर बोला—"इस अभागे जीव के लिए मैं क्या कर सकता हूँ? यदि आप के ब्रह्मलोक में इसके लिए जगह हो तो इसे वहाँ भेजने के लिए मैं सहर्ष तैयार हूँ।"

ब्रह्मा ने व्याकुल होकर उत्तर दिया—"नहीं, नहीं, इसे फिर अपने अस्तबल में ही ले जाओ।"

मनुष्य ने कहा—"आदिदेव, पर मनुष्य के लिए तो यह एक विषम बोझ ही है?"

ब्रह्मा ने कहा—"यही तो मनुष्य का मनुष्यत्व है!"

ऋतु-उत्सवों के नाटक

ऋतुओं का अभिनन्दन भारत की पुरानी प्रथा है। यहाँ के प्रायः सभी त्योहार ऋतूत्सव ही हैं। वर्ष में ६ ऋतुएँ अपनी पृथक्-पृथक्

विशषताएँ लिए जैसी इस देश में प्रकट होती हैं, वैसी संसार के किसी भूखंड में नहीं होतीं। इन ऋतूत्सवों में—जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—मानव को जीवन में नवीनता का अनुभव होता है और वह अपने को प्रकृति के अधिक निकट अनुभव करने लगता है। रवीन्द्रनाथ ने जितने नाटक लिखे हैं उनमें ऋतूत्सवों के लिए लिखे गये नाटकों का विशेष स्थान है। लेखक की आत्मा का परिचय जैसा इस प्रकार के नाटकों में मिलता है, वसा अन्य रचनाओं में नहीं मिलता। इस प्रकार के नाटक 'शान्तिनिकेतन' में खेले जाने के लिए ही प्रायः लिखे गये थे और इनके अभिनय में चुने हुए छात्रों के अलावा स्वयं कवि भी भाग लेते थे। इन नाटकों में कई बार हेर-फेर भी किये गये हैं। सन् १९२२ में 'शारदोत्सव' में कवि ने बहुत कुछ परिवर्तन, कर दिया, 'फाल्गुनी' को 'वसन्तोत्सव' नाम देकर फिर से लिखा और 'वर्षामंगल' नामक एक नया नाटक लिखा। इस प्रकार के नाटक रवीन्द्रनाथ ने बाद में भी कई लिखे हैं जिनमें सन् १९२५ में लिखा हुआ 'शेषवर्षण' तथा सन् १९२७ में लिखे हुए 'नटराज', 'नवीन' और 'सुन्दर' विशेष उल्लेख्य हैं।

कवि के पिछले नाटकों में 'रक्तकरवी' (सन् १९२६ में प्रकाशित) की चर्चा अधिक हुई है। यह नाटक पहले 'यक्षपुरी' के नाम से लिखा गया था, फिर 'रक्त-करवी' के नाम से पहले 'प्रवासी' में प्रकाशित हुआ। इसका कथानक कुछ अलिफ़लैला की कहानियों के ढंग का है। फिर भी इसमें जीवन के एक विशेष अंग का विवेचन बहुत सुन्दर हुआ है।

यक्षपुरी के राजा का राजधर्म है प्रजाशोषण। वह बहुत धन-लोलप है। सोने की खान के कुलियों को वह मनुष्य न समझकर अपनी स्वर्ण-प्राप्ति के यंत्रमात्र मानता है। उनके नाम भी उसने ४१ क, २५९ फ, इत्यादि रख छोड़े हैं। इस यंत्र-बन्धन से मनुष्यत्व पीड़ित और अवमानित है। यक्षपुरी में जीवन का प्रकाश नहीं है। है केवल जड़बंधन, रूढ़िवाद और यांत्रिकता। वह चारों ओर से कटीले तारों से घिरी हुई है। उसके समस्त निवासी, जिनका कोई व्यक्ति

नहीं है, मशीनों जैसे हैं—स्वनिर्मित' शृंखलाओं में आबद्ध। स्वतन्त्र है केवल नन्दिनी, जो प्रेम और सौन्दर्य का प्रतीक है।

नन्दिनी कारागार के लौह-जँगलों के बाहर से हाथ उठा-उठाकर पुकार कर कहती है—"चले एस, चले एस, तोमादेर सकल शिकल छिड़े मुक्त-जीवन प्राचुर्य्येर प्रेम औ आनन्देर जगते चले एस।" उसके इस उन्मादक आह्वान से कारागार के भीतर रहनेवाले सब विचलित हो उठते हैं। उसका आह्वान सभी के हृदय पर आघात करता है। सबके शरीर में मुक्त-जीवनानन्द का स्पर्श वन के उन्मुक्त वातास की भाँति लगकर हर्ष पुलक उत्पन्न करता है। राजा नन्दिनी का प्रेम प्राप्त करना चाहता है, पर ठीक उसी प्रकार से, जिस प्रकार से उसे स्वर्ण प्राप्त होता रहा है। इसी लिए वह नन्दिनी को पाकर भी नहीं पाता। नन्दिनी उसके लिए उस वायु की भाँति है जो आकर शरीर का स्पर्श तो करती है, पर जिसे पकड़ रखना असम्भव है। नगर के अन्य लोग भी, जो उन्मुक्त प्रकाश और स्वच्छन्द वायुमंडल के बीच निवास करना चाहते हैं, नन्दिनी से प्रेम करने लगते हैं। नन्दिनी प्रेम करती है रंजन से। उसीने रंजन के मन में इस प्रेम को जाग्रत् किया है। पर रंजन भी अन्य लोगों की भाँति यंत्रबद्ध है। अन्ततः यही मंत्र उसे प्रेम-जीवन से विच्छिन्न करके उसकी जीवन-संगति को नष्ट कर देता है। कवि इसे 'यांत्रिकता का धर्म' कहता है। यांत्रिकता के इसी यूपकाष्ठ में रंजन की बलि चढ़ जाती है। फिर भी उसकी सैद्धान्तिक विजय होती है, और परिणाम-स्वरूप राजा स्वयं कारागार के द्वार तोड़ने में भाग लेने का इच्छुक हो उठता है।

विश्व-भारती मिशन के साथ सुदूरपूर्व को*

चुने हुए विद्वानों के एक दल के साथ, जिसमें श्री एल० के० एमहर्स्ट, सी० एफ़० एण्ड्रूज़, पंडित क्षितिमोहन सेन शास्त्री, मिस

*इस मिशन के व्यय के लिए, सेठ जुगुलकिशोर बिड़ला ने दस हज़ार रुपये की सहायता दी थी।

ग्रीन, प्रख्यात चित्रकार श्रः नन्दलाल वसु और डाक्टर कालिदास नाग सम्मिलित थे, कवि ने २१ मार्च सन् १९२४ को कलकत्ते से पूर्वी देशों के लिए प्रस्थान किया। इस मिशन का उद्देश्य था पूर्वीय देशों के साथ भारत के पुराने सांस्कृतिक-सम्बन्ध को फिर से नया करना। रंगून, पिनांग, कुआला, लामपुर और सिंगापुर में स्वागत-सत्कार प्राप्त करता हुआ यह दल १२ अप्रैल को 'आत्सुतामारू' जहाज़ से शंघाई पहुँचा। तट पर चीन के विविध राष्ट्रीय व सामाजिक दलों के प्रतिनिधि स्वागतार्थ पहले से ही उपस्थित थे। रवीन्द्रनाथ की कविताओं का चीनी भाषा में अनुवाद करनेवाले चीन के प्रख्यात कवि मिस्टर टसेमन हसू, 'सेल्फ़ गवर्नमेंट की नेशनल इन्स्टीटच्यूट' के डीन मिस्टर स-य-चू, एम० ए० तथा चीनियों के कुछ अन्य प्रतिनिधियों ने जहाज़ पर पहुँचकर इन लोगों की अगवानी की और इनके सामान को अपनी देख-भाल में लिया। शंघाई के प्रवासी भारतीय भी वहाँ पहुँच गये थे, जिन्होंने 'वन्देमातरम्' के उच्चघोष के साथ पूर्व में स्वदेश के इस महान् सांस्कृतिक दूत का अभिवादन किया। इस दल को वर्लिंगटन होटल में ठहराया गया। दूसरे दिन प्रवासी भारतीयों ने शंघाई के सिख-मन्दिर में कवि का स्वागत किया। कवि ने बँगला में भाषण करते हुए प्रवासी सिखों को समझाया कि "नानक और कबीर से लेकर पिछले काल तक के सभी गुरुओं की शिक्षा समस्त मानवता के लिए यही रही है कि—सीमित के बन्धनों से अपनी आत्मा को मुक्त करके असीम के राज्य में विचरण करना और प्रेम और सेवा-द्वारा समस्त विश्व को अपना बना लेना। अतः आप लोगों को अपना व्यवहार यहाँ के निवासियों के प्रति ऐसा रखना चाहिए जिससे ये लोग सदैव प्रेम और श्रद्धा के साथ आपके देश का नाम लेते रहें।"

उसी दिन संध्या को चीनी युवकों और युवतियों की ओर से कवि का स्वागत करते हुए कवि हसू ने कहा—"इस समय चीन वास्तविक संघर्ष के बीच से गुज़र रहा है। फलतः यहाँ अनीश्वरवाद और भौतिकवाद का प्रचार हो रहा है। इस दशा में हमें भारत के ऋषि की बड़ी आवश्यकता थी जो अपने उपदेशों-द्वारा चीन की आध्यात्मिकता

को पुनः जाग्रत् कर सके। भारत ने ऐसे ही अवसर पर धर्मदृष्टाओं को भेजकर चीन को पतन के गर्त में पड़ने से बचाया है। आपके इस मिशन का हम हृदय से स्वागत करते हैं।"

१४ अप्रैल को कुछ प्रमुख विद्वानों के साथ कवि सदल हाँगचाऊ झील देखने पहुँचे जिसके किनारे इनलिंग की प्रख्यात गुफाएँ हैं। अब से ढाई सहस्र वर्ष पूर्व प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् बोधि-ज्ञान ने इन्हीं गुफाओं में रहकर चीन-निवासियों को तथागत का सन्देश सुनाया था। १६ अप्रल को कवि ने हाँगचाऊ में विद्वानों की एक सभा में भाषण करते हुए उस सूत्र की व्याख्या की जो विभिन्न जनपदों को जोड़कर एक बना दिया करता है। कवि ने कहा—"भारतीय विद्वानों ने न जाने कितनी दूर की कष्टमय यात्रा करके चीनियों को धर्म, संघ और बुद्ध का सन्देश सुनाया था और इस प्रकार उसकी आध्यात्मिक सेवा की थी। सेवा, त्याग और तत्वज्ञान के लिए जीवन उत्सर्ग करना भारतीयों का ध्येय था और अपने इसी गुण के कारण वे चीन-निवासियों के हृदय जीतने में सफल हुए थे। भविष्य में भी हमें आशा है कि हम इसी प्रकार चीन की सेवा कर सकेंगे।"

सभा का कार्य समाप्त होने पर चायपार्टी का आयोजन किया गया, जिसमें कवि ने उपस्थित विद्वानों को अपने दल के व्यक्तियों का परिचय कराया। इसके पश्चात् डाक्टर नाग का 'भारत और चीन में सांस्कृतिक-सहकारिता और इतिहास की जाति-समस्या में उसकी अभिव्यक्ति' पर भाषण हुआ। इसी अवसर पर ७५ वर्ष के वृद्ध कवि चेन-सान-ली ने, जिनका स्थान चीन के कवियों में बहुत उच्च था, कवि से भेंट की। वृद्ध कवि रवीन्द्रनाथ से हाथ मिलाते समय भाव-विभोर हो गये।

चू-चेन-तान

८ मई को प्रजातन्त्र की राजधानी के चुने हुए व्यक्तियों ने कवि की वर्षगाँठ बड़े धूमधाम से मनाई। इस उत्सव का नेतृत्व डाक्टर हू-शीह कर रहे थे। उत्सव का प्रारम्भ करते हुए श्री लियांग-चाई-चाऊ ने बताया कि 'रवीन्द्रनाथ' का शब्दार्थ है सूर्य और वज्र।

चीन नाम की व्युत्पत्ति की खोज करने से मुझे पता चला है कि भारतीयों ने इस देश को अपनी भाषा में जो नाम दिया था उसका अर्थ था "गरजता हुआ प्रभात"। इसका चीनी भाषान्तर 'चेन-तान' होता है, जिसका अर्थ भी लगभग वही है जो कि रवीन्द्रनाथ शब्द का है। इधर चीनी लोग पुराने समय में भारत को 'चू' कहा करते थे। इस प्रकार यदि 'चेन-तान' के साथ 'चू' और जोड़ दें तो 'चू-चेन-तान' शब्द बन जायगा। इस शब्द के दो अर्थ होंगे---एक 'भारत का गरजता हुआ प्रभात' और दूसरा 'भारत और चीन'। हम अपने प्रिय कवि को उसकी वर्षगाँठ के अवसर पर चीनियों की ओर से यही नाम प्रदान करते हैं जो 'रवीन्द्रनाथ' का चीनी भाषानुवाद होने के साथ ही साथ भारत और चीन की एकता का भी परिचायक होगा, जिसके लिए आपका मिशन कार्य कर रहा है।

१७ मई को शंघाई की जापानी जनता ने कवि के स्वागतार्थ प्रीति-भोज दिया। जापानी कन्सूल तथा अन्य उच्चपदाधिकारी भी इस अवसर पर उपस्थित थे। कवि को एक मानपत्र भेंट किया गया जिसमें उन्हें 'एशिया का राजकवि तथा पूर्व की आध्यात्मिक मर्यादा का उन्नेता' कहा गया था। उत्तर में कवि ने जापानियों को इस सत्कार के लिए धन्यवाद देते हुए स्पष्ट शब्दों में उन्हें याद दिलाया कि "अब से ८ वर्ष पहले जब मैं जापान गया था, तब जापान पर युद्ध का रंग चढ़ा हुआ था और जापान-निवासी अन्ध देश-प्रेम में दीवाने हो रहे थे। अतः उन्होंने मेरे 'नेशनलिज़्म' पर किये गये भाषण का विरोध किया था। मैं जापानियों के गुणों का बहुत बड़ा प्रशंसक हूँ और आप लोगों को यह बता देना चाहता हूँ कि पूर्व के देश जापान की ओर सचिंतभाव से देख रहे हैं, अतः जापान पर बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी है।" कवि के इन शब्दों का जापानियों ने बहुत स्वागत किया, जिससे ज्ञात होता था कि महायुद्ध के बाद से पूर्वीपन जापानियों के मस्तिष्कों पर अधिकार करने लगा है।

जाग्रत् चीन की महिलायें भी कवि का सत्कार करने में पीछे रहना नहीं चाहती थीं। २० अप्रैल को चाइनीज़ वीमन्स कालिज में

भाषण करते हुए कवि ने उन्हें अपने शिक्षा-सिद्धान्त समझाये। श्री नन्दलाल वसु के बनाये कुछ चित्र भी उन्हें भेंट किये गये जिन्हें उन्होंने बहुत पसन्द किया।

उसी दिन संध्या-समय चीन की २५ विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों की एक सम्मिलित सभा में भाषण करते हुए कवि ने चीन और अन्य पूर्वी देशों पर पाश्चात्य भौतिकवाद के विषैले प्रभाव की मार्मिक शब्दों में आलोचना की। आपने कहा—"भौतिकवाद का वह भयानक दैत्य, जो पश्चिम का है, अपनी आर्थिक उन्नति और भौतिक प्रभुता के प्रदर्शन-द्वारा पूर्व को भयभीत कर रहा है। वह इसकी समस्त सम्पत्ति को लूटकर इसे मृत्यु के मुख में ढकेल रहा है। सबसे बुरी बात यह है कि यह भौतिकवाद पूर्व की शुद्धता और सौन्दर्य की पहचान को, जो उसके युगों के परिश्रम का फल है, भुलाकर उसे अधःपतित कर रहा है। जैसे-जैसे मनुष्य का अधःपतन होता जाता है, वैसे-वैसे देश की सुन्दरता धुआँ उगलनेवाली ऊँची-ऊँची कुरूप चिमनियों-द्वारा नष्ट होती जाती है। पूर्वी जातियों के निकट वह प्रश्न जीवन और मरण का प्रश्न है। उन्हें इसका मुक़ाबिला अपनी सम्पूर्ण सम्मिलित मानसिक और आत्मिक शक्ति-द्वारा करना चाहिए।"

२० अप्रैल को नानकिंग में कवि ने मिलिटरी गवर्नर ची-शी-यान से भेंट की, जो उन दिनों पूर्वी-दक्षिणी चीन के ३ बड़े प्रान्तों का भाग्य-निर्माण कर रहे थे। भेंट के सिलसिले में कवि ने गवर्नर को उस हार्दिक सहानुभूति और सवेदना का संदेश सुनाया जो चीन के प्रति भारत अनुभव कर रहा है। कवि ने कहा कि "भारत और चीन इन दोनों पड़ोसी देशों की सभ्यता शान्ति पर आधारित है। मुझे आशा है कि चीन निकट भविष्य में काफ़ी उन्नति कर लेगा और फिर भारत के साथ अपना निकट-सम्पर्क स्थापित करेगा जिससे पूर्व के ये दोनों महान् देश मिलकर उस वैज्ञानिक यंत्रवाद का घोर विरोध कर सकेंगे जो वैज्ञानिक प्रगति और आधुनिक संस्कृति के नाम पर संसार को लालच, पशुता और हत्या का पाठ पढ़ा रहा है। मुझे विश्वास है कि पारस्परिक सहानुभूति के उच्च सिद्धान्त के आधार पर आप लोग अपने पारस्परिक

मतभेदों का अन्त कर डालेंगे और शीघ्र ही एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उदय होंगे जिसकी आवाज़ में बल होगा और जो शान्ति और प्रगति की ओर संसार को फेरने में समर्थ होगा।"

गवर्नर ने कवि के इन दृढ़ शब्दों को भारत के आशीर्वाद के रूप में स्वीकृत करते हुए कहा—"भारत प्रागैतिहासिक काल से चीन का आध्यात्मिक गुरु और उसके आभ्यन्तरिक जीवन में साझीदार रहा है। मैं आपसे इस बात में सर्वथा सहमत हूँ कि सभ्यता शान्ति पर ही आधारित होती है। पश्चिम ने कूटनीति और अशान्ति के रूप में जो वसीयत दी है, उसके लिए पूर्व को दुःख है। पर हमें विश्वास है कि निकट भविष्य में ही चीन अपने घरेलू झगड़ों को निबटा लेगा और फिर उसे मनुष्य जाति की स्थायी उन्नति के लिए भारत के साथ मिलकर उद्योग करने का पूरा-पूरा अवसर मिलेगा।"

लौटते समय रवीन्द्रनाथ ने सिविल गवर्नर हान-त्से-सू से भेंट की। यह देखकर कवि को आश्चर्य हुआ कि उक्त अनुभवी वृद्ध महोदय स्थानीय पत्रों में प्रकाशित रवीन्द्रनाथ के व्याख्यानों के सारांशों का मनोयोग पूर्वक मनन करते हैं और उनके विचारों से पूर्णतया सहमत हैं। गवर्नर महोदय ने वार्तालाप के सिलसिले में कहा—"संभव है चीन-निवासी, विशेषतया यहाँ के नवयुवक आपके शब्दों को पूरा-पूरा न समझें, या संभव है वे उसे उल्टा समझें; पर वे लोग, जिन्हें भारतीय अध्यात्म की गहराई में जाने का सुयोग प्राप्त हुआ है, या जिन्होंने बौद्ध-शास्त्रों का मनन-अनुशीलन किया है, इस शान्ति के सन्देश के लिए, जो ठीक समय पर भारत ने चीन को भेजा है, रवीन्द्रनाथ के चिरऋणी रहेंगे।"

२० अप्रैल, को ही सन्ध्या के समय नानकिंग विश्व-विद्यालय में रवीन्द्रनाथ का व्याख्यान हुआ। भीड़ इतनी अधिक थी कि लेक्चर-थियेटर का छज्जा लगभग टूटने ही जा रहा था, कि उसकी ओर तुरन्त ध्यान दिया गया और इस प्रकार एक दुर्घटना होते-होते बच गई। कवि ने छात्रों से अपील की कि वे लोग साहस करके आगे आयें और पाप, अत्याचार और उत्पीड़न का अन्त करने में कवि का साथ दें।

इसके पश्चात शानतुंग क्रिश्चियन-विश्वविद्यालय में भाषण करके एक

स्पेशल ट्रेन-द्वारा, जिसका प्रबन्ध नानकिंग की राष्ट्रीय सरकार ने किया था, कवि अपने दल के साथ पेकिन पहुँचे। प्लेटफ़ार्म पर एक विराट् जन-समूह ने आपका स्वागत किया जिनमें कुछ पारसी और सिन्धी व्यापारी भी थे। भारतीय-व्यापारियों ने हार पहनाकर और चीनियों ने पटाखे छुड़ाकर व हर्ष-ध्वनि करके कवि का स्वागत किया। तत्पश्चात् कवि को वहाँ के सर्वश्रेष्ठ होटल 'होटेल-द-पेकिन' में ठहराया गया। दूसरे दिन ऐतिहासिक शाही उद्यान में इन लोगों को दावत दी गई। यह वही स्थान था जहाँ चीन के प्राचीन सम्राट् विदेशी सरदारों से भेंट किया करते थे। लगभग ५० प्रतिष्ठित व्यक्ति—जिनमें भूतपूर्व मंत्री, सरदार राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, प्रोफ़ेसर आदि सभी वर्गों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, दावत के समय उपस्थित थे। कवि का स्वागत करते हुए आधुनिक चीन के निर्माता श्री लियांग-चाई-काऊ ने कहा —"चीन भारत को सदैव अपना अग्रज मानता रहा है। चीन के इस कठिन अवसर पर पधारकर कवि ने सचमुच वही किया है जो कि एक अग्रेज को करना चाहिए था। चीन इस घटना को सदैव कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण रक्खेगा।"

२७ अप्रैल को कवि चीन के भूतपूर्व सम्राट् से भेंट करने गये। इस मनोरंजक भेंट का वर्णन श्री नन्दलाल वसु ने विश्व-भारती बुलेटिन में इस प्रकार किया है—

"सम्राट् का निमंत्रण पाकर हम लोग महल देखने गये। मिस्टर जाँस्टन पथ-प्रदर्शक थे। सिंहद्वार से मुख्य महल तक पहुँचने में पूरा एक घंटा लग गया। मिस ग्रीन, एक और चीनी महिला तथा कवि कुर्सियों पर सवार थे और शेष हम लोग उनके साथ-साथ पैदल चल रहे थे। सड़क लम्बी थी और कई सहनों के बीच से होकर मुड़ती, बल खाती चली गई थी। कवि ने सम्राज्ञियों को शंख की चूड़ियाँ भेंट करते हुए कहा कि भारत में ये चूड़ियाँ महिलाओं के लिए सौभाग्य और ऐश्वर्य-प्रदायिनी मानी जाती हैं। दोनों सम्राज्ञियों ने कुछ मुस्कराकर भेंट स्वीकार की और इसके बाद वे पर्दे में अन्तर्धान हो गईं। इसके पश्चात् मिस्टर एमहर्स्ट ने सम्राट् को कवि की पुस्तकों का एक सेट भेंट किया और मैंने स्वनिर्मित कुछ चित्र भेंट किये। कवि ने भारत की ओर

अपनी ओर से सम्राट् को आशीर्वाद दिया और भारत तथा चीन के पुराने सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए कहा मैं कि इस स्नेह-बन्धन को फिर से नया करने को उत्सुक हूँ।

"सम्राट् हम लोगों को महल के उन भागों में भी ले गये, जहाँ अन्य बाहरी आदमी किसी प्रकार नहीं जा सकता। इसके पश्चात् कवि को उन्होंने एक बहुमूल्य बुद्ध-प्रतिमा भेंट की।

"इसके पश्चात् सम्राट् कवि और उनके साथियों को राजोद्यान दिखाने ले गये जो 'स्वप्न की विभूति' जैसा सुन्दर था। इस उद्यान में ताओइस्ट, कनफ्यूशियन और बौद्ध मन्दिर पास-पास बने थे। यहीं एक स्थान पर सम्राट् ने रवीन्द्रनाथ के साथ बैठकर अपना फोटो खिंचवाया। फिर सम्राज्ञियों ने कवि को निजी महलों में बुलाकर जलपान कराया।"

राजमहलों से विदा होकर कवि चीनी विद्वानों और दार्शनिकों की सभा में गये। इस सभा में पहला स्वागत-भाषण चीनी काव्य के प्रख्यात समालोचक मि० लिन का हुआ। उन्होंने बतलाया कि किस प्रकार चीनी काव्य अब भी प्राचीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। साथ ही कवि से उन्होंने चीनी कवियों का इस दशा में मार्ग प्रदर्शन करने की प्रार्थना भी की। स्वागत का उत्तर देते हुए डाक्टर रवीन्द्रनाथ ने विद्यापति और चण्डीदास से लेकर सम-सामयिक बंगला कविता के उद्धरण देकर बतलाया कि किस प्रकार बंगाली कवि प्राचीन शृंखला को तोड़कर कविता को आधुनिकता देने में सफल हो सके हैं। २९ अप्रैल को प्रातःकाल पैकिंग विश्व-विद्यालय के संस्कृत-अध्यापक बैरन स्टाल हूल्स्टिन ने कवि को आमंत्रित करके अपना संग्रहालय दिखाया जिसमें तिब्बेतिन और चीनी पुरातत्त्व की बहुमूल्य वस्तुएँ, चित्र, ताम्रलेख तथा पुस्तकें संगृहीत थीं। उक्त प्रोफ़ेसर के साथ परामर्श करके कवि ने चीनी और भारतीय विद्वानों के पारस्परिक आदान-प्रदान की एक योजना बनाई जिसमें यह निश्चय किया गया कि श्रीयुत बिड़ला की आर्थिक-सहायता से पहले पंडित विधुशेखर शास्त्री को विश्व भारती से चीन भजा जाय।

इस प्रकार चीन के सैकड़ों विद्वानों, राजनीतिज्ञों, चित्रकारों, दार्शनिकों तथा शिक्षा-शास्त्रियों से भेंट और विचार-विनिमय करके और अनेक प्रदर्शनियों में भारतीय-चित्रकला का प्रदर्शन करके विश्व-भारतीय मिशन शंघाई पहुँचा जहाँ जापानी-अधिकारियों, यात्रियों, छात्रों और प्रोफ़ेसरों ने डाक्टर टैगौर से भेंट की और जापान-सम्बन्धी मामलों पर उनसे बातचीत की। उसी दिन इस दल ने चीन से बिदा ली और शांघाई मारू जहाज़ पर जापान को प्रस्थान कर दिया।

जापान में खरी खरी बातें

इस बार जापान की जनता ने कवि का स्वागत धूमधाम से किया। जापान के प्रतिष्ठित नागरिक श्री मित्सुरूतायमा कवि से भेंट करने आये। सम्मुख होने पर दोनों प्रतिष्ठित महानुभाव एक क्षण तक मौन खड़े रहे, फिर पहले श्री तायमा ने कई बार प्रणाम करते हुए जापानी ढंग से कवि का अभिवादन किया। उत्तर में कवि ने भारतीय ढंग से दोनों हाथ जोड़कर और आँखें बन्द करके श्री तायमा को नमस्कार किया। उस समय का वातावरण शान्त और गंभीर था। दर्शकों को ऐसा भास हो रहा था मानों दोनों वृद्ध पुरुष भक्ति पूर्वक पूजन-कार्य कर रहे हैं। इसके पश्चात् जापान में कई स्थानों पर कवि के भाषण हुए। एक सभा में कवि का भाषण होने से पहले सभापति ने कवि से निवेदन किया—"आज आपकी जापान में उपस्थिति हमारे लिए प्रसन्नता और गौरव का कारण है। क्योंकि आपके भाषणों ने हम ठहरने और विचार करने के लिए विवश कर दिया है। आपके शब्द सीधे हमारे दिल में प्रवेश कर जाते हैं। गत शताब्दियों में भारत बराबर जापान की इसी प्रकार की बहु-मूल्य सेवा करता रहा है। आज भी हमें आपकी शिक्षा की आवश्यकता है। कृपया जापान में अपने यहाँ के दार्शनिक बराबर भेजते रहिए इसके लिए हम भारत के चिर-ऋणी रहेंगे।"

उत्तर देते हुए कवि ने कहा—"पिछली बार—अब से ८ वर्ष पूर्व—जब मैं जापान आया था तब मुझे आपके भविष्य के विषय में बड़ी

चिन्ता हुई थी। पश्चिमीय देशों की नक़ल करने की ओर आप लोगों की प्रवृत्ति देखकर और आपकी जनता में आध्यात्मिक-शिक्षा का अभाव देखकर उन दिनों मुझे सचमुच चिन्ता हुई थी। पर आज मुझे बड़ा अन्तर दिखाई पड़ रहा है। जहाँ तक आध्यात्मिकता का प्रश्न है, आप लोगों ने निस्सन्देह उन्नति की है और इससे मुझे सन्तोष है। पर जहाँ साम्राज्य-लिप्सा का प्रश्न है, आप लोग और भी आगे बढ़े हैं। जब आप एक मनुष्य के रूप में दूसरे देश के किसी मनुष्य से व्यवहार करते हैं, तब आपका व्यवहार अत्यन्त विनम्र और भद्र होता है। पर आपका यह रूप उस समय सर्वथा विपरीत हो जाता है जब आप जापानी जाति के रूप में एशिया की किसी जाति से व्यवहार करते हैं। उस समय आप मक्कार, धोखेबाज़ और निर्दय बन जाते हैं और अत्याचार, शासन और दमन के उन्हीं अस्त्रों का प्रयोग करने लगते हैं जिन पर योरप की अन्य जातियाँ अभिमान करती हैं। आपने भारत से दार्शनिकों को भेजने की आज्ञा दी है, पर आपके यहाँ भी दार्शनिकों की कमी नहीं है। आप केवल उनकी उपेक्षा करते हैं और पश्चिम की नक़ल की धन में उनकी ओर ध्यान नहीं देते। आत्म-जागर्ति, जो सच्ची प्रसन्नता का कारण होती है, कभी बाहर से नहीं मिलती, इसका आपको अनुभव होना चाहिए। आज जीवन का प्रश्न उपादानों के संचय का प्रश्न नहीं है। योरप का अनकरण आपको प्रसन्नता नहीं दे सकता। प्रसन्नता की प्राप्ति तो अभ्यन्तर से ही होगी। आपको भारत के दार्शनिकों की नहीं, भारत के निर्धनों की आवश्यकता है। मैं भारत से निर्धनों को आपके यहाँ भजूँगा और आप जापान के निर्धनों को भारत भेजिए। इस प्रकार निर्धनों के आदान-प्रदान-द्वारा हम एक-दूसरे की सहानुभूति प्राप्त कर सकते हैं और मानवता की ठीक-ठीक सेवा कर सकते हैं। यदि संसार के सभी सभ्य देशों में यह प्रथा जारी हो जाय तो न केवल दुःख-दारिद्र्य का, पारस्परिक कलह का भी सदैव के लिए अन्त हो जाय।"

इसके पश्चात् कवि ने श्री रासविहारी बोस से भेंट की और कुछ अन्य स्थानों पर भाषण करके अपने दल के साथ २१ जलाई को भारत आगये।

दक्षिण-अमेरिका भ्रमण

भारत में कुछ ही दिन रहने के पश्चात् लेटिन अमेरिका रिपब्लिक की ओर से निमन्त्रण पाकर उसके स्वतन्त्रता-शतवार्षिकी उत्सव में सम्मिलित होने के लिए १९ सितम्बर, १९२४ को रवीन्द्रनाथ ने दक्षिणी अमेरिका के पेरू नगर के लिए प्रस्थान कर दिया। पर वहाँ पहुँचने के पूर्व ही मार्ग में उनका स्वास्थ्य अकस्मात् बिगड़ गया और चिकित्सार्थ उन्हें अर्जन्टाइना के बूयेनास एआरिस में रुक जाना पड़ा। नगर से लगभग २० मील की दूरी पर सेन आइसीडोर नामक एक सुन्दर उद्यान में कवि ने अपना डेरा डाला। वहाँ उनकी भेंट विक्टोरिया-द-एस्त्रेदा नामक एक विदुषी महिला से हुई जिसने कवि की परिचर्या-शुश्रूषा बड़े यत्न से की। उसका उल्लेख कवि ने विजया नाम से 'पूरबी' में किया है। उक्त संग्रह की 'अतिथि' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं—

प्रवासेर दिन मोर परिपूर्ण करि' दिले, नारी,
माधुर्य सुधाय; कत सहजे करिले आपनारि
दूर-देशी पथिकेरे; जेमन सहजे सन्ध्या काशे
आमार अजाना तारा स्वर्ग ह'ते स्थिर स्निग्ध हासे
आमारे करिल अभ्यर्थना; निर्जन ए वातायने
एकेला दाँडाये जबे चाहिलाम दक्षिण गगने
ऊर्ध्व ह'ते एक ताने एलो प्राणे आलोकेर वाणी—
शुनिनू गम्भीर स्वर, "तोमारे जे जानि मोरा जानि;
आँधारेर कोल ह'ते जे दिन कोलेते निलो क्षिति
मोदेर अतिथि तुमि, चिरदिन आलोर अतिथि।"
तेमनि तारार मतो मुखे मोर चाहिले, कल्याणी,
कहिले तेमनि स्वरे, "तोमारे जे जानि आमि जानि।"
जानि ना तो भाषा तव, हे नारी, शुनेछि तव गीति,
"प्रेमेर अतिथि कवि, चिरदिन आमारि अतिथि।"*

---

*हे नारी, तूने मेरे प्रवास के दिनों को मधुरिमामय सुधा से परिपूर्ण कर दिया। कितनी सरलता से दूर देश में रहनेवाले पथिक को तूने

इसी प्रेम के नाते कवि ने अपना 'पूरबी' नामक काव्य-संग्रह उसी महिला को समर्पित किया है।

३० दिसम्बर तक कवि वहीं रहे। वहाँ से वे २१ जनवरी, १९२५ को इटली चले गये और जेनोआ मिलन तथा वेनिस का भ्रमण करते हुए १७ फ़रवरी को भारत लौट आये।

स्वदेश लौटते ही उन्हें एक दारुण शोक का सामना करना पड़ा। बड़े भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ कुछ पहले ही से बीमार थे। कवि के आने के कुछ ही दिन बाद उनका देहान्त हो गया।

पूरबी

'पूरबी' तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग का नाम 'पूरबी' है। इसमें 'पूरबी' से लेकर 'वकुल वनेर पाखी' तक कुल १६ कविताएँ

अपना बना लिया, उसके साथ पूर्णरूप से आत्मीय का-सा ही अनुराग-पूर्ण व्यवहार किया। मेरे प्रति तुम्हारा यह व्यवहार सन्ध्या के आकाश के तारे के ही समान सरल एवं उदारतापूर्ण रहा। सर्वथा अपरिचित होने पर भी उस तारे ने स्वर्ग से स्थिर एवं स्निग्ध हास के द्वारा मेरी अभ्यर्थना की। इस एकान्त कमरे की खिड़की के पास खड़े होकर जब मैंने दक्षिण आकाश की ओर ताका, तब ऊपर से एक तान में आलोक की वाणी मेरे हृदय में आई। गम्भीर स्वर कानों में पड़ा।—हम जानते हैं तुम्हें। तुम्हें हम उस दिन से जानते हैं जिस दिन कि अन्धकार की गोद से पृथिवी ने तुम्हें अपनी गोद में लिया। तुम हमारे अतिथि हो, प्रकाश के चिरदिन के अतिथि हो!

हे कल्याणी, जिस प्रकार के आन्तरिक अनुराग के साथ उस तारा ने मेरी ओर ताका था, ठीक उसी प्रकार के अनुराग के साथ तुमने भी मेरी ओर ताका। हे नारी, ठीक वैसे ही स्वर में तुमने भी मुझसे कहा—जानती हूँ, मैं तुम्हें जानती हूँ। तुम्हारी भाषा नहीं जानती मैं, किन्तु गीत तुम्हारे मैंने सुने हैं। हे कवि, तुम प्रेम के अतिथि हो, मेरे चिरदिन के अतिथि हो।

हैं। दूसरे भाग का नाम 'पथिक' है। इसमें 'सावित्री' से लेकर 'इटालिया' तक कुल ६१ कवितायें हैं। तीसरे भाग का नाम 'संचिता' है। इसमें 'अवसान' से लेकर 'सुप्रभात' तक कुल ११ कवितायें हैं। प्रथम भाग की कवितायें भारत में रहते हुए लिखी गई हैं। इन्हें पूर्वकालीन-जीवन के स्मृति-गीत कह सकते हैं। सम्भवतः संग्रह का 'पूरबी' नाम भी इसी लिए सार्थक है। शैशव और यौवन के दिनों में सौन्दर्य और प्रेम की जो लहरें कवि के मानस को अपूर्व उल्लास-पुलक से भर रही थीं, अब ६० वर्ष की अवस्था पार कर जाने पर उनकी स्मृति भर शेष रह गई है। सृष्टि सौन्दर्य और प्रेम से पूर्ण अब भी है; कवि की आँखें भी उसे ग्रहण करने में समर्थ हैं, पर बीच के काल में चलनेवाली आध्यात्मिक-साधना ने, गीताञ्जलि, खेया और नैवेद्य के युग ने, दृष्टिकोण में एक प्रकार का अन्तर ला दिया है। कवि अपने को उन्हीं अपने प्रकृत-बन्धुओं के सम्बन्ध-संपर्क में रखने को अब भी लालायित है। वह आध्यात्मिकता के मरुस्थल में ठहर नहीं सकता। वह उसी भू माँ के अंक में लौट जाना जाता है, जहाँ का कण-कण, तृण-तृण स्नेह की सरल धारा से सिक्त है—

ताहार वक्ष ह'ते तोरे
के एनेछे हरण क'रे,
घिरे तोरे राखे नानान पाके।
बाँधन-छेंड़ा तोर से नाड़ी
सइबे ना एइ छाड़ाछाड़ि
फिरे फिरे चाइबे आपन माके।*

इस माँ की गोद की खोज कवि कहाँ-कहाँ करता रहा! आज उसे ठीक-ठीक पता चला है—

* कौन ऐसा व्यक्ति है जो उसके वक्ष से तुझे हरण कर ले आया है और विभिन्न प्रकार के चक्रों में घेर रक्खा है। बन्धन से मुक्त तेरी वह नाड़ी यह परस्पर का विच्छेद सहन न कर सकेगी। वह फिर फिरकर अपनी माँ की ओर ताकेगी।

आज के खबर पेलेम खाँटि
मा आमार एइ श्यामल माटि,
अन्ने भरा शोभार निकेतन;*

बैशाख का २५वाँ दिन कवि की जन्म-तिथि है। वह तिथि प्रतिवर्ष पृथ्वी पर नाना वेश में आती रहती है—

आताम्र आम्रेर बने क्षणे क्षणे साड़ा दिये,
तरुण तालेर गुच्छे नाड़ा दिये
मध्य दिने अकस्मात् शुष्कपत्रे ताड़ा दिये
कखनो वा आपनारे छाड़ा दिये।
काल वैशाखीर मत्तमेघे बन्धहीन वेगे।†

अन्य सांसारिक जीवों के लिए वह दिन नितान्त सामान्य है। उन्हें उससे कोई विशेष अनुराग नहीं, पर कवि के निकट वह दिन अपने पीले उत्तरीय में प्राणदेवता का 'स्वहस्त सज्जित उपहार' लेकर आता है। वह कवि के कान में धीरे से कह देता है—

अम्लान नूतन हये असंख्येर माझखाने
एक दिन तुमि एसे छिले
ए निखिले
नव मल्लिकार गंधे,
सप्तपर्ण-पल्लवेर पवन-हिल्लोल-दोल छन्दे,

---

* आज मुझे ठीक-ठीक पता चल सका है कि यह शस्य-श्यामला धरित्री ही मेरी माँ है। यह अन्न से परिपूर्ण है और शोभा का निकेतन है।

† आम के उन बागीचों में जो नई नई पत्तियों की अधिकता के कारण ताम्रवर्ण के हो गये हैं, क्षण क्षण पर हरहराहट पैदा करके, ताड़ के नये नये गुच्छों को हिला हिलाकर, दोपहरी के समय सूखी पत्तियों को उड़ा उड़ाकर, किसी किसी समय अपने आपको भी परित्याग करके, काल वशाखी के बंधनहीन उन्मत्त मेघों के वेग में।

श्यामलेर बुके,
निर्निमेष नीलिमार नयन सम्मुखे।
सेइ जे नूतन तुमि
तोमारे ललाट चूमि'
एसेछि जागाते
वैशाखेर उद्दीप्त प्रभाते। *

वर्षा का नवीन मेघ धरणी के पूर्व-द्वार पर आकर अपनी वज्रभेरी बजाता है, पर रवीन्द्रनाथ के प्रियतम सखा कवि सत्येन्द्रनाथ दत्त का नवीन छन्द उसका साथ नहीं देता। वृक्षों पर झूले पड़े हैं। प्रत्येक पत्ता झूल रहा है। कजलियाँ गाई जा रही हैं, कवि सत्येन्द्रनाथ दत्त की वाणी प्रतिवर्ष इस दोला को, विद्युत् नृत्यगान का, ताल दिया करती थी, वह आज विधवा के वेश में पड़ी धूलि में लोट रही है। वे आये थे रवीन्द्रनाथ के बाद, पर उनसे पहले ही चले गये—

तुमि अनुरागे
एसे छिले आमार पश्चाते, बांशिखानि ल'ये हाते
मुक्त मने, दीप्त तेजे, भारतीर वरमाल्य माथे।
आज तुमि गेले, आगे, धरित्रीर रात्रि आर दिन

---

* एक दिन तुम इस जगत् में, अगणित व्यक्तियों के मध्य में मलिनता से रहित नूतन होकर आये थे।—तुम अपने थे ऐसे समय में जब कि नवमल्लिका के पुष्प विकसित होकर चारों ओर अपना सौरभ विकीर्ण कर रहे थे, सप्तपर्ण के पल्लव वायु में नाच नाचकर एक विचित्र छन्द की रचना कर रहे थे। उस समय तुम आये थे इस शस्यश्यामला-धरित्री के वक्ष पर, निर्निमेष नीलिमा के नेत्रों के सम्मुख! तुम आज भी वैसे ही नूतन के नूतन बने हो। इस वैशाख के उद्दीप्त प्रभात में तुम्हारा ललाट चूमकर मैं तुम्हें जगाने आया हूँ।

तोमा ह'ते गेलो खसि, सर्व आवरण करि' लीन
चिरन्तन ह'ले तुमि, मर्त्य कवि, मुहूर्त्तेर माझे।*

यौवन के दिनों में पत्र लिखने की प्रवृत्ति थी। कवि अब उसे 'बद्-अभ्यास' कहता है। उन दिनों सामान्य पत्रों को भी पद्यबद्ध करने की इच्छा रहती थी; यही नहीं मन में कुछ ऐसी धारणा भी थी—

मने छिलो हइ बूझि वा वाल्मीकि कि वेदव्यास,
किछू ना होक 'लङफेलो' देर हबो आमि समानतो;†

पर अब माथा शीतल हो गया है। उस भ्रम का अन्त हो चुका है। अब केवल गद्य लिखा जाता है, वह भी कभी-कभी। पर जो हो, अनेक दिनों से कवि होने की ख्याति जो चली आ रही है; अब शक्ति कम रह जाने के कारण वह ख्याति शत्रु-सी लगती ह। शिलांग के पर्वत-शिखर पर बैठकर उस पुरानी ख्याति की रक्षा के लिए चाकर को पुकार कर कहना पड़ता है—

"कलम ले आओ, काग़ज़ ले आओ, काली ले आओ धाँ करके।"

'शेष अर्घ्य' में भी पूर्वस्मृति का स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है। जो कवि को प्रत्यूष काल में 'महेन्द्रक्षणे प्रथम निशान्तेर वाणी' सुनाया करते थे, जो कवि को 'निखिलेर आनन्दमेलाय' बुला लाते थे—

दिलो आनि
इन्द्राणीर हासि खानि दिनेर खेलाय
प्राणेर प्राङ्गणे; ये सुन्दरी, ये क्षणिका

---

*तुम अनुरागपूर्वक हाथ में वंशी लिये मेरे पीछे आये थे। उस समय तुम्हारा हृदय मुक्त था, तेज तुम्हारा दीप्तिमान् हो उठा था और मस्तक पर तुम्हारे भारती का वरमाल्य था। तुम आगे चले गये। धरित्री के रात्रि और दिन का सम्पर्क अब तुमसे नहीं रहा। हे मर्त्य कवि, मुहूर्त्त भर में ही समस्त आवरणों को लीन करके तुम चिरन्तन हो गये।

†मन में था कि वाल्मीकि या वेदव्यास बन जाऊँ। यदि और कुछ न बन सकूँ तो लाङ्फेलो आदि के समान तो बन जाऊँ?

निःशब्द चरणे आसि' कम्पिते परशे
चम्पक अंगुलि पाते तन्द्रा-यवनिका
सहास्ये सराये दिलो, स्वप्नेर आलसे
छाँयालो परशमणि ज्योतिर कणिका
अन्तरेर कण्ठहारे निबिड़ हरषे
प्रथम दुलाये दिलो रूपेर मणिका ;*

वे अब जीवन से कहीं दूर चले गए। कवि जीवन के इस अपराह्न में एक बार उनका दर्शन फिर करना चाहता है।

व्यतीत-जीवन की छोटी-छोटी स्मृतियाँ कवि के भावुक चित्त को किस प्रकार आन्दोलित कर देती हैं, इसका आभास 'कृतज्ञ' रचना से मिलता है। न जाने अतीत के किस सुदूर दिवस में कवि-प्रिया ने कवि को अन्तिम चुम्बन दिया था। कवि को उसकी याद नहीं रही। आज अचानक याद आ जाने पर कवि दुःखित होकर प्रिया के निकट क्षमा-प्रार्थी है। उस चुम्बन के पश्चात् कितनी ही माधवी-मंजरियाँ सूखकर झड़ गईं, कितने ही कपोत-कूजन-मुखरित-मध्याह्न चले गये; कितनी ही सन्ध्यायें बीत गईं, कितनी ही रात्रियाँ अस्पष्ट रेखाओं के जाल में अपने लेखन को ढककर व्यतीत हो गईं। एक-एक मुहूर्त्त विस्मृति का जाल बुनकर चला गया। इस दीर्घकाल के व्यवधान के कारण कवि यदि प्रिया को भूल गया, तो आज अपनी भूल के लिए क्षमाप्रार्थी है—

तोमार परश नाहि आर,
किन्तु कि परशमणि रेखेगेछो अन्तरे आमार,—

---

* क्षणमात्र स्थायी रहनेवाली जिस सुन्दरी ने निश्शब्द चरणों से आकर दिन के खेल में, हृदय के प्राङ्गण में इन्द्राणी की हँसी ले आ दी। अपने कम्पन से, अपने स्पर्श से, चम्पा की पंखुड़ियों-जैसी उँगलियों के संचालन से तन्द्रारूपी यवनिका को मुस्कराते मुस्कराते हटा दिया। स्वप्न के आलस्य में उसने ज्योति की कणिका परशमणि का स्पर्श करा दिया, अन्तर के कण्ठहार में अत्यधिक हर्ष के कारण उसने पहले-पहल रूप की मणि झुला दी।

विश्वेर अमृत छवि आजिओ तो देखादेय मोरे
क्षणे क्षणे,—अकारण आनन्देर सुधापात्र भरे
आमारे कराय पान।
आज तुमि आर नइ, दूर हते गेछो तुमि दूरे।
विधुर हयेछे सन्ध्या मुछे—जाओया तोमार सिन्दूरे,
सङ्गीहीन ए जीवन शून्यघरे हयेछे श्री हीन,
सब मानि,—सब चेये मानि तुमि छिले एक दिन।*

'पथिक' भाग की अन्य कविताओं में कवि अर्जेनटाइना, इटली या जहाज़ में रहकर भी बंगाल की नदियों, मदानों और फूल-पत्तों को सदैव अपने अन्तश्चक्षु के सामने उपस्थित पाते हैं। 'विदेशी फूल' में उनकी समस्त करुणा एक अज्ञातनामा विदेशी फूल के लिए उमड़ पड़ी है—

हे विदेशी फूल, जबे आमि पूछिलाम—
"की तोमार नाम,"
हासिया दुलाले माथा, बूझिलाम तबे
नामेते की हबे।
आर किछू नय,
हासिते तोमार परिचय॥
हे विदेशी फूल, जबे तोमारे बुकेर काछे धरे
शुधालेम, बलो बलो मोरे
कोथा तुमि थाको,
हासिया दुलाले माथा, कहिले, "जानिना जानि नाको।"

---

*अब तुम्हारे स्पर्श के सुख को अनुभव करने का अवसर मुझे नहीं प्राप्त होता? किन्तु तुम मेरे अन्तःकरण में जो स्पर्शरूपी मणि रख गई हो, उसके कारण आज भी क्षण-क्षण पर विश्व की अमृत छवि मुझे दृष्टिगोचर हुआ करती है। वह अकारण आनन्द का सुधापात्र भरकर मुझे पान कराया करती है।

बूझिलाम तबे
शुनिया की हबे
थाको कोन् देशे।
जे तोमारे बोझे भालोबेसे
ताहार हृदये तव ठाँइ,
आर कोथा नाइ॥
हे विदेशी फूल, आमि काने काने शुधानू आबार,
"भाषा की तोमार?"
हासिया दुलाले शुधू माथा
चारिदिके मर्मरिल पाता।
आमि कहिलाम, "जानि जानि,
सौरभेर वाणी
नीरवे जानाय तव आशा।
निःश्वासे भ'रेछे मोर सेई तव निःश्वासेर भाषा॥"
हे विदेशी फूल, आमि जेदिन प्रथम एनू भोरे--
शुधालेन, "चेनो तुमि मोरे?"
हासिया दुलाले माथा, भाविलाम, ताहे एक रति
नाहि कारो क्षति।
कहिलाम, बोझोनि कि तोमार परशे
हृदय भरेछे मोर रसे?
केइ वा आमारे चेने एर चेये वेशि,
हे फूल विदेशी॥

आज तुम यहाँ हो नहीं, दूर से भी दूर चली गई हो। तुम्हारे द्वारा सुरक्षित किये गये सिन्दूर को पोंछकर सन्ध्या विरहाकुल हो उठी है। यह संगीहीन, एकाकी जीवन शून्य घर में श्रीहीन हो गया है। यह सब स्वीकार करता हूँ, सबसे अधिक यह स्वीकार करता हूँ कि तुम एक दिन थीं।

हे विदेशी फूल, जबे तोमारे शुधाइ, बलो देखि,
मोरे भूलिबे कि?
हासिया दुलाओ माथा; जानि जानि मोरे क्षणे-क्षणे
पड़िबे जे मने।
दुइ दिन परे
च'ले जाबो देशान्तरे,
तखन दुरेर टाने स्वप्ने आमि हबो तव चेना;—
मोरे भूलिबे ना॥ *

---

* हे विदेशी फूल, जब मैंने पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?" तब हँसकर तुमने सिर हिला दिया। मैं समझ गया कि नाम से क्या, तुम्हारा परिचय तुम्हारी हँसी ही है, और कुछ नहीं। हे विदेशी फूल, जब तुम्हें हृदय पर रखकर मैंने पूछा, "कहो, कहो, तुम कहाँ रहते हो?" तब तुमने हँसकर सिर हिला दिया और कहा, "मैं नहीं जानता।" मैं समझ गया कि यह जानकर क्या होगा, कि तुम कहाँ रहते हो। तुम्हारा निवास अपने प्रेमियों के हृदय में है, और कहीं नहीं। हे विदेशी फूल, इस बार मैंने कान में पूछा, "तुम्हारी भाषा क्या है?" तुमने हँसकर केवल सिर हिला दिया, चारों ओर पत्रों से मर्मर रव होने लगा। मैंने कहा, "मैं सौरभ की वाणी जानता हूँ जो चुपचाप तुम्हारी आशायें जना देती है। मेरे निःश्वास में वही तुम्हारे निःश्वास की भाषा भरी है।" हे विदेशी फूल मैंने जिस दिन सवेरे आकर तुमसे पूछा—"तुम मुझे पहचानते हो?" तुमने हँसकर अपना सिर हिला दिया। मैंने समझा इससे कुछ हानि नहीं है। फिर कहा कि क्या तुम यह जानते हो कि तुम्हारे स्पर्श से मेरा हृदय रस से भर जाता है! हे विदेशी फूल, मेरे हृदय से अधिक मुझे और कौन पहचानता है!

हे विदेशी फूल, जब मैंने पूछा, "क्या तुम मुझे शीघ्र भूल जाओगे?" तुमने हँसकर सिर हिला दिया। मैं जानता हूँ, तुम प्रतिक्षण मेरी याद करोगे। दो दिन बाद मैं दूसरे देश को चला जाऊँगा, तब सुदूर से तुम्हारे स्वप्न में मैं तुम्हारा पहचाना रहूँगा, तुम मुझे भूलोगे नहीं।

शोध-बोध—नटीर पूजा

'शोध-बोध' की रचना सन् १९२५ में हुई थी। इस नाटिका में पश्चिमी रहन-सहन का अनुकरण करनेवाले आधुनिक शिक्षित बंगाली-समाज की ख़बर बड़े चुटीले व्यंग्यों-द्वारा ली गई है। सतीश आधुनिक शिक्षा-प्राप्त युवक है। वह बात-बात में पाश्चात्यों की नक़ल करना सभ्यता समझता है। उसकी माँ इसके लिए सतीश को प्रोत्साहित करती रहती है, पर उसका पिता जो एक प्रतिष्ठित बंगाली-परिवार का सदस्य है, सतीश के इस आचरण को घृणा की दृष्टि से देखता है। नलिनी भी सतीश के इस आचरण को बुरा कहती है, यद्यपि मन ही मन वह उसकी प्रशंसा करती है, क्योंकि वह स्वयं ऐसे ही वातावरण में पली और रही है जिसमें योरप की प्रत्येक वस्तु को आदर की दृष्टि से देखा जाता है। सतीश का चाचा निस्सन्तान है और सतीश को पूर्ण आशा है कि उसकी धन-दौलत का उत्तराधिकार उसे ही मिलेगा। उसके ठाट-बाट और अपव्यय के मूल में यही आशा है। चाचा के सन्तान पैदा हो जाने पर सतीश की आशाओं पर एकदम वज्रपात हो जाता है। इधर सतीश का पिता भी मरते समय अपनी सम्पत्ति परोपकार के कार्यों के लिए वसीयत कर जाता है। इस प्रकार सतीश ख़ाली हाथ रह जाता है। वह अपना क़र्ज़ चुकाने के लिए सरकारी रुपये का ग़बन करता है, जिसका रहस्य खुलने पर वह आत्मघात कर लेना चाहता है। वह यह भी चाहता है कि आत्मघात करने से पहले अपने उस चचेरे भाई को भी मार डाले जिसके संसार में जन्म लेने के कारण ही सतीश का जीवन बर्बाद हो गया है। सतीश के चाचा को सतीश की इच्छा का पता लग जाता है और वह सतीश को सहायता करने का वचन देता है। इधर नलिनी भी एक अन्य धनी नवयुवक के साथ विवाह-सम्बन्ध अस्वीकार करके सतीश के साथ विवाह करने को राज़ी हो जाती है, क्योंकि वह जानती है कि उसके ऐसा करने से सतीश के उद्धार में बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

'शोध-बोध' में नाटकीयता पूर्णरूप से विद्यमान है। बोलचाल की बँगला में अँगरेज़ी शब्दों की मिलावट से—जैसा कि आधुनिक शिक्षा-

प्राप्त नवयुवक अपनी बोलचाल में प्रायः किया करते हैं—कथोपकथनों में सजीव-सुन्दरता आ गई है। कथानक का प्रवाह वेगपूर्ण है, अतः पाठक या दर्शक की उत्सुकता आद्योपान्त एक-सी चलती रहती है।

'नटीर पूजा' भी लगभग इसी समय की रचना है। इसमें कुल चार अंक हैं। महाराज अजातशत्रु ने अपने राज्य में भगवान् बुद्ध की पूजा की निषेधाज्ञा जारी करते हुए आदेश दिया है कि जो कोई बुद्ध की पूजा करता पाया जाय उसे प्राणदण्ड दिया जाय। श्रीमती एक राजनर्त्तकी है। राजाज्ञा का ज्ञान होने पर भी उसमें धर्मोत्साह बहुत अधिक है, अतः वह अपने प्राणों का मोह छोड़कर भगवान् बुद्ध की जयन्ती मनाती है। यही संक्षेप में इसका कथानक है।

आठवीं योरप-यात्रा और मुसोलिनी से भेंट

१५ मई, सन् १९२६ को रवीन्द्रनाथ ने इटली से निमंत्रण पाकर आठवीं बार योरप के लिए प्रस्थान किया। इस बार उनके साथ उनके पुत्र (श्रीरथीन्द्रनाथ ठाकुर) पुत्र-वधू, श्रीयुत गौरगोपाल घोष और त्रिपुरा के राजकुमार ब्रजेन्द्रकिशोर देव वर्मन भी थे। ३० मई को यह दल नेपल्स पहुँचा जहाँ नगर के प्रधान अधिकारियों ने कवि का स्वागत करते हुए बताया कि मुसोलिनी ने इटली सरकार की ओर से आपका स्वागत करने के लिए विशेष आदेश जारी किये हैं। १ जून को रोम पहुँचने पर मुसोलिनी ने स्वयं कवि का स्वागत करते हुए कहा कि 'मैं भी आपका एक इटालियन प्रशंसक हूँ। मैंने आपकी पुस्तकों के सभी इटालियन अनुवाद पढ़ डाले हैं।' इटली के सामयिक-पत्रों की इच्छा थी कि रवीन्द्र-नाथ फ़ासिज़्म के सम्बन्ध में कुछ कहें, पर बहुत आग्रह करने पर भी कवि ने राजनैतिक वाद-विवाद में पड़ने से इनकार कर दिया और यही कहा कि 'मुझे आशा है इस अग्नि-परीक्षा से इटली की आत्मा अक्षय प्रकाश का परिधान पहन कर निकलेगी (Let me dream that from the fire bath the immortal soul of Italy will come out clothed in quenchless light.) कवि के इस

सन्देश को कवि के हस्ताक्षरों में ही वहाँ के पत्रों ने बड़े-बड़े हेडिंग देकर प्रकाशित किया।

इटली के नागरिकों का एक दल ऐसा भी था जिसे भारत के इस स्वप्न-दृष्टा का इटली निवासियों-द्वारा इस प्रकार स्वागत-सत्कार होना पसन्द न था। सिनेटर चिपापेल्ली भी इन्हीं लोगों में थे। आपने पत्रों में अपना मंतव्य प्रकट करते हुए लिखा—"रवीन्द्रनाथ और मुसोलिनी में भेंट! दो विरोधी तत्त्वों के मिलने का इससे बड़ा दूसरा उदाहरण शायद ही कहीं मिले! यदि खयाली तथा अमली जातियों के पृथक्-पृथक् प्रतिनिधि चुने जाना संभव हो तो अपनी-अपनी जातियों के प्रतिनिधि इनसे अच्छे और शायद ही मिल सकें! अपने इस देश में, जिसे संसार में अपनी राह बनानी है, जिसे सुविनिश्चित और शक्तिपूर्ण कार्य करने हैं और इसी कारण जिसे चारित्रिक बल और दृढ़ इच्छा-शक्ति की आवश्यकता है, हमें त्याग और वैराग्य के शब्द रुचिकर नहीं लगते; हमें रहस्य और कर्त्तव्यभ्रष्टों की निर्बलता नहीं चाहिए, हमें स्वप्नलोक में विहार करनेवालों की बातें पसन्द नहीं हैं।" इसी प्रकार वहाँ के एक प्रमुख पत्र 'ला वोस रिपब्लिकाना' ने रवीन्द्रनाथ के 'पूर्व और पश्चिम के सांस्कृतिक मेल' पर टिप्पणी करते हुए लिखा था—"योरप की संस्कृति मूलतः गतिशील है और भारत की जड़ तथा द्वित्वपूर्ण! इन दोनों को मिलाने का विचार हवाई क़िले जैसा है।"

पर वहाँ की जनता कवि का सत्कार सच्चे दिल से कर रही थी। ७ जून को रोम के गवर्नर ने एक बहुत बड़ी सभा का आयोजन करके कवि का स्वागत किया। उसी दिन ब्रिटिश राजदूत ने कवि के सम्मान में एक चाय-पार्टी दी जिसमें अनेक प्रतिष्ठित अधिकारी भी सम्मिलित थे। ८ जून को 'यूनीआन इंटिलेक्चुआले इतालिआना' के तत्त्वावधान में 'कला के अर्थ' पर कवि का एक महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। इस अवसर पर अनेक उच्च राजकर्मचारियों के सहित इटली के प्रीमियर भी उपस्थित थे।

१० जून को रोम के छात्रों ने अपने वार्षिक कन्सर्ट में कवि को आमंत्रित किया। थियेटर खचाखच भरा था। कहीं तिल रखने को जगह

न थी। गायकदल में एक सहस्र सदस्य थे, जो काठ के एक विशाल रंग-मंच पर खड़े थे। कवि के पहुँचते ही उपस्थित जनता ने, जिसकी संख्या ३०-४० हज़ार से कम न थी, उठकर समवेत स्वर से उनका अभिनन्दन किया। इसके पश्चात् सहस्राधिक गायक बच्चों ने एक स्वर से गान गाया। विदा होते समय भी जनता ने उसी उत्साह के साथ कवि को इटालियन ढंग से प्रणाम किया। वहाँ का दृश्य देखकर कवि सचमुच भाव-विभोर हो गए। उन्होंने हाथ उठाकर भारतीय ढंग से सब अभिवादकों को आशीर्वाद दिया। उसी दिन सन्ध्या को विश्वविद्यालय की ओर से कवि को अभिनन्दन-पत्र दिया गया जिसे रेक्टर ने पढ़कर सुनाया। उस अवसर पर इतनी भीड़ थी कि कवि तथा महिलाओं को पीछे के द्वार से भीतर ले जाना पड़ा। कवि के भाषण देने के लिए खड़े होते ही जनता ने हर्ष-ध्वनि से उनका स्वागत किया। भाषण के बीच-बीच में भी बराबर तालियाँ बजती रहीं। जनता का उत्साह उस समय चरम-सीमा पर पहुँच गया जब एक छात्र ने कवि से एकेडेमिक केप लगाने की प्राथना की और कवि ने प्रार्थना स्वीकार करके उसे सिर पर लगा लिया। बहुत देर तक जनता हर्ष-ध्वनि करती रही।

इसके पश्चात् ११ तारीख को कवि ने इटली के सम्राट् से भेंट की। सम्राट् कवि से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए और दोनों पक्षों में बहुत देर तक वार्त्तालाप होता रहा। दूसरे दिन रोम की एक नाट्यशाला ने कवि रचित 'चित्रा' का अभिनय किया। रोम से विदा होने के कुछ पूर्व १३ तारीख को कवि ने फिर मुसोलिनी से भेंट की। उनके सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट करते हुए कवि ने कहा था—"एक कलाकार की दृष्टि से मुसोलिनी के व्यक्तित्व से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। चेहरा असाधारण रूप से शक्तिशाली, सिर पिंडाकार, निम्न भाग दर्शनीय, मनुष्योचित और सुकुमार; मुख पर मधुर मुस्कान जो बातचीत को अधिक मनोहर बना देती है और साथ ही उनके जीवन के अनेक परस्पर-विरोधी तत्त्वों का परिचय देती है; संस्कृति के प्रति उनके हृदय में सच्चा अनुराग है।"

इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक बेनदितो क्रोस उन दिनों रोम में नहीं

थे। रवीन्द्रनाथ के रोम पहुँचने की सूचना समाचार-पत्रों-द्वारा पाकर वे रात-दिन चलकर रोम पहुँचे तथा कवि से भेंट की। कवि की प्रशंसा करते हुए बेनदित्तो ने कहा था—"आप नहीं जानते कि मैं आपकी कविता का कितना बड़ा प्रशंसक हूँ। इसलिए नहीं कि वह चित्त पर विशेष प्रकार का संस्कार डालती है, प्रत्युत उसके उस प्रशान्त रूप के लिए जिसे हम लोग 'क्लासिक फ़ार्म' कहते हैं। अब तक हम पौरस्त्य-काव्य को कल्पना-सिक्त समझते थे, पर आपकी कविता ने हमारी धारणा बदल दी है।"

१४ तारीख़ को रोम से विदा होते समय कवि ने उपस्थित जनता के आग्रह पर इटली के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—"इटली निवासी जो कुछ सोचते या करते हैं उसके औचित्य या अनौचित्य के निर्णय का अधिकार मुझे नहीं है। पर मुझे विश्वास है कि आप लोग एक न एक दिन यह अवश्य समझ लेंगे कि महत्ता भौतिक संपत्ति के पीछे पड़ रहने में ही नहीं है। जब आप लोग संसार को शक्ति का स्थायी उपहार देंगे तभी आप महान् राष्ट्र कहलाने के अधिकारी हो सकेंगे।"

रोम से विदा होकर कवि फ़्लोरेन्स गये जो अपने फूलों के लिए संसार में प्रसिद्ध है। वहाँ की प्रसिद्ध संस्था 'लियोनार्दो द विन्सी' ने कवि को एक मानपत्र भेंट किया। दूसरे दिन वहाँ के विश्व-विद्यालय में कवि ने 'मेरा स्कूल' विषय पर भाषण किया। विदा होते समय विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक पेवोलिनी ने निम्न संस्कृतश्लोक-द्वारा कवि की अभ्यर्थना की—

पुष्पपुरमितिख्यातं
श्रुत्वा वाक्यामृतं गुरोः।
एष्यत्यभि नवां संज्ञां
फलपुरमतः परम् ॥

(पहले यह नगर पुष्पपुर—फूलों का नगर—के नाम से प्रसिद्ध था। पर गुरु के वाक्यामृत को सुन लेने के कारण अब से इसका नाम फलपुर कहा जायगा।)

फ़्लोरेन्स से कवि तूरिन गये जहाँ एक सभा में श्रीमती लियोवेत्सका

ने कवि के तीन गीतों का इटेलियन पद्यानुवाद गाकर सुनाया। इसके पश्चात् जनता के आग्रह पर कवि ने स्वयं अपने कुछ गीत मूल बंगाली में गाकर सुनाये। गीत समझ में न आने पर भी जनता कवि के कण्ठ-स्वर से मुग्ध हो गई।

इटली में अधिक व्यस्त रहने के कारण कवि कुछ अस्वस्थ हो गये थे। अतएव विश्राम के लिए वे स्वीट्ज़रलैंड चले गये, जहाँ के विलेनेव शहर से रोम्येरोलाँ के कई निमंत्रणपत्र कवि को प्राप्त हो चुके थे। विलेनेव पहुँचकर कवि ने वहाँ के प्रख्यात होटल बायरन के ठीक उसी कमरे में अपना डेरा जमाया जिसमें विक्टर ह्यूगो बहुत दिनों तक रहे थे। रोम्ये-रोलाँ का घर भी समीप ही था। कवि के पहुँचने से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे प्रतिदिन प्रायः तीन-चार बार कवि से भेंट करने आते और घंटों एकान्त में बैठकर कला, संगीत, साहित्य, प्राच्य व पाश्चात्य संस्कृति, गांधीजी, सत्याग्रह, अहिंसा, आदि विषयों पर विचार-विनिमय किया करते। इटेलियन पत्रों में कवि के इटली-भ्रमण के सम्बन्ध में इन दिनों जो टीका-टिप्पणियाँ हो रही थीं उनमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा था कि कवि मुसोलिनी और फ़ासिज़्म के बहुत बड़े समर्थक हैं। जब ये टिप्पणियाँ रोम्येरोलाँ की निगाह से गुज़रीं तब वे बहुत चिन्तित हुए और उन्होंने इटालियन पत्रों की इस धृष्टता की ओर कवि का ध्यान आकृष्ट किया। कवि ने तुरन्त ही समाचार-पत्रों को लिखा कि "मैंने फ़ासिज़्म की प्रशंसा अपने किसी भाषण में नहीं की है। प्रत्येक भाषण के आरम्भ में मैं यही बात सदैव कहता रहा हूँ कि मैं इटालियन भाषा नहीं जानता और न मुझे अभी तक फ़ासिज़्म का इतिहास पढ़ने और उसके सिद्धान्तों को समझने का ही अवसर मिला है। मैंने बारम्बार यही कहा है कि राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की आक्रमणकारी प्रवृत्ति—जिसे योरप के कुछ देशों ने अपना धर्म बना रक्खा है—मानवता और समस्त संसार के लिए एक भयानक खतरा है।"

६ जुलाई को कवि ज़ूरिच पहुँचे जहाँ श्रीमती साल्वोदरी ने कवि को मुसोलिनी और फ़ासिज़्म की काली करतूतों का कच्चा चिट्ठा सुनाया। कवि अत्याचारों की इन कहानियों को सुनकर बहुत दुःखित हुए और

उन्होंने लन्दन के 'मैंचेस्टर गार्जियन' में एक लम्बा वक्तव्य छपवाया जिसमें फ़ासिज़्म की क्रूरताओं की घोर निन्दा की गई थी। इस पत्र का छपना था कि इटैलियन पत्र कवि से बहुत अप्रसन्न हो गये और उन्हें बुरा-भला कहने लगे। लूसर्न में एक दिन ठहरकर और एक व्याख्यान देकर १० जुलाई को रवीन्द्रनाथ वीयना पहुँचे और वहाँ उन्होंने प्रसिद्ध समाजवादी नेता डाक्टर एंजेलिका बल्बानोव से भेंट की। डाक्टर बल्बानोव ने इटली में फ़ासिस्टों-द्वारा होनेवाले अत्याचारों की अन्य कई सच्ची कहानियाँ कवि को सुनाईं। अगस्त में इंग्लैंड होते हुए कवि नार्वे गये जहाँ ओसलो में नार्वे के बादशाह ने अन्य प्रतिष्ठित नागरिकों के साथ उनका स्वागत किया। वहाँ से कोपनहेगन और हेमबर्ग होते हुए वे बर्लिन पहुँचे जहाँ प्रेसीडेण्ट हिंडनबर्ग ने उनका स्वागत किया। इसके बाद ड्रसडन, कोलोन, प्रेग, बेलग्रेड, सोफिया, बुखारेस्ट होते हुए वे एथेन्स पहुँचे जहाँ ग्रीक-सम्राट् ने उनसे भेंट की। वहाँ से वे मिश्र पहुँचे जहाँ मिश्र के बादशाह फ़ूहाद ने उनका स्वागत किया और अरबी की कई हस्तलिखित पुस्तकें विश्वभारती-पुस्तकालय के लिए उन्हें भेंट कीं। वहाँ से १९ दिसम्बर को वे शान्तिनिकेतन लौट आये।

भारतभ्रमण : योगायोग

इतनी बड़ी यात्रा के पश्चात् भी कवि के हृदय को शान्ति न मिली अतः वे शीघ्र ही फिर घर से निकले और सन् १९२७ में उन्होंने भारत के अनेक स्थानों में भ्रमण किया। पहले वे भरतपुर के महाराज के निमंत्रण पर हिन्दी-साहित्य-कान्फ़्रेन्स का सभापतित्व करने के लिए भरतपुर गये फिर वहाँ से जयपुर, आगरा और अहमदाबाद। वहाँ से वे शान्तिनिकेतन लौट आये।

'योगायोग' की रचना इन्हीं दिनों हुई थी। यह रवीन्द्रनाथ का आठवाँ उपन्यास है। इसका नाम पहले 'तिन पुरुष' रक्खा गया था और इसी नाम से इसका कुछ अंश 'विचित्रा' में छपा था, पर कुछ कारणों से यह नाम कवि को पसन्द न आया और उन्होंने इसे बदलकर 'योगा-योग' नाम दे दिया। इसके कथानक का आरम्भ अविनाष घोषाल की

वत्तीसवीं वर्षगाँठ से होता है जो वस्तुत: कथावस्तु का अन्त भी है, क्योंकि मुख्य कथानक के लिए लेखक को दो पीढ़ी पीछे हट जाना पड़ा है जब कि अविनाश घोपाल के वावा आनन्द घोपाल मुहर्रिरी करते थे-- संभवत: १९वीं शताब्दी के तृतीय चरण में। तीन पीढ़ियों की अवतारणा करने के अभिप्राय से ही इसका नाम पहले 'तिन पुरुष' रक्खा गया था। मुख्य कथावस्तु का संबन्ध मधुसूदन घोपाल और कुमुदिनी से है, जिनके चरित्र-विश्लेषण और अन्तर्द्वन्द्व के विवेचन में लेखक ने विचित्र कौशल दिखाया है। मधुसूदन घोपाल वंश का विपयवुद्धि सम्पन्न व्यक्ति है। कुमुदिनी चट्टोपाध्याय वंश की कन्या है और विप्रदास की वहन। इन दोनों वंशों में वहुत पुरानी शत्रुता है जिसके कारण दोनों वंश ववदि हो चुके हैं। इधर मधुसूदन के कारण घोपाल वंश का सितारा कुछ चमक जाता है। मधुसूदन चट्टोपाध्याय वंश की लड़की कुमुदिनी का पाणि-ग्रहण करता है--प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर। उधर कुमुदिनी जो वचपन से ही ईश्वर में दृढ़ विश्वास रखती है, हृदय में सम्पूर्ण आत्म-समर्पण के भाव लेकर विवाह के लिए तैयार होती है। वह पति म परमेश्वर का रूप देखती है और स्वयं को अर्घ्य के रूप में एकान्त भाव से उसके हाथों में समर्पित कर देना चाहती है। वह विवाह की सूचना को देवता के अदृश्य इंगित के रूप में ग्रहण करती है। उसके मन में न कोई तर्क है न संशय। 'योगायोग' शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी स्थल पर मिलती है। 'जहाँ कार्य और कारण का योगायोग नहीं है, वहाँ तर्क नहीं किया जा सकता।' मधुसूदन कुमुदिनी के मनोभावों को कुछ-कुछ समझता है, पर वह अपने वंशानुगत दर्प का पुनरुद्धार करने के लिए इतना व्यग्र है कि उसे कुमुदिनी पर दया नहीं आती। वह कुमुदिनी के भाई का अपमान करता है और श्यामसुन्दरी नाम की एक दासी से प्रेम करने लगता है। कुमुदिनी को अपने पति के यथार्थरूप का ज्यों ही ज्ञान होता है त्यों ही दोनो में कलह का आरंभ हो जाता है। इस कलह के दो पक्ष हैं--एक मधुसूदन और दूसरा कुमुदिनी। पर प्रहार केवल मधुसूदन की ओर से होता है। कुमुदिनी अपनी अपार क्षमता और मौन सहिष्णुता से उन प्रहारों को हतप्रभाव करती है और मधुसूदन को स्वनिर्मित आदर्श

के बीच प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करती है। जब सब चेष्टाए व्यर्थ हो जाती हैं तब उसकी सहिष्णुता घृणा और ग्लानि के रूप में बदल जाती है। उसका हृदय मधुसूदन से दूर हो जाता है; वह दृढ़ और मौन प्रत्याख्यान का सहारा पकड़ती है। इस विपुल और चिरकाल-व्यापी संग्राम में अनेक स्तर, अनेक मर्मस्थल हैं जिनकी अभिव्यक्ति बड़े कौशल से की गई है। संग्राम के प्रथम स्तर में मधुसूदन का कर्कश और मूखतापूर्ण व्यवहार विचित्र घटनाओं के बीच से प्रस्फुटित हो उठता है। पर कुमुदिनी का सौन्दर्य और गुरुगंभीर हृदय मधुसूदन को क्रमशः दुर्बल करता जाता है और इसी दुर्बलता में वह कुमुदिनी के समक्ष कई बार झुक भी जाता है।

यहीं से संग्राम का दूसरा स्तर आरंभ होता है। जब तक मधुसूदन अत्याचारी है, कुमुदिनी उससे घृणा करती है। पर जब वह विनीत हो जाता है, तब कुमुदिनी को ऐसा लगता है कि यह सब शारीरिक आकर्षण के कारण हुआ है। यह विचार आते ही उसका शरीर और हृदय भय से कम्पित हो उठता। पर अन्त में मधुसूदन की प्रलुब्ध-विनति के आगे उसे आत्म-समर्पण कर देना पड़ता है—पर अनिच्छा के साथ। इस अनिच्छित दान से मधुसूदन की अतृप्ति और भी बढ़ जाती है। उसमें प्रभुत्व का गर्व उद्दीप्त हो उठता है और वह कुमुद के हृदय को न पाने पर उसके शरीर पर प्रभुत्व स्थापित करना अपना एकमात्र ध्येय बना लेता है।

इसी बीच मधुसूदन की व्यग्रता बहुत बढ़ जाती है और वह कुमुद के सामने नतजानु होकर प्रेम-भिक्षा माँगता है। वह अपना समस्त ऐश्वर्य कुमुद के चरणों पर डाल देता है। पर कुमुद इसे मधुसूदन की एक नई चाल समझती है। यही द्वन्द्व का तृतीय स्तर है। मधुसूदन समझ जाता है कि कुमुदिनी अब उसकी वज्र मुष्ठि से बाहर है, उसे पकड़ रखना सम्भव नहीं है। कुमुदिनी की वितृष्णा मधुसूदन की कलुषित प्रवृत्तियों को उत्तेजन देती है। वह अपनी दासी श्यामा के स्थूल शरीर का उपासक बन जाता है। कुमुदिनी के व्यवहारों से मधुसूदन के हृदय में जो क्षत बन जाते हैं, श्यामा के विनयपूर्ण व्यवहार उनके लिए मरहम

का काम करते हैं। क्योंकि मधुसूदन के लिए श्यामा जल की भाँति सुलभ है।

कुमुदिनी अवसर पाकर अपने भाई के घर चली जाती है। मधुसूदन के पतन की वहाँ उसे खबरें मिलती रहती हैं, पर वह लौट जाना स्वीकार नहीं करती। कुछ दिन पश्चात् उसे अपने सगर्भा होने का पता लगता है। अब भाई के घर ठहरना उसे असह्य हो जाता है और वह सब कुछ सहने के लिए तैयार होकर फिर स्वामी के घर लौट जाती है।

इस प्रकार चरित्र-चित्रण और कथानक दोनों में जहाँ लेखक ने इस उपन्यास में अपूर्व कौशल दिखाया है वहाँ कुछ बातें ऐसी भी हैं जो अनावश्यक लगती हैं। उपन्यास का आरम्भ और शेष दोनों आकस्मिक हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में अविनाश ३२ वर्ष का हो गया है और उसकी जन्मगाँठ मनाई जा रही है, पर जब ग्रन्थ समाप्त होता है तब तक अविनाश पृथ्वी पर पैदा भी नहीं हो पाता। इस प्रकार यह ३२ वर्ष पश्चात् का विवरण पाठक के लिए निष्प्रयोजन हो जाता है। कथानक के विभिन्न अंश भी परस्पर सुसम्बद्ध नहीं हैं। कुमुदिनी के बाप के घर का अतिविस्तृत परिचय भी अनावश्यक है। कुमुदिनी के स्वामी का घर छोड़कर पिता के घर चले आने के बाद लगातार कई पृष्ठों में पति-पत्नी के अधिकार-सम्बन्ध में जो तर्क उपस्थित की गई हैं, उनका कथानक से कोई विशेष लगाव नहीं है, फलतः उनके पढ़ने में जी नहीं लगता। इनके अतिरिक्त एक बात यह भी खटकती है कि कुमुदिनी जब सगर्भावस्था में स्वामी के घर पहुँचती है उस समय भी मधुसूदन श्यामा में बुरी तरह अनुरक्त है। फलतः स्वामी के उस आदर्श की प्रतिष्ठा अन्त तक नहीं हो पाती, जो कुमुदिनी के हृदय में सुरक्षित है और इस प्रकार हम कुमुदिनी को अन्त में भी वंशधरा जननी के रूप में न पाकर 'श्यामा की पार्श्ववर्त्तिनी और मधुसूदन की द्वितीया भोग्या' के रूप में ही देखते हैं। जो अच्छा नहीं लगता।

नवीं विदेश-यात्रा

अवस्था ज्यों-ज्यों अधिक होती जाती थी, रवीन्द्रनाथ की आन्तरिक अशान्ति में भी त्यों-त्यों वृद्धि होती जाती थी। इन दिनों शान्ति

से एक स्थान पर बैठना मानों उन्हें असह्य हो रहा था। योरप का लम्बा भ्रमण समाप्त किये अभी पूरा वर्ष भी न व्यतीत हुआ था कि १२ जुलाई को डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी, श्री सुरेन्द्रनाथ कार और श्री धीरेनदेव वर्मन के साथ उन्होंने अपनी नवीं विदेश-यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। यह दल पहले सिंगापुर पहुँचा और वहाँ एक सप्ताह ठहरा। इस बीच वहाँ के नागरिकों की कई सभाओं में कवि ने भाषण किया। फिर मलाका और पिनांग होते हुए ये लोग बटाविया गये। कवि जहाँ भी पहुँचते थे, उनके दर्शनों के लिए अपार जन-समूह उमड़ पड़ता था। बटाविया में नागरिकों ने इनके सम्मानार्थ एक विराट् प्रीतिभोज दिया। इस अवसर पर कवि ने अपनी एक कविता सुनाई जो उन्होंने मार्ग में ही जावा पर लिखी थी। इस कविता का जावा-भाषानुवाद जब जनता को सुनाया गया, तब वह आनन्द-विभोर हो गई। इसके पश्चात् कवि की कुछ अन्य रचनाओं के भी जावा-भाषा के अनुवाद पढ़े गये। वहाँ से ये लोग बालीद्वीप का प्राकृतिक सौन्दर्य देखने गये और दो सप्ताह वहाँ रहे। लौटते हुए कवि सदल मध्य जावा के दो राजाओं के अतिथि बने और वहाँ से श्याम सरकार का अनुरोधपूर्ण निमंत्रण पाकर बैंगकाक के लिए रवाना हो गये जहाँ श्यामियों, चीनियों, भारतीयों और अँगरेज़ों की एक विशाल भीड़ कवि का स्वागत करने के लिए मार्ग पर आँखें बिछाये थी। श्याम के महाराज भी इन लोगों के साथ थे। बैंकाक म आतिथ्य ग्रहण करके और वहाँ की एक सभा में 'राष्ट्रीय-शिक्षा का आदर्श,' पर व्याख्यान देकर २७ अक्टूबर को कवि कलकत्ता लौट आये।

दो महीने बाद कवि का चित्त फिर बाहर जाने को हुआ। इस बार वे अड्यार गये और वहाँ श्रीमती एनीबेसेन्ट के घर ठहरे। यहीं से वे पांडचेरी गये और वहाँ श्री अरविन्द से भेंट की। वहाँ से वे बँगलोर चले गये जहाँ उन्होंने अपना नवाँ उपन्यास 'शेषेर कविता' समाप्त किया।

शेषेर कविता

'शेषेर कविता' में रवीन्द्रनाथ ने समसामयिक बंगाली समाज का यथार्थ चित्र उपस्थित किया है, विशेषतया उस समाज का जिसे अँगरेज़ी

शिक्षा मिली है। अमितराय—जिसे उसके 'अँगरेज़ बन्धु' और 'बन्धुनी' 'अमिट्रॉये' कहकर पुकारती हैं एक 'दिग्विजयी बैरिस्टर' का पुत्र है। बैरिस्टर साहब ने इतनी सम्पत्ति इकट्ठी कर दी है जो तीन पीढ़ियों के खाने-खर्चने के लिए काफ़ी है। अमितराय कलकत्ता विश्वविद्यालय की बी० ए० करने के पूर्व ही आक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय में भर्ती हो जाता है। वहाँ 'परीक्षायें देते देते और न देते देते' सात साल कट जाते हैं और वहाँ से वह सर्वथा अँगरेज़ी रंग में रंगकर स्वदेश लौटता है। उसकी बुद्धि तीक्ष्ण है, यद्यपि अध्ययन गहरा नहीं है। फिर भी किसी के लिए यह कह सकना कठिन है कि अमितराय पूर्ण विद्वान् नहीं है। उसकी एक आदत यह है कि वह जन-साधारण की धारणाओं के प्रतिकूल विचार उपस्थित किया करता है। उदाहरणार्थ उसका विश्वास है कि हमारे देश के साहित्यिक बाज़ार में जिनका नाम है, उनका स्टाइल कुछ नहीं है। उनकी रचनायें ऐसी हैं जैसे जीवों में ऊँट होता है—कूबड़, गर्दन, अगाड़ी-पिछाड़ी, पेट-पीठ सब बेडौल, चाल—अड़बड़। बँगला की मरु-भूमि में ही इनकी गति है। वह यह भी कहता है कि रवीन्द्रनाथ की कविता तो गये-बीते युग की चीज़ है। निवारण चक्रवर्ती को वह बँगला का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता है और अपने कथन की पुष्टि के लिए नवयुवक चक्रवर्ती कवि की कुछ अंटशंट पंक्तियाँ भी सुनाया करता है। गर्मी के दिनों में जब अन्य शिक्षित बंगाली दार्जिलिंग जाते हैं, वह शिलांग जाया करता है। एक मोटर दुर्घटना के फल-स्वरूप अमित का परिचय लावण्य नाम की एक युवती से हो जाता है जो औसत बंगाली लड़की से नितान्त भिन्न प्रकार की है। लावण्य का पिता जब विधुर हो गया था तब लावण्य ने पुनर्विवाह करने के लिए उस पर बहुत ज़ोर डाला था। जब पिता ने उसके आग्रह पर विवाह कर लिया तब लावण्य शासक के पद पर अधिरूढ़ हो गई। अमित लावण्य पर मोहित हो गया और उससे विवाह करने की इच्छा करने लगा। पर लावण्य ने यह कहकर कि 'मुझमें वैसे गुण नहीं हैं जैसे आप अपनी भावी पत्नी में चाहते हैं", अपनी अस्वीकृति प्रकट की। लावण्य की कुछ ऐसी धारणा है कि अमित मुझे नहीं चाहता, अपनी बुद्धि और रुचि

से निर्मित एक स्त्री-मूर्त्ति को चाहता है। पर उसे यह भी अनुभव हो रहा है कि मैं अमित की ओर अत्यधिक आकर्षित हो गई हूँ। अन्तत: दोनों निश्चय करते हैं कि हम लोग कलकत्ते चलें और वहाँ आपस में विवाह कर लें। इसी समय अमित को अपनी बहन सिसी का एक तार मिलता है जिसमें लिखा है कि मैं अपने मित्र नरेन और उसकी बहन केटी के साथ शिलांग आ रही हूँ। केटी प्राय: सात वर्ष से अमित से एक भाव से प्रेम करती आरही है।

सिसी और केटी ने शिलांग पहुँचकर देखा कि अमित का मन लावण्य को लेकर किसी द्विविधा में पड़ा है। उन्होंने यह भी अनुमान किया कि लावण्य अमित के धनवान् होने के कारण ही उससे विवाह करना चाहती है। इसी बीच लावण्य को एक पत्र मिला जो शोभनलाल ने भेजा था। शोभनलाल ७ वर्ष पूर्व लावण्य से प्रेम करने लगा था और उसकी ओर से तिरस्कृत होकर भी उसे भुला न सका था। पत्र पाकर लावण्य अमित से प्रार्थना करती है कि अब आप मुझे भूल जाइए और मेरे साथ विवाह होने का विचार भी सर्वदा के लिए छोड़ दीजिए। इसके बाद वह बिना कुछ कहे-सुने वहाँ से चल देती है।

अपरिपक्व-मस्तिष्कों का मनोविश्लेषण इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है। इसके स्त्री-पात्र अपेक्षाकृत अधिक आत्मनिर्भर और अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करनेवाले हैं। यदि वे कभी पुरुष के आगे झुकते भी हैं तो केवल अपनी अन्त:प्रेरणा से। उत्सुकता का निर्वाह भी आदि से अन्त तक एक रूप में हुआ है और पढ़ते समय पाठक का मन आगे की घटनाएँ जानने के लिए बराबर उत्सुक रहता है। कथोपकथन भी संक्षिप्त, द्रुतगामी और नाटकीय हैं, जिनके द्वारा कथानक अधिक सजीव हो गया है। इस उपन्यास में भी, रवीन्द्रनाथ के अन्य उपन्यासों की भाँति, वाद-विवाद बहुत आए हैं, पर वे रूखे, जटिल या दुरूह न होकर पात्रों के चारित्रिक विकास में सहायक ही होते हैं। भाषा अत्यन्त परिमार्जित और सुष्ठु है। बीच-बीच में पद्य दे दिये हैं जिनसे गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू का-सा मज़ा पढ़ते समय आता है। उदाहरणार्थ मासिमाँ के साथ अमित की बातचीत का एक अंश इस प्रकार है—

' एर जवाव कविर भाषाय दिते हय। गद्ये या बलि सेटा स्पष्ट बोझा-वार जन्ये छन्देर भाष्य दरकार हय पड़े। म्याथूआर्नल्ड काव्य के बलेचेन क्रिटिसिज़म आफ़ लाइफ़, आमि कथाटाके संशोधन करे बल्ते चाइ लाइफ़्स कमेन्टारि इन् भार्स्। अतिथि विशेष के आगे थाक्ते जानिय राखि येटा पड़ते याच्छि से-लेखाटा कोनो कवि सम्राटेर नय:—

पूर्ण प्राणे चावार याहा
रिक्त हाते चास्ने तारे,
सिक्त चोखे यास्ने द्वारे!

भेवे देख्बेन, भालोबासाइ हच्छे पूर्णता, तार या आकांक्षा से तो दरिद्रर काङालपना नय। देवता यखन ताँर भक्त के भालोबासेन तखनि आसेन भक्तेर द्वारे भिक्षा चाइते।

रत्नमाला आन्वि जबे
माला-बदल तखन हबे,
पात्बि कि तोर देवीर आसन
शून्य धूलाय पथेर धारे?

सेइ जन्येइ तो सम्प्रति देवी के एकटू हिसेब क' रे घरे ढूँक्ते बलेछिलूम। पात्बार किछूइ नेइ तो पात्बो की। एइ भिजे खबरेर कागज़गुलो? आजकाल सम्पादकी कालीर दाग के सब चेये भय करि। कवि बल्चेन डाकबार मानुषके डाकि, जखन जीवनेर पेयाला उछ्ले पड़े, ताके तृष्णार सरिक हते डाकिने।*

---

*इसका उत्तर कवि के शब्दों में देना होता है। जो कुछ गद्य म कहता हूँ उसे स्पष्ट समझाने के लिए छन्द के भाष्य की आवश्यकता हो जाती है। मेथ्यू आर्नल्ड ने काव्य को 'क्रिटिसिज़्म आफ लाइफ़' कहा है, मैं इसका संशोधन करके कहना चाहता हूँ 'लाइफ़्स कमन्टरी इन वर्स'। मैं अपने मेहमान को पूर्व से ही सूचित कर देना चाहता हूँ कि मेरे शब्द किसी कवि-सम्राट् के नहीं हैं—

'जिसे सम्पूर्ण हृदय से चाहो उसे खाली हाथों से मत चाहो। भरी आँखों से द्वार पर न आओ।'

इसी प्रकार 'घटकालि' परिच्छेद में लावण्य और अमित के विश्रब्धालाप का एक मार्मिक प्रकरण इस प्रकार है—

लावण्य चोख नीचू क'रे ब'से रइलो, जवाब क' रले ना। अमित ब'लले, "तोमार एइ चुप क'रे थाका येन माइने ना दिये आमार सब कथा के बरखास्त करे देओयार मतो।"

लावण्य चोख नीचू क' रेइ ब'ल्ले, "तोमार कथा शुने आमार भय ह'य, मिता।"

"भय किसेर ?"

"तुमि आमार काछे की-ये चाओ आर आमि तोमाके कतोटुकुइ बा दिते पारि भेबे पाइने।"

"किछू ना भेबेइ तुमि दिते पारो एइटेतेइ तो तोमार दानेर दाम।"

"तुमि यखन ब'लले कर्त्ता--मा सम्मति दियेचेन आमार मनटा केमन क'रे उठलो । मने ह' लो एइ बार आमार धरा पड़बार दिन आस्चे।"

"धराइ तो प'ड़ते हबे।"

विचार कर देखो कि प्रेम ही पूर्णता है। उसकी चाहना दरिद्र का कंगालपन नहीं है। देवता जब अपने भक्त से प्रेम करता है तभी वह उसके द्वार पर भिक्षा चाहता है—

'जब रत्नों की माला ले आओगे तब 'माला-बदल' (विवाह का स्वीकृति-सूचक माल्य-परिवत्तन) होगा। क्या तुम अपनी देवी के लिए मार्ग के किनारे धूल में आसन बिछाओग?'

इसी लिए तो मैंने देवी से सावधानीपूर्वक गृह में प्रवेश करन के लिए कहा है। जब मेरे पास बिछाने के लिए कुछ है ही नहीं, तब बिछाऊँगा क्या? क्या ये भींजे हुए अखबार? आजकल मैं सम्पादकों की स्याही के दाग़ को सबसे अधिक डरता हूँ। कवि ने कहा है—'मैं बुलाने योग्य मनुष्य को तब बुलाता हूँ जब जीवन का प्याला लबालब भरा होता है। अपनी प्यास में भाग बँटाने के लिए मैं उसे नहीं बुलाता।'

"मिता, तोमार रुचि, तोमार बुद्धि आमार अनेक उपरे। तोमार संगे एकत्रे पथ च'लते गिये एकदिन तोमार थेके वहुदूरे पिछिये प'ड़बो, तखन आर तुमि आमाके फिरे डाक्‌ब ना। से-दिन आमि तोमाके एकटुओ दोप देबो ना, —ना, ना, किछू ब'लो ना, आमार कथाटा आगे शुनो। मिनति क'रे ब'ल्चि, आमाके बिये क'रते चेयो ना। बिये क'रे तखन ग्रन्थि खुल्‌ते गले ताते आरो जट प'ड़े जावे। तोमार काछे थेके आमि या पेयेच्चि से आमार पक्षे यथेष्ट, जीवनेर शेप पर्य्यन्त च'लवे। तुमि किन्तु निजेके भूलियो ना।"

"वन्या, तुमि आजकेर दिनेर औदार्य्येर मध्ये कालकेर दिनेर कार्पण्येर आशङ्का केन तुल्चो?"*

---

* लावण्य आँखें नीचे किये चुपचाप बैठी रही, उत्तर नहीं दिया।

अमित बोला—"तुम्हारा इस प्रकार चुप रह जाना मानो मेरे कथन का बिना तनख्वाह दिये नौकरी से अलग कर देना है।

लावण्य ने आँखें नीचे किये ही कहा—"मिता, तुम्हारी बातें सुनकर मुझे भय लगता है।"

"भय किसका?"

"मैं नहीं जानती, तुम मुझसे क्या आशा रखते हो और मैं तुम्हें कितना दे सकती हूँ।"

"बिना कुछ जाने ही तुम दे देती हो, यही तो तुम्हारे दान का मूल्य है।"

"जब तुमने कहा कि मालकिन ने सम्मति दे दी है, उस समय मेरा मन व्याकुल हो उठा। मुझे ऐसा लगा, मानो मेरे बन्धन में पड़ने का दिन आ पहुँचा है।"

"बन्धन में तो पड़ना ही होगा।"

"मिता, तुम्हारी रुचि, तुम्हारी बुद्धि मेरी से बहुत ऊपर है। यदि मैं तुम्हारे साथ पथ चलती जाऊँ तो एक दिन तुमसे बहुत दूर पीछे रह जाऊगी और फिर तुम मुझे फिर कर पुकारोगे भी नहीं। उस दिन मैं तुम्हे ज़रा भी दोष नहीं दूँगी। नहीं, नहीं, कुछ बोलो मत, मेरी बात

महुया

अपनी कविता के कुछ प्रेमियों के आग्रह पर कवि ने सन् १९२८ मे 'महुया' काव्य-संग्रह प्रकाशित किया। इस संग्रह में प्रायः प्रेम-कवितायें हैं, जिनमें से कुछ तो पहले की रची हुई थीं और कुछ इसी संग्रह के लिए नई लिखी गई थीं। 'कडि ओ कोमल', 'मानसी' और 'चित्रा' की प्रेम-कविताएँ हम पीछे देख आये हैं। 'महुया' की कविताओं में उक्त संग्रहों की कविताओं से कुछ विशेषता है। 'कडि ओ कोमल' आदि की कविताओं में जहाँ यौवन-सुलभ उच्छृंखलता विद्यमान है, वहाँ 'महुया' की रचनाओं पर संयम, विचार और बुद्धि की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है।

दसवीं परदेश-यात्रा

कनाडा की 'नेशनल काउंसिल आफ़ एजूकेशन' का निमंत्रण पाकर १ मार्च, १९२९ को कवि ने बम्बई से कनाडा के लिए प्रस्थान किया। इस बार श्री अपूर्वकुमार चाँदा और श्री सुधीन्द्रदत्त उनके साथ थे। दो दिन टोकियो में ठहरकर ६ अप्रैल को कवि बैंकोवार पहुँचे और वहाँ कान्फ़्रेन्स में 'दि फिलासफी आफ़ लेज़र' पर भाषण किया। इसके पश्चात् हार्वर्ड, कोलम्बिया तथा कुछ और विश्व-विद्यालयों की ओर से निमंत्रण-पत्र पाकर कवि बैंकोवार से वहाँ के लिए चल दिये पर मार्ग में पासपोर्ट के खोजाने से और इसी घटना को लेकर होनवाले, इमिग्रशन-आफ़िसरों के दुर्व्यवहार के विरोध में कवि ने अपना कार्य-क्रम बदल दिया और वे जापान लौट आये। वहाँ से ५ जुलाई को वे कलकत्ता आ गये।

आगे सुनो। मैं विनयपूर्वक कहती हूँ, मेरे साथ विवाह करने की इच्छा न करो। अगर तुम विवाह करके गाँठ खोलने का प्रयत्न करोगे तो वह और भी उलझ जायगी। जो कुछ तुमसे मुझे मिला है, वही काफ़ी है। वह जीवन के अन्त तक चलेगा। पर तुम अपने को धोखा न दो।"

"वन्या, तुम आज के औदार्य के बीच में कल के कार्पण्य की आशंका क्यों करती हो?"

इसके बाद ८ महीने कवि भारत में ही रहे, इस बीच में उन्होंने कई अपने पिछले ग्रन्थों का संशोधन किया। उदाहरणार्थ 'राजा ओ रानी' के प्लाट में कुछ संशोधन करके उन्होंने उसे 'ताप्ती' नाम से फिर प्रकाशित कराया। 'ताप्ती' में सुमित्रा अपने भाई की मृत्यु-सूचना लेकर राजा के पास नहीं जाती न स्वयं आत्म-हत्या करती है। इसी प्रकार 'बहू ठाकुरानीरहाट' तथा 'प्रायश्चित्त' के कथानक में आवश्यक संशोधन करके कवि ने उसे 'परित्राण' नाम से पुनः प्रकाशित किया।

ग्यारहवीं विदेश-यात्रा: कवि चित्रकार के रूप में

मार्च, १९३० में अपने पुत्र रथीन्द्रनाथ ठाकुर, पुत्रवधू श्रीमती प्रतिमादेवी और प्राइवेट सेक्रेटरी डबल्यू आरियम के साथ कवि ने फिर विदेश-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। कोलम्बो होते हुए कवि २६ तारीख को मार्सेलीज पहुँचे जहाँ उनकी भेंट ज़ेकोस्लोवाकिया के प्रेसीडेंट मसारिक से हुई। वहाँ से कवि पेरिस चले गये।

पेरिस में श्रीमती विक्टोरिया ओकेम्पो ने 'गेलेरी-पिगेले' में कवि के चित्रों की एक प्रदर्शनी की। फ़्रांस के अनेक चित्रकार और चित्रकला के विशेषज्ञ कवि के चित्रों को देखने आये और उन्होंने मुक्तकंठ से इन चित्रों की प्रशंसा की। इस प्रकार अपनी परिणतावस्था में रवीन्द्रनाथ ने एक बार चित्रकार के रूप में संसार को फिर आश्चर्य में डाल दिया। पेरिस के चित्रकला-विशेषज्ञों की सम्मति में कवि 'रेखाओं और रंगों' के विशेष कलाकार थे। सम्भवतः इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते कवि को शब्द की परिमित-क्षमता का यथार्थ बोध हो गया था। अतः अपने अन्तस् की पूर्णाभिव्यक्ति के लिए वे रेखाओं और रंगों का सहारा लेना आवश्यक समझने लगे थे। इससे पहले किसी चित्रकार के पास कवि ने चित्रकला का अभ्यास नहीं किया था। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि चित्रकार के रूप में कवि का प्रकट होना एक आकस्मिक किंतु स्वाभाविक घटना थी। कवि के चित्रांकन का आरम्भ भी विचित्र ढंग से हुआ था। अपनी कविताओं की पाण्डु-

लिपि में कवि प्राय: काटकूट किया करते थे। उनकी सुरुचिपूर्ण दृष्टि के लिए पाण्डुलिपि की यह कुरूपता असह्य थी, अत: अवकाश मिलने पर वे पाण्डुलिपि के इस भद्दे भाग में सुन्दरता लाने का प्रयत्न किया करते थे। इस सम्बन्ध में एक स्थान पर उन्होंने स्वयं लिखा है: --

"मेरी पाण्डुलिपि की काटकूट जब पापियों की भाँति उद्धार के लिए पुकार उठी और अपनी असम्बद्ध कुरूपता के कारण मेरी आँखों में खटकने लगी, तब मैं उसका उद्धार करने और उसे तालयुक्त पूर्णता देने में अपने मुख्य कार्य की अपेक्षा अधिक समय देने लगा।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि को ताल का स्वाभाविक बोध था। अब तक यह बोध शब्दों और ध्वनियों के रूप में ही व्यक्त होता था, पर अब रेखाओं के रूप में भी व्यक्त होने लगा। काटकूट के स्थलों को सौन्दर्य देने के लिए कवि के मस्तिष्क में पहले से ही किसी चित्र की कल्पना नहीं रहती थी। वे क़लम को रेखाएँ बनाने के लिए निर्बाधरूप से छोड़ देते थे। गत जीवन के अभ्यास ने उनकी उँगलियों और लेखनी को ऐसा अभ्यस्त कर दिया था कि इस प्रकार जो चित्र बन जाता, उसमें विचित्र प्रकार की एक-रूपता और ताल के दर्शन होते थे। कभी कोई लता बन जाती थी, जिसमें विचित्र प्रकार के पत्र-पुष्प दिखाई देते थे। कभी कोई जानवर या उड़ता हुआ पक्षी बन जाता था। धीरे-धीरे कवि को चित्रकला में अधिक आनन्द आने लगा और वे अवकाश का अधिकांश चित्र बनाने में व्यय करने लगे। फिर भी ये चित्र बनते विचित्र ही थे। यहाँ तक कि उनके किसी चित्र को कोई नाम दे देना स्वयं चित्रकार के लिए सम्भव न था। इस सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं--"मेरे चित्र को नाम दे सकना नितान्त असम्भव है। इसका कारण यह है कि रेखायें खींचने के पहले मेरे ध्यान में कोई आकृति नहीं होती।"

यद्यपि कुछ चित्रकला-विशारदों ने रवीन्द्रनाथ के चित्रों में कई प्रकार के गुप्त संकेतों की उद्भावना की है और उनका मत है कि ये चित्र भी कवि की अनेक कविताओं की भाँति रहस्यपूर्ण हैं, पर स्वयं कवि ने अपने चित्रों के विषय में इस प्रकार की कोई बात नहीं कही

हैं। जब प्रदर्शनियों में उनसे अपने चित्रों का भाव स्पष्ट करने को कहा गया, तब उन्होंने उत्तर दिया—

"ध्वनि की भाषा अनन्त के मूक जगत् का एक क्षुद्रतम बिन्दुमात्र है। विश्व की अमर वाणी इंगितों-द्वारा ही व्यक्त होती है। विश्वात्मा सदा चित्रों और नृत्य की भाषा में ही बोलता है। संसार की प्रत्येक वस्तु रेखाओं और रंगों-द्वारा प्रकट करती है कि वह सृष्टि का तर्क-सिद्ध-परिणाम या उपयोग की वस्तु भर नहीं है। वह स्वयं में बेजोड़ है और साथ ही अपने निगूढ़ रहस्य की वाहिका भी।

"इस विश्व में ऐसी असंख्य वस्तुएँ हैं जिन्हें हम जानते जरूर हैं, पर इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते कि उनका अपना भी एक अस्तित्व है; वह लाभदायक हो या हानिकारक। फूल का अस्तित्व एक फूल के रूप में है—मेरे लिए यही पर्याप्त है। पर मेरी सिगरेट का मेरे ऊपर अपना अस्तित्व स्वीकार कराने का इससे अधिक और कुछ दावा नहीं है कि वह मेरी धूम्र-पान की आदत के लिए उपयोगी है।

"कुछ चीज़ें ऐसी हैं, जिनके रूप में एक प्रकार का चरित्र अथवा ताल है। उसी के कारण हमें उनका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। वे वस्तुएँ एक प्रकार के वाक्य हैं जो सृष्टि के पृष्ठों पर रंगीन पेंसिल से लिखे हुए हैं। हम उनकी ओर से आँखें नहीं मूँद सकते। वे मानो हमें संबोधित करते हुए हठात् कह उठने हैं—'देखो, यह हम हैं।' और हमारा मस्तिष्क बिना यह प्रश्न किये हुए कि 'तुम यहाँ क्यों हो', उनके अस्तित्व के सम्मुख मस्तक झुका देता है।

"चित्र में चित्रकार असंदिग्ध यथार्थता की भाषा लिखता है। हम उसे देखकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। चाहे यह चित्र किसी सुन्दरी का न होकर एक गध का हो, या किसी ऐसी वस्तु का हो जो अपनी कलापूर्ण विशेषता के अतिरिक्त प्रकृति के किसी सत्यांश की दावेदार न हो।

"प्रायः लोग मुझसे मेरे चित्रों का अभिप्राय पूछते हैं। उनके पूछने पर मैं अपने चित्रों की भाँति ही चुप बना रहता हूँ। उन्हें समझाना मेरा काम नहीं है, यह काम मेरे चित्रों का ही है कि वे अपने अर्थ

को स्पष्ट करें। उनमें उनकी अपनी प्रतिकृति से कोई विपरीतता नहीं है। यदि वह प्रतिकृति अपने साथ उनका पूर्णमूल्य और महत्त्व लिए हुए है, तो वे क़ायम रहेंगे; अन्यथा वैज्ञानिक सत्य या नैतिक औचित्य के होते हुए भी वे तिरस्कृत होकर भुला दिये जायँगे।"

मास्को की एक प्रदर्शनी में अपने चित्रों का प्रदर्शन करते समय एक रूसी चित्रकला-विशारद से कवि की बातचीत बड़ी महत्त्वपूर्ण हुई थी। इस वार्त्तालाप से ज्ञात होगा कि रवीन्द्रनाथ के चित्रों के विषय में उनकी अपनी तथा संसार के अन्य कलाविदों की क्या सम्मति थी। बातचीत का एक अंश इस प्रकार है—

रूसी चित्रकला-विशारद—आपके इस चित्र में क्या 'आइडिया' है?

कवि—'आइडिया' कुछ भी नहीं। यह केवल एक चित्र है। 'आइडिया' शब्दों में होते हैं, जीवन में नहीं।

रू० चि० वि०—आपके चित्रों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु यौवन है और इसी के कारण ये चित्र इतने सुन्दर लगते हैं। यौवन को अपना प्रकाशन करने में कठिनाई नहीं होती। आपके चित्रों ने अपनी एक नई 'टेकनीक' बना ली है। क्या इससे पहले भी आपने चित्र बनाये थे?

कवि—कभी नहीं।

रूसी चित्रकला-विशारद—निस्सन्देह आप प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं। आपका प्रत्येक चित्र दिल पर एक नई छाप डालता है। आपने ये चित्र कब बनाये थे?

कवि—ये तो प्रारम्भिक चित्र हैं। इनमें रेखायें ही बनाई गई थीं, रंग तो पीछे से दिए गये हैं।

रू० चि० वि०—आपकी कला रूवेल से मिलती-जुलती है। क्या आपने उसके चित्र देखे हैं।

कवि—ऐसा सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ।

रू० चि० वि०—आपके चित्रों में रूसी चित्रकला का समावेश इस सुन्दरता से हुआ है कि हम इन्हें रूसी-चित्र बताकर जनता को भुलावे में डाल सकते हैं। क्या आपके चित्रों के नाम भी हैं?

कवि—उनके नाम नहीं हैं। नाम का तो मुझे विचार ही नहीं आता। मेरी समझ में नहीं आता कि इन चित्रों का वर्णन किन शब्दों में करूँ।

रू० चि० वि०—क्या यह चित्र दान्ते का है?

कवि—नहीं, यह चित्र दान्ते का नहीं है। मैंने जापान से जाते समय गत वर्ष जहाज़ पर यह चित्र बनाया था। मेरी लेखनी चलती रही और यह चित्र बन गया, जिसे आप इस रूप में देख रहे हैं।

रू० चि० वि०—यह रंग क्या किसी विशेष प्रकार का है?

कवि—यह साधारण फाउन्टेनपेन इंक है।

रू० चि० वि०—आपके चित्रों से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। प्रोफ़ेसर क्रिस्ते का कहना है कि वे आपको कवि के रूप में जानते रहे हैं। वे भी आपके चित्र देखकर आश्चर्यचकित हो गये।

उनका यह भी कथन है कि आपके चित्र चित्रकला के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना हैं। आपके चित्र हमारे चित्रकारों के लिए मार्ग-प्रदर्शक का काम करेंगे और हमें जीवन का पूर्णतर परिचय देंगे।

हिबर्ट व्याख्यानमाला

सन् १९२८ में ही आक्सफ़ोर्ड से कवि को एक निमन्त्रण-पत्र 'हिबर्ट लेक्चर्स' के लिए मिला था पर स्वास्थ्य अच्छा न होने के कारण वे उस वर्ष वहाँ न पहुँच पाये थे; अतः वह व्याख्यानमाला स्थगित कर दी गई थी। इस योरप-यात्रा में कवि के पेरिस से इँगलैंड पहुँचने पर उसका पुनः आयोजन किया गया। इस व्याख्यानमाला के एक व्याख्यान के सम्बन्ध में 'माञ्चेस्टर गार्जियन' ने लिखा था—

"आज रात को माञ्चेस्टर कालिज में डाक्टर रवीन्द्रनाथ टैगोर का हिबर्ट-व्याख्यानमाला का अन्तिम व्याख्यान हुआ। यद्यपि नगर में एक अन्य महत्त्वपूर्ण उत्सव था फिर भी व्याख्यान में श्रोताओं की भीड़

बहुत अधिक रही और उसकी समाप्ति पर कई मिनट तक तालियाँ बजती रहीं। पिछले दिनों इस व्याख्यानमाला के अंतर्गत जितने व्याख्यान दिये गये हैं उनमें इतनी भीड़ कभी नहीं रही, जितनी कि रवीन्द्रनाथ के व्याख्यानों के अवसर पर देखी गई है। और न उन व्याख्यानों का ऐसा शानदार स्वागत ही किया गया था। व्याख्यानों का विषय यद्यपि जटिल था, पर कवि की विनोदपूर्ण प्रकृति तथा स्पष्ट वर्णन-शैली ने उसे मनोरंजक बना दिया था। व्याख्यान देते समय कवि के हिमधवल केशों और हिमगौर मुख पर सूर्य-किरणों का सुनहला प्रकाश पड़ रहा था। इससे उनका व्यक्तित्व कुछ ऐसा आकर्षक और प्रदीप्त हो रहा था कि श्रोताओं को उनके मनोगत भाव समझने में देर नहीं होती थी। यदि कवि की संगीतमयी वाणी में भावों को व्यक्त करने की ऐसी अपूर्व क्षमता न होती तो सचमुच उनका व्याख्यान श्रोताओं की समझ में कठिनता से आता।"

हिबर्ट-व्याख्यानमाला के सम्बन्ध में दिये हुए कवि के चौदह व्याख्यानों का संग्रह 'दि रिलीज़न आफ़ मैन' के नाम से सन् १९३१ में प्रकाशित हुआ था। इन व्याख्यानों से कवि के धर्म-सम्बन्धी सुलझे हुए विचारों का पता मिलता है। धर्म के सम्बन्ध में कवि के अपने निजी विचार थे जो उनके व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों पर आधारित थे। फलतः इन व्याख्यानों में न तो वे धर्मवेत्ता के रूप में प्रकट हुए हैं और न दार्शनिक के रूप में। प्रत्युत जीवनव्यापी सत्य को उन्होंने सीधे-सादे शब्दों में उपस्थित किया है। सबसे बड़ी विशेषता इन व्याख्यानों की यह है कि इनमें रवीन्द्रनाथ विचारक और कवि के रूप में साथ-साथ प्रकट हुए हैं। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा है—

"गाँव में एक दिन सवेरे के समय मुझे अपने जीवन का सत्य प्रकट हो गया। मुझे ऐसा लगा कि मेरे भीतर कोई ऐसी सत्ता है जो मुझको—मेरे संसार को—अच्छी तरह समझती है। वह मेरे समस्त अनुभवों में अपनी अभिव्यक्ति चाहती है। इस सत्ता के प्रति मैं उत्तर-दायी हूँ। क्योंकि मेरे भीतर जो मेरी सृष्टि है वह उसी प्रकार उसकी भी है। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि अन्त में मैं अपने धर्म को पा गया

हूँ। इस धर्म में अनन्त मानवता के रूप में सीमित होकर मेरे निकट आया और उसने मुझसे प्रेम और सहयोग की अभिलाषा की।"

इँग्लैंड से कवि जर्मनी चले गये जहाँ १६ जुलाई को बर्लिन में उनके चित्रों की प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। इसके बाद ९ अगस्त को कोपनहेगन में उनके चित्रों की प्रदर्शनी हुई। इस प्रदर्शनी से छुट्टी पाकर कवि रूस चले गय जहाँ से उन्हें बुलाने के लिए सोवियत सरकार ने लूनाचरस्की नामक विद्वान् को भेजा था।

सोवियत की राजधानी में

सौमेन्द्रनाथ, अमिय चक्रवर्ती और आरियम विलियम्स के साथ कवि ११ दिसम्बर को मास्को पहुँचे जहाँ 'विदेश-संस्कृति-सम्बन्ध विधायिनी-परिषद्' की ओर से उसके प्रधान एफ० एन० पैट्रफ़ ने उनका स्वागत किया। दूसरे दिन प्रोफ़ेसर कोगेन ने जो मास्को की 'एकेडेमी आफ आर्ट्स् के अध्यक्ष थे, उनसे भेंट की। इसके बाद १६ तारीख को कवि ने अपनी पार्टी के साथ 'सेण्ट्रल पीज़ेन्ट्स हाउस' का निरीक्षण किया। इस प्रकार की कृषकों की चौपाल रूस के प्रायः प्रत्यक नगर, क़स्बे और गाँव में हैं जिन्हें किसानों का क्लब भी कहा जा सकता है। किसानों में शिक्षा, संस्कृति और सामाजिकता का प्रचार करना इनका प्रधान कार्य है। अवकाश के समय पास-पड़ोस के किसान इनमें एकत्र होते हैं जहाँ विभिन्न विद्वान् उन्हें खेती, कारीगरी और मशीनों के उपयोग के विषय में शिक्षा देते हैं। उन्हीं चौपालों-द्वारा उनमें सामूहिक शिक्षा-प्रचार की भी व्यवस्था की जाती है। कार्यवश नगर में आनेवाले किसानों के ठहरने का स्थान भी ये ही चौपालें होती हैं। कवि के पहुँचने पर लगभग १५० किसानों ने चौपाल के प्रबन्धक के साथ उनका स्वागत किया। साधारण शिष्टाचार के पश्चात् किसानों ने कवि से प्रश्न किया—

"आजकल भारतीय राजनीति की क्या अवस्था है और वहाँ हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े क्यों हुआ करते हैं?"

कवि ने उत्तर दिया—"हिन्दू-मुसलमान-संघर्ष भारत में केवल गत पच्चीस वर्ष से दिखाई दे रहा है। इससे पूर्व, जहाँ तक मुझे याद है, वहाँ

इस प्रकार की कोई वस्तु न थी। फिर भी हिन्दू-मुसलिम-वैमनस्य भारत के गाँवों में नहीं दिखाई देता। इसका कारण है भारतीय किसानों की असाधारण और दयनीय निरक्षरता और अज्ञता। यदि वहाँ सर्व साधारण में साक्षरता का प्रचार हो जाय तो साम्प्रदायिक झगड़े जड़ से खतम हो जायँ। पर अभाग्यवश जन-साधारण में साक्षरता का प्रचार कर सकना वर्त्तमान समय में भारत में संभव नहीं है। आपके देश की अवस्था भी ठीक हमारे देश की जैसी है, पर संसार में यही देश अकेला ऐसा है, जहाँ साक्षरता का प्रचार इतने बड़े पैमाने पर संभव हो सका है।"

किसानों ने फिर प्रश्न किया—"आपने किसानों पर भी कुछ लिखा है? कृषकों के भविष्य के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?"

"मैंने न केवल किसानों के लिए लिखा है, मैं उनके साथ काम भी करता हूँ। मैं यथाशक्ति उन्हें शिक्षित बनाने का भी प्रयत्न करता रहता हूँ। मैं अपने विद्यालय में न केवल लड़कों को पढ़ाता हूँ, आस-पास के ग्रामों के किसानों को भी पढ़ाता हूँ। आपके देश के शिक्षा के विशाल आयोजन को देखते हुए मेरा काम निस्सन्देह बहुत छोटा है।"

"सम्मिलित पूँजी-प्रणाली (Collectivization) के बारे में आपकी क्या राय है?"

"किसानों के इस महान् कार्य की मैं प्रशंसा करता हूँ। आप लोग यह काम किस प्रकार चलाते हैं, यही सीखने तो मैं आपके देश में आया हूँ। जब तक इस प्रणाली का मुझे पूरा ज्ञान न हो जाय, मैं इसके संबंध में क्या सम्मति दे सकता हूँ!"

"हमारी सम्मिलित-पूँजी-प्रणाली के और हमारे देश के सम्बन्ध में भारतीयों की क्या धारणा है?"

"अभाग्यवश आजकल आपके देश में होनेवाली हलचलों की सूचना हमें जिस माध्यम-द्वारा मिलती है, उसे विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। फलतः भारतीयों की सोवियत-विधान की जानकारी नहीं के बराबर है। मैं चाहता हूँ कि अपनी सम्मिलित-पूँजी-प्रणाली के सम्बन्ध में आप लोग मुझे कुछ बतलाएँ।"

कवि के इस प्रश्न के उत्तर में सेमिचिको नामक एक ३२ वर्ष का नवयुवक किसान, जो यूक्रेन का निवासी था, कहने लगा—

"मैं दो वर्ष से एक सम्मिलित खेत (Collective Farm) में काम कर रहा हूं। हमारे खेत के साथ एक सुन्दर बाग़ भी है। हम गन्ना, गेहूँ और तरकारियाँ पैदा करते हैं। हमें प्रतिदिन आठ घंटे काम करना होता है। हर पाँचवें दिन छुट्टी रहती है। हमारे पड़ोस में कुछ काश्तकार निजी खेती भी करते हैं, पर हमारी उपज का औसत उनकी उपज के औसत से प्रायः दूना है। आरंभ में हमने १५० खत मिलाकर एक संयुक्त खेत बनाया था। पर १९२९ में कामरेड स्टैलिन की एक घोषणा को, जिसमें कहा गया था कि 'संयुक्त-पूँजी-प्रणाली का आधारभूत सिद्धान्त है संयुक्त-खेतों में जनता का स्वेच्छा से भाग लेना, ग़लत समझकर आधे साझीदार अलग हो गये। यही दशा अन्य फ़ार्मों की भी हुई, क्योंकि संयुक्त-कृषि के उक्त सिद्धान्त को लोगों ने ठीक से समझ नहीं पाया। जब लोगों को अपनी भूल ज्ञात हुई तब वे फिर लौट आये। आज हमारी परिस्थिति सुदृढ़ है। हमारे गाँवों में अच्छे-अच्छे घर, एक सुवृहत् भोजनालय, पाठशालाएँ आदि बन रही हैं।"

इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए साइबेरिया की एक महिला ने बताया कि संयुक्त-कृषि-प्रणाली महिला-संगठन में बहुत सहायक सिद्ध हो रही है। आज की रूसी महिलाएँ अपनी कुछ पहले की बहनों की अपेक्षा अधिक साहसी और आत्म विश्वासपूर्ण हैं। हमारी रहन-सहन का पैमाना पुरुषों के बराबर है। हमारे लिए संयुक्त खेतों में उद्यान और भोजनगृह रहते हैं।"

इसके पश्चात् कुछ अन्य कृषकों ने भी अपने-अपने अनुभव बतलाये। आगे चलकर कवि-द्वारा पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में प्रश्न किए जाने पर एक काकेशिया की युवती ने कहा—

"महाकवि! गत आक्टोबर की क्रान्ति ने हमारी अवस्था में बहुत परिवर्तन कर दिया है। हम अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक प्रसन्न, स्वस्थ और स्वतन्त्र हैं। हम नए जीवन का निर्माण कर रहे हैं, जिसमें महिलाओं का भी भाग है। हम अपने आदर्शों पर पहुँचने के लिए बड़े-

से-बड़े त्याग करने को तैयार हैं। किंडरगार्टन की प्रथा प्रचलित होने के कारण हम अपनी सन्तानों की ओर से निश्चिन्त हो गए हैं। मुझे याद है, जब मैं छोटी थी, हमारे पिता को ६ महीने काम करने के लिए शहर में रहना पड़ता था। शेष ६ महीने जब वे घर पर रहते थे, तब हम भाई-बहन धनवान् किसानों के पशु चराने के लिए घर से बाहर रहते थे। इस प्रकार हम पिता के साथ कभी नहीं रह पाते थे। अब हम अपने बच्चों को, जब वे किंडरगार्टन से शाम को लौटते हैं, प्रतिदिन देख लेते हैं। इसी से आपको ज्ञात हो जायगा कि सोवियत में पारिवारिक-जीवन का विनाश हो रहा है या पुनर्निर्माण !"

साधारण किसान-स्त्रियों के मुँह से ऐसे उत्तर सुनकर कवि को कम आश्चर्य नहीं हुआ। हठात् उनके मुँह से निकल पड़ा--

"हमारा देश अब तक अबोध है। हमारी स्त्रियाँ अशक्त हैं। उन्हें आधुनिक-युग के प्रकाश की आवश्यकता है, जिससे वे भी संसार में अपना स्थान बना सकें।"

उसी काकेशस-युवती ने उत्तर दिया--

"मैं अपना घर-बार, अपने बाल-बच्चे, अपना सब कुछ छोड़कर आपके देश चलने और आपके देशवालों की सहायता व सेवा करने के लिए तैयार हूँ।"

रूस में कवि का कार्यक्रम बहुत व्यस्त रहा। मास्को में उनके चित्रों की एक प्रदर्शनी हुई। वहाँ के छात्रों से भी कवि ने भेंट की और दोनों पक्षों में बहुत देर तक विचार-विनिमय चलता रहा। एक छात्रा ने कवि से विश्वभारती के सम्बन्ध में पूछा। जिसके उत्तर में कवि ने अपनी शिक्षण-संस्था के उद्देश्यों को विस्तारपूर्वक समझाया। एक छात्र के यह पूछने पर कि आपके स्कूल में किस श्रेणी के छात्र आते हैं, कवि ने उत्तर दिया—

"मुझे किसान बालकों और उच्चवर्ग के बालकों की शिक्षा के लिए पृथक्-पृथक व्यवस्था करनी पड़ी है। कारण यह है कि जो छात्र हमारे यहाँ पढ़ने आते हैं उनमें से अधिकाँश ऐसे होते हैं जिनका ध्येय परीक्षाएँ पास करके सरकारी या महाजनी नौकरियाँ पा लेना होता है। हमारा

देश ग़रीब है। वहाँ पढ़े-लिखे लोगों के लिए परिवार पालने का एकमात्र उपाय नौकरी है। इसी लिए किसी न किसी प्रकार परीक्षा पास करना छात्रों का मुख्य लक्ष्य रहता है। न तो उन्हें दस्तकारी की शिक्षा दी जा सकती है, न वे संगीत आदि ललित-कलाओं में अपना समय गँवाना पसन्द करते हैं। यदि उनके लिए परीक्षाओं का बन्धन न रहे तो मेरे स्कूल में एक भी छात्र दिखाई न पड़े। पर कृषक-बालकों के सामने डिग्रियों और सरकारी नौकरियों का प्रलोभन नहीं रहता, अतः उनको उपयोगी शिक्षा देने की व्यवस्था पृथक् से करनी पड़ी है। वहाँ मैं सभी प्रकारों और सिद्धान्तों के प्रयोग करता हूँ। मुझे विश्वास है कि मेरा यही स्कूल वास्तविक स्कूल रहेगा और दूसरा कुछ समय बाद उपेक्षा के गर्भ में विलीन हो जायगा।"

रूस से विदा होते समय एक सार्वजनिक सभा में कवि ने कहा—"जो कुछ थोड़ा-बहुत आपके देश में मैंने अपनी आँखों से देखा है उससे मुझे महान् आश्चर्य हुआ है। इतने अल्प समय में इतनी सर्वतोमुखी उन्नति कर डालना बहुत बड़ा कार्य है। मैं उस दिन का स्वप्न देखा करता था जब आर्य-सभ्यता की पुरातन भूमि में शिक्षा की पूर्ण सुविधा हो जायगी और प्रत्येक को उन्नति के लिए बिना किसी भेद-भाव या विचार के पर्याप्त यथेष्ट अवसर प्राप्त होगा। मुझे यह देखकर अपार सन्तोष हो रहा है कि आपके देश ने मेरा वह स्वप्न प्रत्यक्ष करके दिखा दिया है।"

रूस से कवि बर्लिन गये और वहाँ से न्यूयार्क। बोस्तन और न्यूयार्क में उनके चित्रों का प्रदर्शन बड़े समारोह के साथ हुआ। अमेरिका से वे इंग्लैंड होते हुए भारत लौट आये।

सोवियत शासन-व्यवस्था को अपनी आँखो देखकर रवीन्द्रनाथ को जो अनुभव हुए थ उनका उल्लेख 'एशियार चिठि' में उन्होंने बड़ी मार्मिक भाषा में किया है। वे लिखते हैं—

"दस ही वर्ष पहले की बात है। ये लोग हमारे देश के मज़दूरों की तरह ही निरक्षर, निरन्न और निस्सहाय थे; हमारे ही समान अन्ध-संस्कार और धर्ममूढ़ता इनमें मौजूद थी। दुःख में, आपत्ति में, विपत्ति

में देवता के द्वार पर इन्होंने भी सिर पटके हैं। परलोक के भय से पण्डे पुरोहितों के हाथ और इस लोक के भय से राजपुरुष, महाजन और ज़मींदार के हाथ अपनी बुद्धि को ये बन्धक रख चुके थे। जो इन्हें जूता मारते थे उन्हीं का जूता साफ़ करना इनका काम था। हजारों वर्ष से इनकी प्रथा और पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था, यान और वाहन, चरखा और कोल्हू—सब कुछ बाबा आदम के ज़माने के चले आते थे; इनसे जब आधुनिक यंत्रों पर हाथ रखने को कहा जाता था तब ये भी बिगड़ खड़े होते थे। हमारे देश के पैंतीस करोड़ आदमियों पर जैसे भूत सवार है, उसने जिस तरह उनकी आँखें मीच रखी हैं,—ठीक वैसा ही हाल इनका भी था। इन्हीं कुछ वर्षों में इन्होंने मूढ़ता और अक्षमता का पहाड़ हिला दिया है! कैसे ये हिला सके?—इस बात से अभागे भारत-वासियों को जितना आश्चर्य हुआ है उतना और किसको होगा, बताओ! और मज़ा यह कि जिस समय यह परिवर्तन चल रहा था उस समय हमारे देश में बहुप्रशंसित Law and Order—क़ानून और व्यवस्था—यहाँ थी ही नहीं।

"हमारे यहाँ साम्प्रदायिक लड़ाइयाँ होती रहती है, और इसके लिए हमारी खास तौर से बदनामी की जाती है। यहाँ भी यहूदी सम्प्रदाय के साथ ईसाई सम्प्रदाय की लड़ाई हमारे ही देश के आधुनिक उपसर्ग की तरह अत्यन्त कुत्सित और बड़े ही जंगली ढंग से होती थी। शिक्षा और शासन के द्वारा उन्हें एकदम जड़ से उखाड़कर फेंक दिया गया है। कितनी ही बार मैंने सोचा है कि साइमन कमीशन को भारत में जाने से पहले एक बार रूस घूम जाना उचित था।"

इसी सम्बन्ध में वे आगे चलकर लिखते हैं—

"हमेशा देखा गया है कि मनुष्य की सभ्यता में अप्रसिद्ध लोगों का एक ऐसा दल होता है जिनकी संख्या तो अधिक होती है फिर भी वे वाहन होते हैं; उन्हें मनुष्य बनने का अवकाश नहीं, देश को सम्पत्ति के उच्छिष्ट से वे प्रतिपालित होते हैं। वे सबसे कम खाकर, सबसे कम पहनकर, सबसे कम सीखकर अन्य लोगों की परिचर्या या गुलामी करते हैं, सबसे अधिक उन्हीं का अपमान होता है। बात-बात पर वे

भूखों मरते हैं, ऊपरवालों की लात खाते हैं—जीवन-यात्रा के लिए जितनी भी सुविधायें और मौक़े हैं उन सबसे वे वंचित रहते हैं। वे सभ्यता की दीवट हैं, सिर पर दिया लिये खड़े रहते हैं;—ऊपरवालों को उजेला मिलता है और उन विचारों के ऊपर गरम तेल ढलकता रहता है! मैंने इनके बारे में बहुत दिनों से बहुत सोचा है, मालूम हुआ है कि इसका कोई उपाय नहीं है। जब एक समूह नीचे न रहेगा तो दूसरा समूह ऊपर रह ही नहीं सकता। और ऊपर रहने की आवश्यकता है ही। ऊपर न रहा जाय तो बिलकुल निकट की सीमा के बाहर कुछ दिखाई नहीं देता;—मनुष्यत्व केवल जीविका-निर्वाह करने के लिए ही नहीं है। एकान्त जीविका का अतिक्रम करके आगे बढ़े तभी उसकी सभ्यता है। सभ्यता की उत्कृष्ट फ़सल तो अवकाश के खेत में ही पैदा होती है। इसी लिए सोचा करता था कि जो मनुष्य सिर्फ़ अवस्था के कारण ही नहीं, बल्कि शरीर और मन की गति के कारण नीचे रहकर काम करने को मजबूर हैं और उसी काम के योग्य हैं; जहाँ तक सम्भव हो, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, सुख और सुविधा के लिए उद्योग किया जाय। रूस में एक दम जड़ से लेकर इस समस्या को हल करने की कोशिश की जा रही है। उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा, इस बात पर विचार करने का समय अभी नहीं आया है। मगर इस समय जो कुछ आँखों के सामने चल रहा है उसे देखकर आश्चर्य होता है।

हमारी सम्पूर्ण समस्याओं का सबसे बड़ा हल है शिक्षा। अभी तक समाज के अधिकांश लोग शिक्षा की पूर्ण सुविधा से वंचित हैं—और भारतवर्ष तो प्रायः पूर्णतः ही वंचित है।

"यहाँ रूस में वही शिक्षा ऐसे आश्चर्यजनक उद्यम के साथ समाज में सर्वत्र व्याप्त होती जा रही है कि जिसे देखकर दंग रह जाना पड़ता है। शिक्षा की तौल सिर्फ़ संख्या से नहीं हो सकती, वह तो अपनी सम्पूर्णता से—अपनी प्रबलता से ही—तौली जा सकती है। कोई आदमी निस्सहाय और बेकार न रहने पाये, इस बात के लिए कैसा विराट् आयोजन और कैसा विशाल उद्यम हो रहा है। केवल सफ़ेद रूस के लिए ही नहीं—मध्य एशिया की अर्ध सभ्य जातियों में भी ये बाढ़ की तरह

शिक्षा विस्तार करते हुए आगे बढ़ रहे हैं,—जिससे विज्ञान का अन्तिम आविष्कार तक उन्हें मिले इसके लिए इतने प्रयत्न हो रहे हैं, जिनका अन्त नहीं। यहाँ थियेटर के अभिनयों में बड़ी जबर्दस्त भीड़ होती है, मगर देखनेवाले कौन हैं—किसान और मज़दूर। कहीं भी इनका अपमान नहीं। हमारे देश के सर्वसाधारण की तो बात ही छोड़ दो—इँगलैंड के मज़दूर समाज के साथ तुलना करने से ज़मीन आसमान का फ़र्क़ नज़र आता है।

"हम श्रीनिकेतन में जो काम करना चाहते हैं, ये लोग देश भर में अच्छी तरह से उसी काम को कर रहे हैं। हमारे कार्यकर्ता अगर यहाँ आकर कुछ सीख जा सकते तो बड़ा उपकार होता। रोज़मर्रा में हिन्दुस्तान के साथ यहाँ की तुलना करता हूँ और सोचता हूँ कि क्या हुआ और क्या हो सकता था। मेरे अमेरिकन साथी डाक्टर हेरी टिम्बर्स यहाँ की स्वास्थ्य-व्यवस्था की चर्चा करते हैं, उनकी कार्यपद्धति देखने से आँखें खुल जाती हैं; —और कहाँ पड़ा है रोगसन्तप्त, भूखा, अभागा, निरुपाय भारतवर्ष! कुछ दिन पहले तक भारत की अवस्था के साथ यहाँ की अवस्था में बिलकुल समानता थी—इस छोटे समय में बड़ी तेज़ी के साथ इसमें कैसा परिवर्तन हो गया है। और हम अभी तक जड़ता की कीचड़ में ही आकण्ठ डूबे हुए हैं!"

रूस तथा अन्य देशों के साथ भारत की तुलना करते हुए एक स्थान पर कवि लिखते हैं—

"बौद्धिक साहस और जनसाधारण के प्रति सहानुभूति—इन दोनों के अभाव से ही दुःखी का दुःख दूर करना हमारे देश में इतना कठिन कार्य हो गया है। परन्तु इस अभाव के लिए किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि क्लार्क-फ़ैक्टरी बनाने के लिए ही एक दिन हमारे देश में वणिक् राज्य-द्वारा स्कूल खोले गये थे। मेज़ पर मालिक के साथ बैठ लेने में ही हमारी सद्गति है। इसी लिए उम्मेदवारी में अकृतार्थ होते ही हमारी विद्या, शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। इसी लिए हमारे देश में प्रधानतः देश का काम कांग्रेस के पण्डाल और अखबारों की लेखमाला,

और शिक्षित सम्प्रदाय के वेदना-उदघोषण में ही चक्कर काटता रहा। हमारे क़लम से बँधे हाथ देश को बनाने के काम में आगे बढ़ ही न सके।

"मैं भी तो भारत के ही जलवायु में पला हूँ। इसी लिए ज़ोर के साथ इस बात को विचार में लाने की हिम्मत न कर सका कि करोड़ो जनसाधारण की छाती पर से अशिक्षा और असामर्थ्य का पहाड़ उतारना सम्भव है। सोचा करता था, समाज का जो एक चिरबाधाग्रस्त नीचे का अंश है, जहाँ कभी भी सूर्य का प्रकाश पूर्ण रूप से नहीं पहुँचाया जा सकता, वहाँ कम से कम तेल की बत्ती जलाने के लिए कमर कसकर जुट जाना चाहिए। परन्तु साधारणतया इतना-सा कर्तव्य-बोध भी लोगों के दिल पर काफ़ी ज़ोर का धक्का नहीं मारता, क्योंकि जिन्हें हम अँधेरे में देख ही नहीं सकते उनके लिए कुछ भी किया जा सकता है—यह बात भी पूरी तरह से मेरे मन में नहीं आती। इसी तरह के स्वल्प साहसी हृदय को लेकर मैं रूस आया था। सोचा था, यहाँ जो किसानों और मज़दूरों में शिक्षा-प्रचार की बड़ी कीर्त्ति सुनी है उसके मानी हैं कि उन्हें शिशु-शिक्षा का पहला या दूसरा भाग पढ़ा दिया गया होगा, या दस तक पहाड़े रटा दिये गये होंगे! पर मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आठ वर्ष के स्वल्पकाल में इन लोगों ने असाध्य-साधन किया है। देश को इस सिरे से उस सिरे तक नवीन जीवन और नवीन प्राण से सजीव कर दिया है! यहाँ का साधारण मज़दूर भी शिक्षा और ज्ञान में भारतवर्ष के औसत शिक्षित व्यक्ति से अधिक योग्य है।"

सोवियत के लक्ष्य के सम्बन्ध में एक स्थान पर कवि लिखते हैं—

"याद है तुम्हें, इन्हीं लोगों ने लीग आफ़ नेशन्स में अस्त्र निषेध का प्रस्ताव भेजकर कपटशान्ति के इच्छुकों के मन को चौंका दिया था! क्योंकि अपना प्रताप बढ़ाना या उसकी रक्षा करना सोवियतों का लक्ष्य नहीं है। इनका उद्देश्य है सर्वसाधारण की शिक्षा, स्वास्थ्य, अन्न और जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय-उपकरणों को प्रकृष्ट प्रणाली से व्यापक बना देना; इन्हीं बातों के लिए निरुपद्रव शक्ति की सबसे अधिक आवश्यकता है।"

जीवन-संध्या

टैगोर सप्ताह और अभिनन्दनग्रन्थ

कवि अब ७० वर्ष के हो चुके थे। उनकी कीर्त्ति दिगन्तव्यापिनी हो रही थी और समस्त संसार ने उन्हें एकमत होकर विश्वकवि के उच्चतम आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया था। १६ मई, १९३१ को भारत के अनेक गण्यमान्य विद्वानों ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में एकत्र होकर एक सभा की, जिसमें निश्चय किया गया कि कवि की ७०वीं वर्षगाँठ अभूतपूर्व समारोह और शान के साथ मनाई जाय। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री इस सभा के सभापति थे। एक कमिटी बनाई गई जिसके प्रधान श्री जगदीशचन्द्र वसु थे। इस कमिटी ने निश्चय किया कि बड़े दिन के अवसर पर टैगोर सप्ताह मनाया जाय। इस आयोजन को कार्यरूप देने का प्रयत्न बड़े समारोह और उत्साह के साथ होने लगा। इन्हीं दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत कालिज के पंडितों ने सभा करके सर्वसम्मति से कवि को 'कवि सार्वभौम' की उपाधि प्रदान की।

'टैगोर सप्ताह' का मेला अभूतपूर्व और दर्शनीय था। इस मेले का प्रत्येक अग रवीन्द्रनाथ के कृत्यों में से किसी-न-किसी का परिचायक था। उदाहरणार्थ इसमें एक चित्रों की प्रदर्शनी थी, जिसमें बंगाली चित्रकारों, शान्तिनिकेतन के कलाकारों और स्वयं रवीन्द्रनाथ के बनाये हुए चित्र सुसज्जित थे। एक बंगाली-साहित्यिक-गोष्ठी थी जिसमें कवि की विभिन्न बँगला कृतियाँ पढी-सुनी जाती थीं। श्री शरच्चन्द्र चटर्जी इस गोष्ठी के अध्यक्ष थे। एक संगीत-परिषद् का आयोजन किया गया था जिसमें शान्तिनिकेतन की छात्राएँ कवि के चुने हुए सत्तर गीत स्वरताल सहित गाकर सुनाती थीं। एक इँग्लिश गोष्ठी थी जिसमें कवि के सम्वन्ध में अँगरेजी लेख पढ़े जाते थे। इनके सिवाय ग्राम-गीतों, नृत्य, कहानियाँ आदि का भी प्रतिनिधित्व सुन्दर रूप में किया गया था। दो रंगमंच भी वनाये गये थे जिन पर कविकृत 'शापमोचन' तथा अन्य नाटकों का अभिनय होता था। इसी अवसर पर कवि को भेंट करने के लिए 'गोल्डन-बुक आफ़ टैगोर' नामक बृहद् ग्रन्थ तैयार किया गया था, जिसमें रवीन्द्रनाथ पर संसार भर के २०० से अधिक विद्वानों के लेख संगृहीत हैं।

अभिनंदन ग्रन्थ के कुछ प्रमुख लेखकों के नाम इस प्रकार हैं—महात्मा गांधी, सर जगदीशचन्द्र बसु, ग्रीक कवि कास्टस पेलामास, रोम्येरोलाँ, श्रीमती सेलमा लेजरलोफ़ (स्वेडन), नट हम्सन (नार्वे), थामस मैनन, प्रोफ़ेसर समरफ़ील्ड, डब्ल्यू० बी० ईट्स, सिनक्लेयर लेविस, जान बोजर, बरट्रांड रसेल, हैवलक एलिस, गिल्बर्ट मरे, डिकिन्सन, लारेंस बिन्योन, विलियम रोथेन्स्टीन, सर मिचेल सैडलर, एच० डबल्यू० नेविनसन, ई० बी० हैवेल, सी० पी० स्काट, एडविन ए० राबिन्सन (अमेरिका) अपटान क्लोज़, विल डुरेण्ट, जे० एच० होम्स, जे० टी० संडरलैण्ड, वेसीलेन्को (रूस), प्रोफ़ेसर पेट्रोव, मिस्टर पालवेलरी (फ़ांस), कास्टिस पालमास (एथन्स) डाक्टर फ़ारमिची (इटली), प्रोफ़ेसर सिलवेन लेवी (परिस) डाक्टर विण्टरनीज़ (प्रेग), प्रोफ़ेसर स्टेन कोनो (ओसलो) प्रोफ़ेसर कार्लो फ़ार्मिची (रोम), लिन येन होन (पेकिंग), योन निगूची (टोकियो) मेंगकोनागोरो (सोराकार्त्ता के सुल्तान), नोतो सोइरोत।

(जावा)। इनके सिवा ईरान, मिश्र, और तुर्की के विद्वानों की श्रद्धांजलियाँ भी इसमें संगृहीत हैं। २७ दिसम्बर को कलकत्ते के टाउनहाल में कवि के अभिनन्दनार्थ एक विशाल सभा हुई और उसी अवसर पर यह अभिनन्दन ग्रन्थ कवि को भेंट किया गया।

टैगोर-सप्ताह का उत्सव अभी चल ही रहा था कि ४ जनवरी १९३२ को महात्मा गांधी को सरकार ने गिरफ़्तार कर लिया। इस गिरफ़्तारी के विरोध में उत्सव रोक दिया गया।

विश्वभारती—शान्तिनिकेतन : श्रीनिकेतन

इस संस्था के विषय में हम पीछे बहुत कुछ लिख आये हैं। विश्वभारती का विधिपूर्वक उद्घाटन २२ दिसम्बर, १९२१ को हुआ था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस विश्वप्रख्यात संस्था के आदर्श को भली प्रकार हृदयंगम करने के लिए शान्तिनिकेतन के इतिहास पर एक बार आरम्भ से दृष्टि डालना आवश्यक है।

शान्तिनिकेतन के निर्माण में अनेक महापुरुषों ने योग दिया है। इनमें से सर्वप्रथम महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे। जिस स्थान पर शान्तिनिकेतन स्थापित है वह पहले एक उजाड़ और अनुर्वर भूखण्ड था। इसी स्थान पर अड्डा बनाकर डकैतों और बटमारों का एक दल यात्रियों को लूटा करता था। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर एक बार किसी मित्र के यहाँ जाते हुए यहाँ से निकले। दो सप्तपर्णियों के बीच उन्होंने अपना तम्बू लगाया और कुछ दिन तक यहीं आत्मचिन्तन में तल्लीन रहे। इस स्थान की शान्ति और नीरवता ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया। जिसका फल यह हुआ इस स्थान पर उन्होंने एक आश्रम स्थापित करने का निश्चय कर लिया।

इस निश्चय के पश्चात् महर्षि ने उस स्थान को उर्वर बनाने का प्रयत्न किया। खराब और अनुपजाऊ मिट्टी को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे स्थान से ला-लाकर अच्छी मिट्टी डाली गई और भाँति-भाँति के फूल-फलों के पौदे और वृक्ष लगाये गये। वहाँ ठहरने के लिए एक घर भी बनाया गया। जब शान्तिनिकेतन

एक हरा-भरा और रमणीय स्थान बन गया तब महर्षि ने उसे जनता-जनार्दन के नाम दान कर दिया और ६०००) वार्षिक की आय भी उससे लगा दी। इस धन का उपयोग कोई व्यक्ति, जो इस आश्रम में रहकर परमतत्त्व का चिन्तन करना चाहे, कर सकता था। उसके लिए न जाति-पाँति का कोई बन्धन था, न धर्म या विश्वास का। शर्तें केवल ये थीं कि शान्तिनिकेतन में रहते हुए मांस न खाये और किसी की निन्दा न करे।

३० वर्ष तक शान्तिनिकेतन में कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। न कोई आत्मचिन्तक आता था, न कोई उपासक था। एक वेतनभोगी ब्रह्मधर्म के अनुसार उपासना की रस्म अदा कर देता था। महर्षि शान्ति-निकेतन की इस अवस्था से परिचित थे, फिर भी उन्हें इसके उज्ज्वल भविष्य का विश्वास था।

जब बंगाल में अँगरेजी शिक्षा का विरोधी वातावरण तैयार हुआ, तब रवीन्द्रनाथ के मस्तिष्क में भी एक ऐसे स्कूल की स्थापना का विचार आया जो उन सभी दुर्गुणों से मुक्त हो जो तत्कालीन शिक्षण संस्थाओं में पाये जाते थे और जिनके प्रति उनके मस्तिष्क म शैशव से ही घृणा के भाव पैदा हो गये थे। वे एक ऐसे आदर्श स्कूल की स्थापना का स्वप्न देख रहे थे जिसमें छात्र प्रकृति के सीधे सम्पर्क में रहकर शिक्षा प्राप्त करें। उन पर कोई बन्धन-नियन्त्रण न हो। जहाँ छात्र के हृदय और मस्तिष्क का साथ साथ विकास हो। अपने इस स्कूल के लिए शान्तिनिकेतन का स्थान उन्हें ठीक जँचा जहाँ वे महर्षि के साथ बचपन में दो एक बार हो आये थे। महर्षि से जब उन्होंने अपना विचार प्रकट किया तब महर्षि ने इसके लिए सहर्ष स्वीकृति दे दी। इस प्रकार दिसम्बर, १९०१ में शान्तिनिकेतन-विद्यालय की स्थापना हुई।

यह स्पष्ट है कि इस विद्यालय की स्थापना करते समय रवीन्द्र-नाथ के मस्तिष्क में भारत के उन प्रान्तीय तपोवनों का चित्र था जिनमें रहकर गुरु और शिष्य साथ-साथ आध्यात्मिक-विकास किया करते थे। जिनका आदर्श था—हम दोनों गुरु-शिष्य साथ-साथ रहें, साथ-साथ भोजन करें, साथ-साथ बल और बुद्धि का संचय करें।

हम किसी से द्वेष न करें। ऐसे आश्रमों की कल्पना रवीन्द्रनाथ को कालिदास के काव्यों से तथा अन्य आरण्यक ग्रन्थों से प्राप्त हुई थी। अपने कई भाषणों में—जो उन्होंने अपने पश्चात् जीवन में विदेशों में दिये थे, उन्होंने ऐसी शिक्षा-संस्थाओं का उल्लेख किया है। यहाँ तक कि उन्होंने अपने एक भाषण में जर्मनी में कहा था कि हम आधुनिक विश्वविद्यालयों के स्थान पर पुराने भारत के आदर्श तपोवन-विद्यालयों की स्थापना करनी होगी, तभी हम शिक्षा के मूलतत्त्व को प्राप्त कर सकेंगे।

यही नहीं, कई लेखों-द्वारा भी उन्होंने ऐसे विद्यालयों की स्थापना की वकालत की है। वे शान्तिनिकेतन के विद्यालय को इसी रूप में चलाकर अपने स्वप्नों को साकार रूप देना चाहते थे और चाहते थे संसार के सामने एक निर्दोष शिक्षण-संस्था का नमूना रखना, जहाँ पूर्वी और पश्चिमी दोनों संस्कृतियों का मेल हो, पर जो दोनों के अवगुणों से मुक्त हो। ऐसे तपोवनों की प्रशंसा करते हुए एक लेख में वे लिखते हैं—

"वन सजीव होते हैं, मरुभूमि, समुद्र या पथरीली भूमि की भाँति निर्जीव नहीं। वहाँ जीवन को शरण और पोषण प्राप्त होता है। ऐसे ही वातावरण में भारत के प्राचीन वानप्रस्थों ने विश्वात्मा के साथ ऐकात्म्य का अनुभव किया था और अपने मस्तिष्कों में 'अद्वैतम्' की भावना को दृढ़ किया था।"

ऐसे आदर्श विद्यालय की कल्पना एक भाषण में उन्होंने इस प्रकार व्यक्त की थी—

"हमारा आदर्श विद्यालय, खुले मदान में वृक्षों की छाया में स्थापित होगा—शहर के कोलाहल से बहुत दूर! शिक्षक स्वयं भी अध्ययन करेंगे और शिष्यों को भी पढ़ायेंग और शिष्य एक शान्त वातावरण में अपने मन और शरीर का विकास करेंगे। यदि सम्भव हुआ तो तो विद्यालय के साथ उद्यान और खेत भी रहेंगे। छात्र खेती के काम में योग देंगे, गायें दूहेंगे और पशुओं की देखभाल करेंगे। अवकाश के समय वे लोग भूमि खोदकर वृक्ष लगायेंगे, और उन्हें पानी देंगे। कक्षायें वृक्षों की

छाया में लगेंगी। छात्र शिक्षकों के साथ हरे-भरे मैदानों में भ्रमण करना सीखेंगे। इस प्रकार प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो जायगा, जिसका सम्बन्ध केवल भावों से ही नहीं, कार्यों से भी होगा।

आधुनिक अँगरेजी शिक्षा-प्रणाली में रवीन्द्रनाथ को इसके अतिरिक्त एक दोष और भी दिखाई देता था। वह शिक्षा जीवन से सम्बन्ध नहीं रखती। वह कुछ ऐसी वस्तु है जिसका छात्र के दैनिक जीवन से मेल नहीं होता। इसी लिए उनका विचार विद्यालय में देशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने का था। वे चाहते थे कि शिक्षा की प्रेरणा देहाती गीतों और कहानियों से ली जाय जिनका बच्चे के जीवन के साथ सीधा और घनिष्ठ मेल होता है।

इन्हीं विचारों और आदर्शों को सामने रखकर शान्तिनिकेतन विद्यालय का कार्य आरम्भ हुआ।

आरम्भ में कुल ५ विद्यार्थी थे और २ अध्यापक। विद्यार्थियों में एक तो कवि के पुत्र श्री रथीन्द्रनाथ ठाकुर थे और दूसरे सन्तोषचन्द्र मजुमदार। ३ छात्र और थे। अध्यापकों में एक श्री जगदानन्द राय थे जो सन् १९३३ तक शान्तिनिकेतन में बने रहे, दूसरे शिवधान विद्यार्णव थे जो एक वर्ष कार्य करने के पश्चात् वहाँ से चले गये। प्रबन्ध और व्यवस्था का भार श्री ब्रह्मबान्धव उपाध्याय को सौंपा गया था जो स्वयं रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई होते हुए भी भारत की रीति रिवाजों में आस्था रखते थे। उपाध्याय जी केवल १ वर्ष रहकर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के लिए आश्रम से अलग हो गये।

शान्तिनिकेतन के छात्र साल भर नंगे पाँव रहा करते थे और भोजन पकाना छोड़कर शेष सब काम अपने हाथ से किया करते थे। सवेरे नित्य नियम से निवृत होकर सब छात्र और अध्यापक एक वृक्ष के नीचे एकत्र होकर समवेत स्वर से वैदिक मंत्रों का उच्चारण करते थे या रवीन्द्रनाथ का रचा हुआ कोई गीत गाते थे। प्रार्थना के समय सभी को चेली पहननी पड़ती थी। वृक्षों की छाया में पढ़ाई होती थी आरम्भ में विद्यार्थियों से पढ़ाई और भोजन के लिए कुछ नहीं लिया

जाता था। सब व्यय कवि अपने पास से देते थे। कुछ दिन बाद फ़ीस का नियम रखना पड़ा जो आरम्भ में १५) प्रतिछात्र प्रतिमास ली जाती थी।

जनता की सहानुभूति आरम्भ में शान्तिनिकेतन के साथ बहुत कम थी। साधारणतया लोग इसे कवि का स्वप्न समझते थे। बहुत दिन बीत जाने पर भी जनता की इस धारणा में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। और जसा कि कवि चाहते थे, वैसा आदर शान्तिनिकेतन का कभी नहीं हो सका। हाँ, यह अवश्य था कि जनता शान्तिनिकेतन को आश्चर्य की दृष्टि से अवश्य देखती थी और उसके विषय में लोगों में भाँति-भाँति की अफ़वाहें फैली हुई थीं।

विद्यालय के तीसरे वर्ष सतीशचन्द्र राय आकर उसके अध्यापक बने। ये अपूर्व प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। कवि ने इनकी प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा है। पर आश्रम के दुर्भाग्य से इनकी सेवायें चिरस्थायी न हो सकीं और एक वर्ष अध्यापन कार्य करने के पश्चात शान्तिनिकेतन में ही ये स्वर्गगामी हुए।

उसी वर्ष के ग्रीष्मकाल में मोहितचन्द्र सेन शान्तिनिकेतन के अध्यक्ष बनकर आगये जिनकी योग्यता और प्रतिभा का योग पाकर विद्यालय दिन-दिन उन्नति करने लगा। छात्रों की सख्या में भी वृद्धि हुई। सन १९०४ में ये भी स्वगगामी हुए।

इसके बाद बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन चला। रचनात्मकार्य के लिए यह स्वर्ण-संयोग था। स्वयं रवीन्द्रनाथ इस आन्दोलन के नेताओं में से थ और ठाकुर परिवार के अन्य सदस्य भी इसमें क्रियात्मक योग दे रहे थे। पर रवीन्द्रनाथ के मन में भारतीय समस्या का हल दूसरे प्रकार से आ चुका था। उनका कथन था कि भारत की पुरानी दस्तकारियों को बिना पुनर्जीवित किये और बिना ग्रामों का संगठन किये भारत का स्वाधीन होना असंभव है। जब तक भारत के देहातों के निवासियों में अपनी आवश्यकता को स्वयं पूरा करने की योग्यता नहीं आती तब तक वह दूसरे देशों का मोहताज रहेगा और तब तक स्वदेशी-आन्दोलन सफल न होगा। सन् १९०५ में उन्होने लिखा था—

"अधः पतितों और घृणितों को—जो अपमान सहने के आदी हो गये हैं और जिन्हे अपने मानव-अधिकारों का भी ज्ञान नहीं रहा है—उठाकर 'भाई' शब्द के अर्थ समझाने होंगे। उन्हें बलवान् बनने और आत्मरक्षा करने की शिक्षा देनी होगी। यही एक उपाय है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को एक-एक गाँव अपनी ज़िम्मेदारी पर लेना होगा और उसका संगठन करना होगा। उन्हें पढ़ना-लिखना सिखाना होगा और यह भी बताना होगा कि अपनी संगठित शक्ति का उपयोग वे किस प्रकार करें जिससे कि अपने दुर्भाग्य में कुछ सुधार कर सकें। इस ज़िम्मेदारी के काम को उठाते समय पैसे और कीर्ति की परवाह छोड़ देनी होगी। यह भी आशा नहीं करनी चाहिए कि जिनके लिए तुम अपना जीवन उत्सर्ग कर रहे हो, वे तुम्हारा उपकार मानेंगे; प्रत्युत संभव है कि तुम्हें उनके विरोध का भी सामना करना पड़े, जिसके लिए पहले से ही तैयार रहना चाहिए।"

परन्तु इतना होते हुए भी रवीन्द्रनाथ यह नहीं चाहते थे कि शान्ति-निकेतन के छात्र राजनीति में भाग लें। इसके लिए वे शान्तिनिकेतन के निवासियों को पत्रों और व्याख्यानों-द्वारा बार-बार चेतावनी देते रहते थे। यहाँ तक कि सन् १९२१ के वृहत् असहयोग आन्दोलन में भाग लेने से भी उन्होंने छात्रों को जर्मनी से पत्र लिखकर रोका था।

स्वदेशी आन्दोलन में भाग लेकर कलकत्ता विश्वविद्यालय का बायकाट करनवाले छात्रों के लिए बंगाली देशभक्तों ने एक 'जातीय शिक्षा परिषद्' नामक संस्था की स्थापना की थी। इसके संस्थापकों में रवीन्द्रनाथ भी प्रमुख थे। कवि का विचार था कि शान्तिनिकेतन को भी इसी संस्था से संबद्ध कर दिया जाय, पर न वह संस्था चल सकी न शान्तिनिकेतन को उसके साथ जोड़ने की नौबत आई। हम पीछे लिख आये हैं कि स्वदेशी आन्दोलन में जब उपद्रवकारियों का हाथ बढ़ गया था तब रवीन्द्रनाथ उससे पृथक् होकर पुनः शान्तिनिकेतन में लौट आये थे। फिर वे तन-मन-धन से शान्तिनिकेतन के कार्यों में योग देने लगे। इन्हीं दिनों अजितकुमार चक्रवर्ती भी शान्तिनिकेतन में अध्यापक होकर आये जिनके बौद्धिक सहयोग से आश्रम की बहुत उन्नति हुई। शान्ति-

निकेतन पर बहुत से लेख लिख लिखकर अजित बाबू ने विभिन्न पत्रों में प्रकाशित कराये जिससे देशवासियों की इसके संबन्ध की जानकारी बहुत कुछ बढ़ गई। १९१८ तक वे शान्तिनिकेतन में कार्य करते रहे।

ये शान्तिनिकेतन के बचपन के दिन थे। फिर भी रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व और शान्तिनिकेतन में निवास करने के कारण उसमें एक अद्भुत आकर्षण था। रवीन्द्रनाथ की वर्द्धमान ख्याति और शान्तिनिकेतन के प्रशान्त वातावरण में अध्ययन की सुविधा देखकर पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य्य (शास्त्री महाशय) इन्हीं दिनों बनारस से शान्तिनिकेतन में आगये। शास्त्री जी ने अपने एक लेख में शान्तिनिकेतन की तत्कालीन अवस्था का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। वे लिखते हैं—

"शान्तिनिकेतन के सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जानता था। उस समय शान्तिनिकेतन-आश्रम में स्व० मोहित बाबू थे, और हम लोगों के पूजनीय श्रीयुत भूपेन्द्रनाथ सान्याल आश्रम की सारी व्यवस्था का पर्यवेक्षण करते थे। भूपेन दादा मुझे जानते थे। गुरुदेव को तब रवि ठाकुर से भिन्न मैं कुछ नहीं समझता था। वे ठाकुर-परिवार की सन्तान और कवि हैं, इसके अतिरिक्त उनके प्रति सम्मान और श्रद्धा करने का मेरे लिए तब कोई भी कारण न था। काशी से किस उद्देश्य से मैं शान्ति-निकेतन आने के लिए उद्यत हुआ था, कह नहीं सकता। भविष्य में वहाँ मेरा अच्छा-बुरा क्या होगा, यह बात मेरे ध्यान में नहीं आई थी। वहाँ आने के पहले तो रुपये-पैसे की बात ज़रा भी मेरे मन में नहीं उठी थी। कारण, पैसा पैदा न करने से सांसारिक काम नहीं चलेगा, उस समय मेरी मानसिक अवस्था ऐसी नहीं थी। मेरे पिता जीवित थे, और मेरे बड़े भाई ने संसार का सारा भार अपने ऊपर ले लिया था। मैंने संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया था, इसी से परिवार वालों में किसी को मुझसे पैसा पाने की आशा भी नहीं थी। जो कुछ भी हो, मेरी दक्षिणा ३०) मासिक स्थिर हुई थी।

"फिर उस समय शान्तिनिकेतन की किस चीज़ ने मुझे काशी से आने के लिए आकर्षित किया था? संस्कृत आलोचना के इतने बड़े क्षेत्र का परित्याग करके मैं यहाँ आया था! किसी एक निर्जन-निरुपद्रव

वाटिका-भवन में पुस्तकालय के बीच पढ़ने-लिखने की आकांक्षा अत्यधिक थी। जब मैंने सुना कि शान्तिनिकेतन एक लम्बे-चौड़े मैदान के बीच एक बग़ीचे में स्थित है, वहाँ एक पुस्तकालय भी है और उसमें संस्कृत की अनेक पुस्तकें हैं, तब मेरे यहाँ आने की बात तय हो गई। मेरे किसी-किसी निष्ठावान् बन्धु ने कहा था—'रवि ठाकुर के संसर्ग में आकर तुम ब्राह्म होने जा रहे हो।' किसी-किसी ने कहा था—'जाओ, रवि बाबू बड़े आदमी हैं, उनके साथ रहने से तुम्हारा भला होगा।' जो कुछ भी हो, मैं यहाँ आने के लिए तैयारी करने लगा।

"११ या १२ माघ को दोपहर में बनारस-कैन्टोनमेण्ट से बोलपुर तक का टिकट कटाकर ढाई बजे मोग़लसराय स्टेशन उतरा। यहाँ गाड़ी बदलकर मुझे पंजाब मेल से जाना था। यहाँ मेरी मुलाक़ात एक भद्र बंगाली सज्जन से हुई। उन्होंने कहा—'पाँच-छः दिन हुए महर्षि का स्वर्गवास हो गया है।' मैं जल्दी से अपनी गाड़ी में जा बैठा। रात के साढ़े दस बजे गाड़ी मोकामा स्टेशन पहुँची। यहीं मैं उतर पड़ा। यहाँ से मुझे लूप-लाइन की गाड़ी से जाना था। गाड़ी बदलकर मैं सो गया। जितनी देर नींद नहीं आई, मैं शान्तिनिकेतन की नाना रूप कल्पना-छवि आँकने लगा।

"सवेरा हुआ। साँई स्टेशन पर आ पहुँचा था। उधर से यह मेरी नई यात्रा थी, इससे ई० आई० आर० का एक टाइम-टेबिल साथ ले लिया था। उसी को देख-देखकर बोलपुर स्टेशन के आने की राह देखता रहा। अहमदपुर आ पहुँचा। इसके बाद ही बोलपुर है। उस समय उन दोनों के बीच दूसरे दो स्टेशन नहीं थे। कोपाई नदी का पुल पार करके रेल-लाइन एक गम्भीर गड्ढे से होकर गुज़री। यह जगह चारों ओर से ऊँची है, इसी लिए रेल-लाइन को समतल ज़मीन पर बिछाने के लिए यहाँ की मिट्टी को खोदकर लाइन के दोनों ओर फेंक दिया गया है।

देखने में ये बड़ी ही अच्छी मालूम पड़ती थीं। रेलगाड़ी जब इसी रास्ते से चली, तब मन में यह विचार उठा कि यदि शान्तिनिकेतन कहीं इसी के समीप हो, तो मैं यहीं घूमने के लिए आया करूँगा। इसमें कोई कमी न होगी। इसके बाद बोलपुर आया। मैं गाड़ी से उतर पड़ा।

"बाहर आकर देखा, बहुत-सी बैलगाड़ियाँ खड़ी हैं। उस समय साधारण आदमी शान्तिनिकेतन को उतना नहीं जानते थे। भुवन-डांगार काच-बांगला नाम से ही वे विशेष परिचित थे। मेरे शान्तिनिकेतन कहने पर पहले तो गाड़ीवान समझ ही नहीं सके। जो भी हो, चार आने में एक गाड़ी करके मैं शान्तिनिकेतन के लिए रवाना हुआ। कुछ दूर उत्तर की ओर आने के बाद गाड़ी भुवन डांगा ग्राम के बीच से होकर एक बड़े बाँध के दक्षिण होकर आ उपस्थित हुई। यह बाँध उस समय और भी लम्बा-चौड़ा था। उसके पश्चिम दिशा में ताड़ के वृक्षों की एक बहुत घनी और विस्तृत श्रेणी थी। प्रथम दर्शन में ही मुझे यह कितनी सुन्दर दिखाई पड़ी थी, कह नहीं सकता। उस समय बाँध में बहुत ज्यादा पानी रहता था। शान्तिनिकेतन की पद्मा और चित्रा नामक दो छोटी-छोटी नावें इसी में थीं। इनमें एक दीनू बाबू की थी। इसी नौका का डाँड़ खींचकर पाल लगाकर एक दिन कितने ही खेल खेले गये थे। कालक्रम से बाँध की अवस्था खराब हो जाने पर कुछ दिन हुए इसका पुनः संस्कार किया गया है। बाँध के किनारे बैलगाड़ी खड़ी कराकर मैं हाथ-मुँह धोने लगा। यहीं से मैं देख सका कि शान्तिनिकेतन के शाल-वृक्षों की श्रेणी दिखाई पड़ रही है।

"बैलगाड़ी में फिर जा बैठा। देखते ही देखते वह धीरे-धीरे आदि कुटीर के निकट आ उपस्थित हुई। मैं बैलगाड़ी से उतर पड़ा। लड़कों के रहने के लिए घर ही आश्रम में सबसे पहले तैयार किये गये थे, इसी से इनको यह नाम दिया गया था। इनकी दीवारें मिट्टी की थीं और ये रानीगंज-टाइल से छाये हुए थे। मकान से लगे हुए दक्षिण और उत्तर में एक-एक पतला बरामदा था। उस समय छात्रों के लिए एकमात्र यहीं घर था। उस समय उसके उत्तर-पूर्व में एक पेड़ के नीचे एक बहुत बड़ा

कुआँ था। इसी के पास ईशानकोण में एक छोटी-सी झोपड़ी थी, जिसका चिह्न आज भी देखा जाता है। इसके पश्चिमवाली कोठरी में दीनू बाबू रहते थे। बीच की कोठरी शिक्षकों के बैठने-उठने के लिए थी और पूरब वाली कोठरी में कौन रहता था, याद नहीं। महर्षि के श्राद्ध के लिए दीनू बाबू कलकत्ता चले गये थे। इसी लिए उनकी कोठरी में रहने के लिए मुझे स्थान मिला।

"पहली बार देखने में ही आश्रम मुझे अच्छा लगा। धीरे-धीरे उसके चारों ओर घूम-फिर कर मैं वहाँ का सारा दृश्य देखने लगा। आश्रम शाल और ताड़ वृक्षों की श्रेणी से परिवेष्ठित एक बगीचे के बीच में था। मेरे मकान के नज़दीक ही विशाल अतिथि-भवन था। यह एक दोतल्ला मकान था। उसके सामने लाल कंकड़ों से ढँका एक चौड़ा रास्ता था। इसके दोनों किनारों पर बड़े-बड़े आमलक वृक्षों की पंक्तियाँ थीं। इसके बाद एक बहुत बड़ा फाटक था। उसके ऊपर सुनहले अक्षरों में लिखा हुआ था—"ॐ तत् सत् ब्रह्म। एकमेवाद्वितीयम्।" उसके पास ही पूरब की ओर मन्दिर था, जिसकी सभी दीवारें शीशे की थीं, और कोई आवरण नहीं था। फ़र्श संगमरमर से बँधा था। सामने पूरब की ओर एक बहुत अच्छा बरामदा था, वहाँ सब कुछ परिष्कार-परिच्छन्न और निर्जन-नीरव था। मन्दिर के सामने दक्षिण की ओर एक छोटी-सी फुलवारी थी, जिसमें छोटी-छोटी वेदियाँ बनाकर उनमें अनेक प्रकार के फूल लगाये गये थे। इन वेदियों पर बहुत अच्छी-अच्छी बातें लिखी हुई थीं। मन्दिर के प्रकाण्ड तोरण पर "सर्वे वेदा यत्पद मामन्ति" आदि उपनिषद् के श्लोक सोने के पानी से बड़े-बड़े अक्षरों में लिखे हुए थे। आश्रम के बहुत-से स्थानों में ही उपनिषद् के वाक्य लिखे या उत्कीर्ण थे। यह मन्दिर मुझे बहुत अच्छा लगा था। मन्दिर के भीतर पश्चिम ओर आचार्य का आसन था। उसकी दोनों बगलों में और सामने धर्म-ग्रन्थ रखने के लिए संगमरमर की छोटी-छोटी चौकियाँ थीं। पूरब की ओर संगीत करनेवालों के आसन और बाजे थे। पूरब-पश्चिम की ओर उपासकों के लिए कार्पेट के आसन थे। प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल नियमित रूप से धूप-धूना जलाकर और काँसे का घंटा बजाकर उपासना

होती थी, भले ही वहाँ कोई आये या न आये। यही मन्दिर के प्रतिष्ठाता महर्षि देवेन्द्रनाथ की व्यवस्था थी। यह देखकर मेरा मन भर आया।

"यहाँ से थोड़ी दूर पर वायव्य दिशा की ओर महर्षि का साधना-स्थल था। दो सप्तपर्णी वृक्षों के नीचे की वेदियों में से एक संगमरमर की थी। इसी के ठीक ऊपर एक पत्थर के टुकड़े पर "वह मेरी आत्मा का सुख है, मन का आनन्द है, आत्मा की शान्ति है," आदि कितने ही वाक्य खुदे हुए थे। सप्तपर्णी वृक्षों की एक प्रधान डाल पर लिखा हुआ देखा—"सत्यात्मप्राणाराम"। वेदी के सामने कुछ दूरी पर संगमरमर के एक टुकड़े पर लिखा हुआ था—"ॐ शान्तं शिवमद्वैतम्"। उस समय यह स्थान लता-पत्तों से खूब आच्छादित था। दोनों सप्तपर्णी वृक्षों के ऊपरी हिस्से को एक मालती लता ने ढँक रक्खा था। ये सब मुझे क्रमशः अधिकाधिक आकर्षित करने लगे।

"मैं पुस्तकालय देखने गया। उस समय वह बिलकुल छोटा था। वर्त्तमान पुस्तकालय के बीच के सामनेवाले बरामदे से जो एक बड़ा घर दिखाई पड़ता है, वही उस समय आश्रम का पुस्तकालय था। यद्यपि उसमें पुस्तकों की संख्या अधिक नहीं थीं; फिर भी जो थीं चुनी-चुनी पुस्तकें थी। वहाँ अँगरेज़ी की सारी पुस्तकें गुरुदेव की थीं और संस्कृत की सारी पुस्तकें आदि ब्राह्म-समाज की। आदि ब्राह्म-समाज के पुस्तकालय में बहुत-सी पुस्तकें संगृहीत थीं। वेद, वेदान्त, उपनिषद्, तन्त्र आदि अनेक विषयों की पुस्तकें इस संग्रह में थीं। स्वर्गीय रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी के अनुरोध के बाद ये पुस्तकें बंगीय साहित्य-परिषद् को दान की गई थीं। आदि-ब्राह्म-समाज के पुस्तकालय में उस समय की मुद्रित बहुत-सी संस्कृत की पुस्तकें थीं। बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित समस्त संस्कृत-ग्रंथ इस संग्रह में वर्त्तमान थे। जिन ग्रन्थों को मैंने देखा था, उन्हें देखकर मेरा मन जो कुछ चाहता था, वह उसे वहाँ मिल गया। इसके अतिरिक्त इसके चारों ओर के प्राकृतिक सौंदर्य के बारे में तो मैं कुछ कहूँगा ही नहीं। जिधर देखता, उधर ही मेरी आँखें आबद्ध हो जाती। केवल देखने ही देखने से आशा दूर नहीं होती।

"आश्रम में छोटी-छोटी उम्र के सिर्फ़ बीस-पचीस छात्र थे। आश्रम उस समय ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से प्रसिद्ध था। लड़के ब्रह्मचारी थे। जहाँ तक संभव था, वे व्रत पालन करते। वे बड़े सवेरे स्तोत्र-पाठ करके बिस्तरे से उठते, थोड़ा व्यायाम करते, स्नान-संध्या करते और सब एकत्र होकर स्तोत्र पाठ करते। वे निरामिष आहार करते, जूते और छाते का व्यवहार न करते और अपना काम अपने हाथ से करते। वे अपने शिक्षकों के आज्ञानुवर्त्ती थे। संयम और विनय में वे अभ्यस्त थे और थे अतिथि-परिचर्या में उत्साही। अध्ययन करने के समय वे एक लम्बा गेरुआ कुर्त्ता पहनते। पेड़ के नीचे अध्यापक को प्रणाम करके झाड़ू देते और पैर पोंछ अपने-अपने आसनों पर बैठकर आनन्द से पढ़ते-लिखते। फिर आनन्द से खेलते-कूदते।

"इसी प्रकार देखते-सुनते कई दिन गुज़र गये। मेरा कोई कार्यक्रम उस समय तक भी निश्चित नहीं हो सका था। कारण, रवीन्द्रनाथ तब तक कलकत्ते से वापस नहीं लौटे थे। मुझे मालूम हुआ था कि वे स्वयं सब कुछ निश्चित कर देंगे। इसी बीच एक दिन सुना गया कि वे रात में आ रहे हैं। और दूसरे दिन सवेरे मेरी उनसे मुलाक़ात होगी। दीनू बाबू, अजित बाबू और सत्य बाबू (गुरुदेव के मझले जामाता) आदि के साथ उसी रात को ही उनसे मेरी मुलाक़ात हुई।

"प्रभात हुआ। ब्रह्मचारियों का नियमित कार्य चल रहा था। थोड़ा दिन चढ आया था। रवीन्द्रनाथ आदि-कुटीर के सामने आ खड़े हुए। उनके साथ दो-एक अध्यापक भी थे—जिनके नाम मुझे याद नहीं। एक आदमी ने आकर मुझसे कहा कि गुरुदेव तुम्हें बुला रहे हैं। मैं जल्दी से उनके पास पहुँचा। दूर से ही देखा, वे चहलक़दमी कर रहे थे। कैसी उज्ज्वल मूर्ति थी! पितृ-श्राद्ध के उपलक्ष्य में उन्होंने मुण्डन कराया था, इससे उनका चेहरा और भी चमक रहा था। उन्होंने सफ़ेद पशमीने का एक आपादलम्बित चोग़ा पहन रखा था। वहाँ पहुँचकर मैंने उन्हें नमस्कार किया। उन्होंने भी नमस्कार किया। प्रथम दर्शन में ही वे मुझे इतने अच्छे मालूम पड़े कि मैं उन्हें प्यार करने लगा, और मुझे लगा कि उन्होंने भी मुझे स्नेह भरी निगाह से देखा है।"

पंडित क्षितिमोहन सेन के शान्तिनिकेतन-सम्बन्धी-संस्मरण और भी अधिक रोचक और वहाँ के तत्कालीन वातावरण का ठीक चित्र उपस्थित करनेवाले हैं। आप लिखते हैं—

"शान्तिनिकेतन की स्थापना तो महाकवि-द्वारा ७ वर्ष पूर्व ही हो चुकी थी पर मैं वहाँ अध्यापक बनकर जुलाई १९०८ में गया। जब मैं बोलपुर स्टेशन पहुँचा, रात हो चुकी थी और मूसलाधार पानी गिर रहा था। सवारी के लिए केवल बैलगाड़ियाँ उन दिनों मिलती थीं। जैसे-तैसे वह रात मैंने स्टेशन पर ही बिताई और दूसरे दिन तड़के ही पैदल शान्तिनिकेतन की ओर चल दिया। बोलपुर उन दिनों एक छोटी-सी बस्ती थी; मैं कुछ ही दूर पहुँचा था कि प्रातः समीरण में प्रवाहित संगीत की लहरें मेरे कानों में पड़ीं। कवि अपनी कुटी 'देहली' के छज्जे पर बैठे हुए अपने मधुर गीतों-द्वारा उदयोन्मुख सूर्य का स्वागत कर रहे थ। उन दिनों उनका कण्ठ ग़ज़ब का सुरीला था और प्रभात के शान्त वातावरण में उनका गीत एक मील की दूरी से साफ़-साफ़ सुनाई देता था। उस सुरीली आवाज़ की स्मृति, जिसने मेरा इस प्रकार अभिनन्दन किया, आज भी मेरे हृदय में वैसी ही ताज़ी है।

"आश्रम उन दिनों छोटा-सा था। कुछ झोपड़ियाँ थीं। छात्र और अध्यापक साथ-साथ रहते थे। केवल एक कुटी अलग थी जिसमें स्वर्गीय जगदानन्द राव अपने बच्चों के साथ रहते थे। हम लोग सब मिलकर संख्या में ५० थे। सब एक ही भोजनालय में भोजन करते थे। अपने साथियों व सहकारियों में दो पुराने सहपाठियों—श्री विधुशेखर भट्टाचार्य्य और श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल—को पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। जब हम लोग बनारस में थे, इन दोनों ने मेरा नाम "ठाकुर दादा" रख छोड़ा था जिसका भेद मुझे यहाँ आने पर मालूम हुआ। उन दिनों आश्रम-वासी अपने परम शुभचिन्तक सतीशचन्द्रराय का दुःख धीरे-धीरे भूल रहे थे। वे एक अद्भुत प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। रविबाबू का गुरुदेव नाम, जो कि आश्रम में आज दिन प्रचलित है, उन्हीं का रक्खा हुआ है।

"'देहली' जो कवि की कुटी का नाम था, एक छोटी-सी इमारत थी। मझे आश्चर्य हुआ कि कवि इतने छोटे मकान में क्यों रहते हैं। पीछे से

मेरी समझ में आया कि वे केवल किसी वस्तु के छोटे या शान शौक़त रहित होने के कारण ही उससे घृणा नहीं करते हैं। उनके इसी गुण ने उन्हें बच्चों से प्रेम करना सिखाया, और उनके मन में इस छोटे-से आश्रम के संचालन के लिए उत्साह और विश्वास उत्पन्न किया। प्राचीन भारत की साधना के लिए कवि के हृदय में गम्भीर विश्वास है। इसी विश्वास ने उन्हें भारत के शिक्षण-सम्बन्धी पुरातन आदर्शों की ओर चलने का सन्देश दिया है। वे शिक्षा के ठीक ढंग को स्थापित करना चाहते थे जिसमें छात्र प्रकृति के निकटतम संसर्ग में रहकर शिक्षा प्राप्त करें। साथ ही वे बच्चों के भोले-भाले मस्तिष्क को स्कूलों की चहारदीवारी के बन्धन से और शुष्क पाठ्य-क्रम के कारागार से मुक्ति दिलाना चाहते थे। वे चाहते थे कि छात्र और शिक्षक में रुचिकर व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित हो। बोलपुर स्टेशन के निकट एक सुन्दर टीले पर कवि ने केवल दो छात्र लेकर अपने शिक्षण प्रयोगों का आरम्भ किया था। धन थोड़ा था और बाधायें बहुत। बुद्धिमान् पुरुष कवि की दिल्लगी उड़ाते थे; यह स्वाभाविक ही था। क्योंकि उन्हें वे बातें 'कवि का स्वप्न-मात्र' लगती थीं। 'महत्-कार्यों का आरम्भ क्षुद्र ही होता है', इसे पहचानने की शक्ति भगवान् थोड़े मस्तिष्कों को देता है।

"आश्रम में कई व्यक्ति अछूत वर्ग के भी थे पर कवि के प्रभाव के कारण उनके साथ अछूतों जैसा व्यवहार करने का साहस किसी को न होता था। देश में सामूहिक रूप से अछूतोद्धार का आन्दोलन उठने के वर्षों पूर्व आश्रम में इसका प्रचलन हो गया था। कवि का बच्चों का पढ़ाने का ढंग भी अनोखा था। वे बच्चों के निकटतम सम्पर्क में रहते थे जिससे बच्चे उन्हे अपना साथी समझते थे। वे उन्हें कवितायें और कहानियाँ सुनाते, फूलों और पौधों की रक्षा करना सिखलाते और उनके साथ नाटक खेला करते। इन कार्यों में शिक्षकों व छात्रों को मिलकर काम करना होता था। उनकी यह सहयोग-शिक्षा-प्रणाली आगे चलकर बच्चों के मानसिक विकास के लिए सबसे अधिक उपयोगी प्रमाणित हुई। विदेशों में भी उसका अनुकरण हुआ।

"भट्टाचार्य जी के अतिरिक्त वहाँ जगदानन्द राय, हरिचरण वंद्यो-

पाध्याय और अजीतकुमार चक्रवर्ती य तीन शिक्षक और थे। चक्रवर्ती जी अनोखे मेधावी थे। मेरे आने के एक वर्ष बाद नेपालचन्द्रराय भी आगये थे जो करना तो वकालत चाहते थे, पर 'कुछ दिनों' के लिए आश्रम में आगये थे। पर उनका वह 'कुछ दिनों' २५ वर्ष तक रहा। कवि ने अपने भतीजे दिनेन्द्रनाथ टागौर को भी बुला लिया था। वे कवि के गीतों के संरक्षक थ। कवि कोई गीत रचने पर तुरन्त उन्हें बुलाते थे और स्वर-तालसहित सिखा देते थे। क्योंकि प्रायः ऐसा होता था कि दूसरे गीत के आनन्द में लीन होकर कवि पहले गीतों को प्रायः भूल जाते थ। किसी-किसी दिन तो दीनू बाबू अबेर-सबेर आठ-आठ बार तक बुलाये जाते थे। टागौर के संगीत को सुरक्षित रखने का श्रेय एकमात्र दीनू-बाबू को है। वे स्वयं भी एक उत्कृष्ट गायक हैं।

''कवि की इच्छा थी कि पुरातन ऋषियों के ऋतु-उत्सवों को पुनः जीवित किया जाय। एक बार आश्रम में किसी काम के लिए बाहर जाते समय उन्होंन हम लोगों से वर्षाऋतु के उत्सव का आयोजन करने को कहा। हमने इसकी तैयारी की। आपस में काम बाँट लिया गया। कार्य सफलता से संपन्न हुआ और उसकी प्रशंसा अखबारों में छपी तो गुरुदेव ने भी सन्तोष प्रकट किया।

''जब शरद्-ऋतु आई तब मुझे उत्सव के लिए वेदों में से मन्त्र चुनने का भार सौंपा गया। गुरुदेव स्वयं नये गीत लिखने लगे। उस ऋतु में होनेवाले शिवली के पुष्पों की भाँति प्रचुरगीत कवि के मस्तिष्क में भर रह थे। कवि चिन्ता में थे कि उन्हें किस प्रकार क्रमबद्ध किया जाय। इस प्रकार 'शारदोत्सव' नामक पद्य नाटक की रचना हुई। उसके खेलने का नम्बर आया। उसका एक पात्र था 'ठाकुर दादा'। मेरे साथियों ने मेरा यह नाम रख छोड़ा था। अतः मुझे उसका पार्ट लेने की आज्ञा हुई। पर एक कठिनाई थी। उस खेल के 'ठाकुर दादा' को गाना पड़ेगा और यह 'ठाकुर दादा' संगीत के नाम से शून्य! जब कवि से मैंने अपनी यह कमज़ोरी निवेदन की तब उन्हें इस पर विश्वास न हुआ। वे समझ ही नहीं सकते थे कि कोई व्यक्ति संगीत से रहित कैसे हो सकता है। खैर, बड़ी कठिनता के बाद मेरा यह

पार्ट तो अजीत चक्रवर्ती को दिया गया और मुझे संन्यासी का पार्ट दिया गया। आगे चलकर एक बार 'संन्यासी' को भी गाना था। मैं उलझन में पड़ गया। पर इस बार कवि ने मेरी सहायता की, उन्होंने मुझे गाने का अभिनय करने को कहा और स्वयं जाकर नीले पर्दे के पीछे से गाने लगे। दर्शकों में आतंक फैल गया। सब यही कहने लगे कि आखिर कवि की टक्कर का एक संगीतज्ञ पैदा हो ही गया। पर असल भेद हम दोनों ही जानते थे। दर्शकों में भारत के सभी भागों के व्यक्ति थे। नाटक तो सफलता से समाप्त हो गया पर मुझे यह भय बहुत दिनों तक बना रहा कि यदि बाहर की कोई संस्था मुझे कभी गाने के लिए आमन्त्रित करे तो मैं क्या उत्तर दूँगा। गाना तो मुझे जैसा आता है वैसा मैं खूब समझता हूँ, पर जो लोग उक्त शारदोत्सव के उत्सव में मुझे गाते सुन गये हैं, वे यह बात कैसे मान सकते हैं कि मुझे संगीत नहीं आता?'

सन् १९१२ में बंगाल सरकार की शान्तिनिकेतन पर कोप-दृष्टि हुई। उसने एक गोपनीय सरक्यूलर सरकारी नौकरों के पास भेजा जिसमें लिखा था कि शान्तिनिकेतन के विद्यालय में सरकारी नौकर अपने लड़के पढने के लिए न रक्खें। इस पर बहुत-से सरकारी नौकरों के लड़के शान्तिनिकेतन से चले भी गये। इन्हीं दिनों एक अमेरिकन वकील मायरन एच० फेल्प्स शान्तिनिकेतन देखने आये और इसके ऊपर उन्होंने समाचार पत्रों में एक प्रशंसापूर्ण विज्ञप्ति छपाई। एक विदेशवासी की इस गुणग्राहकता से रवीन्द्रनाथ के मन पर बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने शान्तिनिकेतन का परिचय योरपवासियों को देने के लिए योरप-यात्रा का निश्चय कर लिया। यह यात्रा सन् १९१३ में हुई। विदेशों में पहुँचकर कवि को अनुभव हुआ कि शान्तिनिकेतन के द्वारा अब बाहरी विद्यार्थियों के लिए खोल देना आवश्यक है। एक पत्र में उन्होंने लिखा था--

''यदि हम अपने आश्रम को विश्व के प्रकाश में रखकर देखें तो हमारी सारी अनिश्चितता दूर हो जाय। यदि हम अपनी संस्था को समय और देश की संकीर्ण सीमाओं से घिरा रखखेगे तो उसकी सारी

पवित्रता नष्ट हो जायगी। हमारा ध्येय पूर्ण मानवता का विकास है, अतः हमें अपना लक्ष्य इससे नीचे नहीं स्थापित करना चाहिए।"

इन्हीं दिनों दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज़ और पियर्सन साहब ने अपनी सेवायें शान्तिनिकेतन के लिए समर्पित कीं। सन् १९१४ में कवि के साथ ये दोनों महान् पुरुष भारत आये। इनका आगमन शान्तिनिकेतन के लिए बड़े महत्त्व का प्रमाणित हुआ। पियर्सन साहब शेष जीवन भर (सन् १९२३ तक) शान्तिनिकेतन की सेवा करते रहे। दीनबन्धु एण्ड्रूज़ अपनी मृत्यु के समय (सन् १९४० में) विश्व-भारती के उपाध्यक्ष थे।

सन् १९१६ में कवि ने जापान और अमेरिका का भ्रमण किया था। वहाँ से लौटकर उन्होंने २२ दिसम्बर १९१८ को शान्तिनिकेतन में छात्रों और अध्यापकों की एक सभा की। इस सभा में उन्होंने शान्तिनिकेतन को एक नये रूप में विकसित करने की योजना सब को समझाई। इसी समय कवि ने इसका नाम 'विश्व-भारती' रक्खा। इसके लिए एक वैदिक-मंत्र 'यत्र विश्वंभवेत्येक नीडम्' पंडित विधुशेखर शास्त्री ने खोज निकाला था जो आज तक 'विश्वभारती' के नाम के साथ जुड़ा हुआ उसके मंतव्य को प्रकाशित कर रहा है।

सन् १९१९ से पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य की अध्यक्षता में विश्व-भारती में विद्याभवन का कार्य चला और बौद्ध-साहित्य, वैदिक और प्राचीन संस्कृत, पाली, तिबेतन, प्राकृत और चीनी भाषाओं के ग्रन्थों का अनुशीलन आरम्भ हुआ। पंडित क्षितीन्द्रमोहन सेन इस कार्य में शास्त्री महोदय के सहायक नियुक्त हुए।

कला और संगीत का रवीन्द्रनाथ की शिक्षा-प्रणाली में आरंभ से ही प्रमुख स्थान रहा है। सन् १९१८ में विश्वभारती में कला और संगीत का विभाग भी खुल गया। श्रीनन्दलाल वसु इसके अध्यक्ष नियुक्त हुए जिनके कारण यह विभाग विदेशों में भी प्रख्यात हो गया और दूर-दूर देशों के छात्र पौरस्त्य-चित्रकला तथा संगीत की शिक्षा प्राप्त करने के लिए शान्तिनिकेतन में प्रविष्ट होने लगे।

पीछे हम रवीन्द्रनाथ के सन् १९२०—२१ के योरप-भ्रमण के विषय में पढ़ चुके हैं और यह भी पढ़ चुके हैं कि योरप के सभी देशों तथा

अमेरिका में कवि का अपूर्व स्वागत हुआ था और 'पूर्व और पश्चिम' पर वहाँ के अनेक विश्वविद्यालयों में कवि के भाषण हुए थे। अमेरिका के एक युवक सज्जन जिनका नाम श्रीयुत एल० के० एमहर्स्ट था, रवीन्द्रनाथ के व्याख्यानों से बहुत प्रभावित हुए थे और कवि से मिलकर उन्होंने इच्छा प्रकट की थी कि यदि शान्तिनिकेतन के निकट ही ग्रामोद्धार के लिए कोई केन्द्र स्थापित किया जाय तो वे उसमें सक्रिय सहयोग देने को तैयार हैं। उनका विश्वास था कि सभ्यता का पूर्ण संतुलन शहरों और गाँवों में संगति स्थापित होने पर ही रह सकता है। कवि एमहर्स्ट साहब के इस विचार से पूर्ण सहमत थे। सन् १९१५ में कवि ने शान्तिनिकेतन के पास सुरूल गाँव में कुछ भूमि मोल ली और वहाँ कृषि, पशुपालन तथा ग्राम-सुधार के प्रयोग आरंभ कर दिये। एमहर्स्ट साहब के सहयोग ने इस संस्था में नवजीवन डाल दिया और उनकी अध्यक्षता में इसका कार्य ज़ोरों से चलने लगा। एमहर्स्ट साहब की पत्नी ने इस आश्रम के लिए पच्चास हज़ार रुपये की वार्षिक सहायता प्रदान की। इस संस्था का नाम 'श्री निकेतन' रक्खा गया। ग्राम सुधार और आधुनिक साधनों से कृषि करने की शिक्षा ग्रामीणों को देना तथा उन्हें भाँति-भाँति की दस्तकारियाँ सिखाकर उनकी आय को बढ़ाना और इस प्रकार ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन देना 'श्रीनिकेतन' का मुख्य उद्देश्य है। श्रीनिकेतन में बुनाई, सिलाई, टैनिंग, चमड़े का काम, बर्त्तनों का काम, आदि की, जिनकी देहाती जीवन के लिए आवश्यकता पड़ती है, शिक्षा दी जाती है।

सन् १९२१ में विश्वभारती का उद्घाटन संस्कार हुआ। इसी समय रवीन्द्रनाथ ने भूमि, इमारतें, पुस्तकालय, अपने नोबेल पुरस्कार की सब संपत्ति, अपनी बंगला पुस्तकों का कापीराइट, विश्वभारती के लिए वसीयत कर दिये। अपनी इँग्लिश पुस्तकों की बिक्री का धन भी वे शान्तिनिकेतन को देते थे और भी बीच-बीच में उसके लिए चन्दा करते रहते थे। सन् १९२१ में वहाँ छात्राओं के लिए भी सुन्दर बोर्डिंग हाउस नारीभवन के नाम से बनाया गया।

विश्वभारती की स्थापना के बाद उसका कार्य उत्तरोत्तर बढ़ने लगा।

कवि का निमंत्रण पाकर बाहर के प्रतिष्ठित विद्वान् शान्तिनिकेतन में आकर छात्रों को पढ़ाने लगे। इन विद्वानों में पेरिस के प्रख्यात विद्वान् सिल्वाँ लेवी का उल्लेख हम योरप-भ्रमण के सिलसिले में कर आये हैं। इनके अतिरिक्त ज़ेकोस्लोवाकिया के प्रोफ़ेसर विण्टरनीज़, नार्वे के प्रोफ़ेसर स्टेनकोवो, इटली के प्रोफ़ेसर कार्लो फारमिसी और जी० तुस्सी, हंगरी के ज़र्मेनस, ईरान के आग़ा पुरेदाऊद आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सब विद्वान् समय-समय पर शान्तिनिकेतन में रहकर उसकी सेवा कर चुके हैं।

रिसर्च विभाग भी प्रतिदिन उन्नति करता गया। बम्बई के कुछ पारसी धनिकों की सहायता से शान्तिनिकेतन में ज़ोराष्ट्रियन की एक चेयर स्थापित हुई। निज़ाम हैदराबाद के दिये धन से फ़ारसी-अरबी के लिए एक चेयर स्थापित हुई। सन् १९३७ में साइनो इंडियन-सोसाइटी के सहयोग से चीनाभवन का निर्माण हुआ तथा सन् १९३९ में हिन्दीभवन का निर्माण हुआ।

कला-भवन की भी प्रतिदिन उन्नति होती रही। संगीत व नृत्य-विभाग में कई प्रख्यात कलाकार मनीपुर, गुजरात और दक्षिण भारत से बुलाकर रक्खे गये। शान्तिनिकेतन के सदस्यों ने अनेक अवसरों पर कलकत्ता, बम्बई, इलाहाबाद आदि में नृत्य के प्रदर्शन करके तथा रवीन्द्र-नाथ के नाटकों का अभिनय करके प्रशंसा प्राप्त की। संगीतभवन के नाम से कला के लिए पृथक् विभाग ही स्थापित कर दिया गया। श्री दिनेन्द्रनाथ ठाकुर इसके अध्यक्ष बनाये गये।*

श्रीनिकेतन का भी बहुत कुछ विकास हुआ। व्रती बालक (ब्वाय स्काउट) कृषि, ग्रामशिक्षा वहाँ के कार्यक्रम के आवश्यक अंग हैं। सहयोग-प्रणाली के आधार पर गाँवों की सफ़ाई और स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना भी वहाँ जनता को सिखाया जाता है। गाँव की प्राचीन दस्तकारी को पुन-र्जीवित करने में श्रीनिकेतन ने प्रशंसनीय कार्य किया है। यहाँ के बने

---

* सन् १९३५ में आपका देहान्त हो चुका है।

हुए बर्त्तन, कपड़े, लकड़ी और चमड़े की वस्तुएँ भारत भर में प्रशंसा प्राप्त कर चुकी हैं।

शान्तिनिकेतन की स्थापना करते समय रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आयु ४० वर्ष की थी। उनके ४१ वर्ष के लगातार परिश्रम से वह विकसित होकर संसार की एक दर्शनीय संस्था बन गया है। विदेशों से जो यात्री भारत भ्रमण करने आते हैं वे शान्तिनिकेतन भी अवश्य जाते हैं। वहाँ के प्राकृतिक दृश्य भी अत्यन्त मनोहर हैं। उत्तरायण, श्यामाली, उत्तरायण का उपवन, पुस्तकालय, अतिथि-भवन (रतनकुटी) आदि यहाँ की दर्शनीय इमारतें हैं जिनके निर्माण में विभिन्न स्थापत्य-कलाओं का प्रदर्शन हुआ है और जिनकी दीवालों पर श्रीनन्दलाल बोस के बनाये हुए चित्र दर्शक को हठात् सूचित कर देते हैं कि वह इस समय संसार के एक प्रमुख कलाकेन्द्र में है। पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "जिसने शान्तिनिकेतन नहीं देखा, उसने भारत नहीं देखा।"

बारहवीं विदेश-यात्रा

ईरान के बादशाह रजाशाह पहलवी के आमंत्रण पर कवि ने सन् १९३२ की अप्रैल में ईरान के लिए प्रस्थान किया। इस बार यात्रा के लिए वायुयान का प्रबन्ध किया गया था। कवि के साथ श्रीमती प्रतिमादेवी, श्री केदारनाथ चट्टोपाध्याय और श्री अमिय चक्रवर्त्ती थे। १३ अप्रैल को कवि का वायुयान बूशहर पहुँचा, जहाँ शहर के डिप्टी गवर्नर ने ईरान सरकार की ओर से आपका स्वागत किया। परशियन मजलिस के एक सदस्य के यह प्रश्न करने पर कि आप ईरान में क्या देखना चाहते हैं, कवि ने उत्तर दिया—"मैं यह देखने आया हूँ कि वर्त्तमान ईरान में उसकी पुरातन संस्कृति और उसका प्राचीन गौरव किन अंशों में शेष है।" कवि का उत्तर सुनकर सदस्य ने कहा—"प्राचीन ईरान के दर्शन तो अब आपको होंगे नहीं, क्योंकि आधुनिक ईरान पुरानी बातों का घोर विरोधी होता जा रहा है, और यहाँ आजकल सर्वत्र आधुनिकता का बोलबाला है।"

दूसरे दिन कवि अपने दल के साथ शीराज़ पहुँचे जहाँ मुहम्मदिया-बाग़ में ईरान के प्रसिद्ध साहित्यिकों ने कवि का स्वागत किया। इसके बाद कवि शेख़सादी की क़ब्र देखने गये। मार्ग-प्रदर्शन का कार्य शीराज़ के गवर्नर कर रहे थे। गवर्नर ने यहाँ पर कवि को एक आश्चर्य-भरी बात बतलाई। उन्होंने कवि से कहा कि आप अपने मन में कोई बात सोचिये और फिर बिना कुछ विचार किये हाफ़िज़ के दीवान को कहीं पर खोलकर उसका पहला शेर पढ़िये। आपके प्रश्न का ठीक उत्तर उस शेर में मिलेगा। कौतूहलवश कवि ने मन में प्रश्न किया—'क्या भारत में होनेवाले साम्प्रदायिक झगड़ों का कभी अन्त होगा?' शेख़ का दीवान खोलने पर खुले हुए पृष्ठ पर जो पहला शेर निकला उसका भाव इस प्रकार था—'मधुशाला के द्वार खुल जायँ, हम ईश्वर का नाम लेकर उन्हें खोलते हैं।' यह भविष्यवाणी निस्सन्देह आशाजनक थी, जिसे सुनकर कवि के मुख पर आशाभरी मुस्कान दौड़ गई, पर दूसरे ही क्षण वे फिर गम्भीर हो गये।

२२ अप्रैल को कवि इस्पहान गये, जहाँ सरकार की ओर से उनका स्वागत बड़ी धूमधाम से किया गया। इसके पश्चात् पन्द्रह दिन कवि तेहरान रहे। इस बीच जनता और सरकार के अनेक प्रतिनिधि प्रतिदिन उनसे भेंट करने आते रहे। ईरानी पत्रों ने कवि को 'पूर्वीय आकाश का सबसे अधिक प्रकाशवान् नक्षत्र' लिखा था।

२ मई को कवि की भेंट बादशाह रज़ाशाह पहलवी से हुई। कवि ने बादशाह को अपनी एक कविता भेंट की जो इसी अवसर के लिए लिखी थी। ७ मई को ईरान की जनता और सरकार की ओर से कवि का जन्मदिन बड़ी धूमधाम से मनाया गया। इसके पश्चात् कुछ अन्य सभाओं में भाग लेकर और ईरान के अनेक प्रख्यात ऐतिहासिक स्थानों की सैर करके कवि बग़दाद होते हुए वायुयान-द्वारा ३ जून को कलकत्ता लौट आये।

सन् १९३२ में कवि की ३ पुस्तकें प्रकाशित हुईं—(१) परिशेष, (२) पुनश्च और (३) कालेरयात्रा। इनमें से नं० १ कविता-संग्रह है, नं० २ गद्यकाव्य और नं० ३ नाटिका।

गांधी जी का आमरण-अनशन

अछूतों के प्रश्न को लेकर महात्मा गांधी ने २० सितम्बर, १९३२ को यरवदा जेल में आमरण अनशन आरम्भ कर दिया था। गांधी जी के इस निश्चय से जनता और सरकारी क्षेत्रों में समान रूप से चिन्ता की लहर व्याप्त हो गई थी। अनशन की सूचना प्राप्त होते ही कवि ने महात्मा जी को निम्न आशय का तार भेजा—

"भारत की एकता और सामाजिक-पूर्णता के लिए बहुमूल्य जीवन का उत्सर्ग उचित ही है। हम नहीं जानते कि हमारे शासकों पर इसका कैसा प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि हमारी जाति के लिए इसकी व्यापक-महत्ता को वे शायद न समझ सकें, पर यह तो हम निश्चयपूर्वक अनुभव करते हैं कि हमारे देशवासियों पर ऐसे आत्मत्याग का प्रभाव बिना पड़े न रहेगा। मुझे पूर्ण आशा है कि हमारे देशवासी ऐसी राष्ट्रीय दुर्घटना को चरमसीमा तक नहीं पहुँचने देंगे। हम दुःखपूर्ण हृदयों से आपकी इस महती तपस्या का सादर और सप्रेम अनुसरण करेंगे।" इसके पश्चात् कवि स्वयं पूना पहुँचकर महात्मा गांधी से मिले। कवि का अनुमान सत्य ही निकला। महात्मा जी के जीवन को संकट में देखकर सवर्णों ने तत्काल समझौता कर लिया और मन्दिरों के द्वार अछूतों के लिए खोल दिये गय। परिणाम-स्वरूप महात्मा जी ने भी एक सप्ताह बाद ही अपना अनशन तोड़ दिया। अनशन तोड़ने के दिन कवि महात्मा जी के पास उपस्थित थे। इस अवसर ने भारत की इन दो महती विभूतियों को एक दूसरे के सन्निकट ला दिया। अपने अनशन के सम्बन्ध में लिखते हुए महात्मा गांधी ने श्रीयुत सी० एफ़० एण्ड्रूज़ को लिखा था—"इस अनशन से मुझे बहुत से ऐसे रत्न प्राप्त हुए हैं जिनकी मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी। इनमें सबसे अधिक बहुमूल्य हैं 'गुरुदेव'। मैं उनके भावुक हृदय के कोने में स्थान पाने के लिए न जाने कब से लालायित था। ईश्वर के अनुग्रह से वह स्थान मुझे प्राप्त हो गया है।"

सन् १९३३ में कवि की ५ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुईं—बाँसरी, ताशेर देश, विचित्रा, चाण्डालिका और मालंचा। बाँसरी, ताशेर देश

और चाण्डालिका छोट-छोटे नाटक हैं और विचित्रा काव्य-संग्रह। मालंचा उपन्यास हैं। ताशेर देश और चाण्डालिका का अभिनय शान्तिनिकेतन के छात्रों-द्वारा भारत के कई प्रमुख नगरों में हो चुका है।

सिंहलद्वीप में

५ मई, सन १९३४ को बीस व्यक्तियों के एक दल के साथ, जिसमें श्री नन्दलाल वसु, शान्तिनिकेतन के छात्र-छात्रायें और अध्यापक भी थे, कवि ने लंका के लिए प्रस्थान किया। ९ तारीख को यह दल कोलम्बो पहुँचा। उस दिन यद्यपि वर्षा हो रही थी, फिर भी दर्शकों की एक भारी भीड़ कवि के दर्शनार्थ बन्दरगाह पर जमी खड़ी थी। तट पर पदार्पण करते ही कवि को श्री जयतिलक ने पुष्पहार पहनाया और उन पर गुलाबजल छिड़का और चन्दन भेंट किया। स्वागत का यह सर्वथा प्राच्य ढंग था जिससे कवि बहुत अधिक प्रभावित हुए। एक पत्रकार के भेंट करने और लंका की तत्कालीन राजनीति के बारे में प्रश्न पूछने पर कवि ने उत्तर दिया कि—"मैं राजनीतिज्ञ नहीं हूँ। फिर भी आजकल राजनीति में जो दाँव-पेंच चल रहे हैं, उन्हें देखकर मुझे दुःख होता हूं। मैं लंका के प्राकृतिक सौन्दर्य से आकर्षिक होकर यहाँ आया हूँ। मेरा मिशन आध्यात्मिक-आनन्द का है। मैं आपको भारत से यही भेंट करने आया हूँ। भारतीय संस्कृति के निर्माण में आपके देश ने बहुत बड़ा योग दिया है। यद्यपि आप लोग राजनैतिक दृष्टि से भारत से पृथक् कर दिये गये हैं, पर आप तत्वतः भारतीय हैं और भारत के साथ आपकी सांस्कृतिक एकता है, जिसे कोई तोड़ नहीं सकता। आपकी धमनियों में वही रक्त प्रवाहित हो रहा है जो अन्य भारतीयों की धमनियों में प्रवाहित होता है।"

लंका में सर्वत्र कवि का बड़ी धूमधाम से स्वागत हुआ। शान्तिनिकेतन के छात्रों और अध्यापकों ने कोलम्बो में 'शापमोचन' का अभिनय भी किया जिसे देखने के लिए इतनी जनता इकट्ठी हुई कि बैठने को जगह न मिली। इसके पश्चात् शान्तिनिकेतन के छात्रों-द्वारा निर्मित कुछ चित्रों के साथ कवि के चित्रों की वहाँ प्रदर्शनी भी हुई। ११ जून को जाफना की जनता ने कवि को एक मानपत्र भेंट किया, जिसके उत्तर

में कवि ने कहा—"मुझे यह देखकर आन्तरिक दुःख हुआ है कि प्राकृतिक दृश्यों से परिपूर्ण लंका किसी कवि को जन्म नहीं दे सकी। उसने ऐसा एक भी व्यक्ति पैदा नहीं किया जो उसके प्राकृतिक सौन्दर्य के गीत गा सकता। आपकी भाषा में भी जहाँ तक मुझे ज्ञात हुआ है, पर्याप्त अभि-व्यंजना-शक्ति नहीं है। आप लोग भी इसका किसी दिन अवश्य अनुभव करेंगे। आप लोग एक ऐसी भाषा पर अधिकार करने का प्रयत्न कर रहे हैं जो न आपके देश की है, न जाति की, न आपकी अपनी; न आपके भूत की, न आपके भविष्यत् की। आपकी मातृभूमि उन शब्दों में, जो उसके अपने हृदय से निकलते हैं, अपने भावों को व्यक्त करने के लिए छटपटा रही है। आप लोगों को अपनी वाणी को पहचानना चाहिए, आपके मालिकों की वाणी आपकी वाणी नहीं हो सकती। संसार में आपकी कोई सत्ता है, यह जानने और जनाने के लिए अपनी भाषा को सुनने और सुनाने की आवश्यकता है। कोई जाति कितनी ही समृद्ध और उन्नत क्यों न दिखाई दे, पर उसकी चाल-ढाल और बोलचाल का अनुकरण मत कीजिए। जब तक आप लोग अपनी भाषा को उन्नत नहीं करते, अपने साहित्य का निर्माण नहीं करते, अपने भावों से मन को आन्दोलित नहीं करते, तब तक आप स्वयं को अपने मस्तिष्क का स्वामी नहीं कह सकते। आपकी संस्कृति की पृष्ठभूमि में भारतीय संस्कृति है। आप ग़रीब नहीं हैं, आपको औरों से कुछ भी उधार नहीं लेना है। यदि मेरे यहाँ से चले जाने के बाद भी आप मेरे इस सन्देश को स्मरण रख सकें तो मैं अपनी यह यात्रा सफल समझूँगा।"

चार अध्याय

२३ जून को कवि लंका से भारत लौट आये। 'चार अध्याय' उपन्यास उन्होंने इस यात्रा में ही लिखा था। इसका कथानक बँगला के क्रान्तिकारी-आन्दोलन से सम्बन्ध रखता है। एला जन्म ही से विद्रोही-स्वभाव की है। उसका आतंकवादी दल में चन्द्रनाथ बाबू के द्वारा प्रवेश हो जाता है। चन्द्रनाथ बाबू दल के मुखिया हैं। एला अतीन्द्र नाम के एक युवक को भी अपने दल का सदस्य बनाती है। चन्द्रनाथ बाबू एला और

अतीन्द्र को साथ रहने देना चाहते हैं पर वे दोनों के प्रेम को एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़ने देते। दोनों अविवाहित रहने के लिए वचनबद्ध हैं, फिर भी एला और अतीन्द्र एक दूसरे के सम्बन्ध-बन्धन में बँधना चाहते हैं। एला प्रेम को देश-सेवा के मार्ग की बाधा नहीं समझती, पर वचन का मूल्य भी उसके लिए बहुत अधिक है। वह कर्त्तव्य और प्रेम के दो पाटों के बीच पड़ गई है और इसी कारण भीतर ही भीतर चिन्तित रहती है। पर कभी-कभी वह उबल भी पड़ती है। अतीन्द्र एला के रूप, गुण, विद्या और बुद्धि पर मुग्ध है। वह त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करने का इच्छुक है। उसकी देशभक्ति एला के प्रेमवृक्ष की छाया में पलती है। वासना के प्रबल हो जाने पर वह कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का विवेक छोड़ बैठता है, पर ठीक ऐसे अवसर पर एला उसे सचेत कर देती है। उसके त्याग के आगे एला को झुकना पड़ता है, फिर भी वह अपने वचन पर दृढ़ रहती है। अतीन्द्र भाग जाता है पर एला उसका पीछा नहीं छोड़ती और उसे लौटा लाती है। देशभक्ति के आवेश में अतीन्द्र किंकर्त्तव्य विमूढ़ बन जाता है और इसी समय उसके सामने एला की कामना व्यक्त हो जाती है।

इस उपन्यास में क्रान्तिकारी आन्दोलन के वायुमण्डल में श्वास लेने-वाले दो प्राणियों के बीच प्रणय भावनाओं के उद्रेक का चित्रण कवि ने सफलतापूर्वक किया है। इसके चरित्र कवि के पहले के उपन्यासों के चरित्रों की अपेक्षा अधिक सुलझे हुए और स्पष्ट हैं। चन्द्रनाथ बाबू में षड्यन्त्रकारियों के सभी गुण हैं। वे मानों ऐसे आन्दोलनों के जन्मसिद्ध नेता हैं। वे निर्दय न होने पर भी सिद्धान्त के अनुरोध से निर्मम अवश्य हैं। वे आग से खेलना चाहते हैं, उसे बुझाकर अपनी कायरता दिखलाना नहीं। आँधी की भाँति हर जगह जा पहुँचना उनका स्वभाव है।

'विश्वभारती' के लिए आर्थिक चिन्ता

'विश्वभारती' की आर्थिक दशा सन्तोषजनक न होने के कारण कवि वृद्धावस्था में विशेष चिन्तित रहने लगे थे। वे उसे सम्पन्नावस्था में

छोड़ जाना चाहते थे। धन-संग्रह के लिए वे भारत-भ्रमण कई बार कर चुके थे। कई प्रमुख नगरों में कवि के तत्त्वावधान में उन्हीं के रचित नाटकों का अभिनय भी शान्तिनिकेतन के छात्र-छात्राओं-द्वारा किया जा चुका था। उन्होंने अपने नोबेल-पुरस्कार का समस्त धन और अपनी पुस्तकों की बिक्री से होनेवाली समस्त आय शान्तिनिकेतन को समर्पित कर दी थी, फिर भी पूरा न पड़ता था। यह चिन्ता उनके मन को सदैव सताया करती थी। एक बार एक सम्भ्रांत मारवाड़ी सज्जन से उन्होंने कहा था——"आजकल ज़मींदारी की आय कम हो गई है। पुस्तकों की आय भी कम होने लगी है। इसलिए शान्तिनिकेतन पर सत्तर हज़ार का ऋण हो गया है। इस संस्था के बोझ से मैं दबा जा रहा हूँ। इस आयु में मुझमें न तो शक्ति ही है और न इच्छा ही कि मैं नाच-गान की पार्टी लेकर फिरूँ। पर क्या करूँ, शान्तिनिकेनत के लिए धन चाहिए। देशवासी मुझे यहाँ बैठ-बैठे धन नहीं देना चाहते। वे मेरा नाच-गान और कविता सुनना चाहते हैं। वही करूँगा। मैं चाहता हूँ कि शान्तिनिकेतन में सभी भाषाओं और संस्कृतियों के विद्वान् रहें और वे अपनी-अपनी संस्कृतियों का अन्वेषण और उन्नति करें। आज से कई वर्ष पूर्व हिन्दी की पढ़ाई यहाँ आरम्भ की गई थी। इसके लिए मद्रास से सहायता मिलती थी। पर वह सहायता अब बन्द हो गई है। मैं चाहता हूँ कि यहाँ हिन्दी के लिए अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था हो। यहाँ एक हिन्दी भवन बने, एक सुन्दर पुस्तकालय हो।"

'विश्वभारती' के लिए धन-संग्रह करने के निमित्त सन् १९३६ में कवि ने भारत-भ्रमण करने का फिर निश्चय किया। वे पहले पटना पहुँचे जहाँ श्री राजेन्द्रप्रसाद के नेतृत्व में जनता ने उनका हृदय से स्वागत किया और 'विश्वभारती' के लिए एक थैली भेंट की। फिर प्रयाग और लाहौर होते हुए वे दिल्ली पहुँचे जहाँ महात्मा गांधी और श्री कस्तूरबा गांधी ने उनसे भेंट की। गांधी जी को यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि 'विश्व-भारती' जैसी सार्वभौम संस्था के पास धन का अभाव है और उस पर सत्तर हज़ार का क़र्ज़ा हो गया है, जिसके लिए ७५ वर्ष की पकी अवस्था में भी संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि को दौड़-धूप करनी पड़ रही है। गांधी

जी की अपील पर एक धनिक महाशय ने कवि को साठ हज़ार की एक थैली भेंट की। इसके पश्चात् कुछ सभाओं में भाषण करते हुए और अनेक संस्थाओं के मानपत्र स्वीकार करते हुए कवि शान्तिनिकेतन लौट आये।

सम्मान : दीक्षान्त भाषण

इसी वर्ष बनारस और ढाका विश्वविद्यालयों ने कवि को सम्मानार्थ डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की। १७ फ़रवरी सन् १९३७ में कवि ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण किया। इस भाषण में दो विशेषतायें थीं। पहली तो यह कि अब तक दीक्षान्त भाषण के लिए विद्वान् अधिकारीवर्ग में से ही चुने जाते थे। रवीन्द्रनाथ ही इस प्रकार के प्रथम विद्वान् थे जो जनवर्ग में से चुने गये थे। दूसरी यह, कि कवि ने दीक्षान्त भाषण बँगला में किया था, जो कि विश्व-विद्यालय के इतिहास में पहली घटना थी।

७ अगस्त सन् १९४० को आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय ने डी०लिट्० की उपाधि-द्वारा कवि को सम्मानित किया। इस कार्य के लिए विश्व-विद्यालय ने सर सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् और सर मारिस ग्वायर को नियुक्त किया था। दोनों विद्वान् निश्चित समय पर शान्तिनिकेतन पधारे। एक उत्सव किया गया और उसी अवसर पर विधिपूर्वक कवि को उक्त उपाधि प्रदान की गई।

'विश्व-परिचय' और 'बँगला भाषा परिचय' दो ऐसी पुस्तकें हैं जिनसे ज्ञात होता है कि रवीन्द्रनाथ में साहित्य से बाहर के विषयों पर रचना करने की भी अपूर्व क्षमता थी। विश्व-परिचय, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तक है और दूसरी पुस्तक अबंगालियों को बँगला सिखाने के उद्देश्य से लिखी गई है।

अब कवि का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। वे प्रायः रुग्ण रहने लगे थे। वृद्धावस्था के कारण निर्बलता इतनी बढ़ गई थी कि चलना-फिरना प्रायः बन्द हो गया था। वे हाथ से लेखनी पकड़कर अब लिख भी न पाते थे। १९ सितम्बर सन् १९४० को वे स्वास्थ्य-सुधार के लिए केलिम्पांग

गये, पर वहाँ स्वास्थ्य और भी बिगड़ गया, अतः उन्हें चिकित्सार्थ कलकत्ते लाया गया। अनेक डाक्टरों की कुशल परिचर्या में रहकर स्वास्थ्य में कुछ सुधार हुआ। दिसम्बर में वे शान्तिनिकेतन पहुँच गये, जहाँ उनके दर्शनार्थ काई-चाई-ताऊ (चीन की राष्ट्रीय-सरकार के युआन) उपस्थित थे।

शरीर के अशक्त हो जाने पर भी कवि का मस्तिष्क ठीक-ठीक कार्य कर रहा था और वे साहित्य-रचना बराबर करते जाते थे। नवजातक (कविता-संग्रह), शनैः (कविता-संग्रह), छेले-बेला (बाल्यकाल के संस्मरण), रोगशय्या और आरोग्य (कविता-संग्रह) पुस्तकें कवि ने रुग्णावस्था में रोगशय्या पर पड़े-पड़े ही रची थीं।

८१वीं वर्षगाँठ—सभ्यता का संकट

१४ अप्रैल, १९४१ को कवि की ८१वीं वर्षगाँठ मनाई गई। कवि उस समय भी अस्वस्थ थे, फलतः वर्षगाँठ का उत्सव भी अत्यन्त सीधा-सादा रहा। इस अवसर पर आपने एक बृहत् सन्देश दिया जो 'सभ्यतार संकट' के शीर्षक से देश-विदेशों के समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ। इस सन्देश से ज्ञात होता है कि जीवनव्यापी-अनुभव के पश्चात् कवि अपने अन्तिम दिनों में पाश्चात्य-सभ्यता के कट्टर विरोधी हो गये थे और अँगरेजों की सदाशयता पर से उनका विश्वास उठ गया था। इस महत्त्व-पूर्ण सन्देश का मुख्य अंश इस प्रकार है—

आज मेरी ८० वर्ष की आयु पूरी हुई। मेरे जीवन-क्षेत्र की विस्तीर्णता आज मेरे सम्मुख फैली हुई है। पूर्वतम दिगन्त में जो जीवन आरम्भ हुआ था, उसका दृश्य दूसरे क्षेत्र से निःशवत दृष्टि से आज मैं देख रहा हूँ और अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे जीवन और समस्त देश की मनोवृत्ति की परिणति अलग-अलग हो गई है। यही विच्छिन्नता मेरे गम्भीर दुःख का कारण है।

इस बृहत् मानव-विश्व के साथ हमारा प्रत्यक्ष परिचय आरम्भ हुआ था उस समय की अँगरेज़-जाति के इतिहास से। हमारी अभिज्ञता के बीच उद्घाटित हुआ था एक महत् साहित्य के उच्च शिखर से भारत

के इस आगन्तुक का चरित्र-परिचय। उस समय हमारे विद्या-लाभ के पथ्य-परिवेशन में प्राचुर्य व वैचित्र्य न था। उस समय की जो विद्या ज्ञान के नाना केन्द्रों से विश्व-प्रकृति का परिचय व उसकी शक्ति का रहस्य नये-नय प्रकार से दिखाती थी, उसका अधिकांश था तब नेपथ्य में, अगोचर में। प्रकृतितत्त्व के विशेषज्ञों की संख्या थोड़ी ही थी। तब अँगरेज़ी-भाषा के भीतर से अँगरेज़ी-साहित्य को जानना और उपभोग करना वदग्ध्य का परिचय था। दिन-रात मुखरित थे बर्क की वाग्मिता से, मेकाले के भाषा-प्रवाह की तरंगों से। नित्य ही आलोचना चलती रहती थी शेक्सपियर के नाटकों को लेकर, बायरन के काव्य को लेकर। उस समय की पालिटिक्स सर्वमानव की विजय-घोषणा में थी। उस समय हमने स्वजाति की स्वाधीनता की साधना आरम्भ की थी, किन्तु अँगरेज़-जाति के औदार्य के प्रति विश्वास हृदय में था। वह विश्वास ऐसा गम्भीर था कि एक समय हमारे साधकों ने स्थिर किया कि इस विजित जाति की स्वाधीनता का पथ विजयी जाति के दाक्षिण्य-द्वारा ही प्रशस्त होगा, क्योंकि एक समय अत्याचार प्रपीड़ित जाति का आश्रय-स्थल इँग्लैंड में था। जो स्वजाति के सम्मान-रक्षार्थ प्राणपण से चेष्टा कर रहे थे, उनका अकुण्ठित आसन इँगलैंड में था। मानव-मंत्री का विशुद्ध परिचय मैंने अँगरेज़-चरित्र में देखा है, इसी से आन्तरिक श्रद्धा के साथ अँगरेज़ को हृदय के उच्चासन पर बैठाया था। उस समय साम्राज्य-मदमत्तता में उसके स्वभाव का दाक्षिण्य कलुषित नहीं हुआ था।

मेरी आयु जब अल्प ही थी, तभी मैं इँगलैंड चला गया था। उसी समय जान ब्राइट के मुख से पार्लमेंट में और उसके बाहर किसी-किसी सभा में जो वक्तृता सुनी थी, उसमें सुनी थी चिरकाल की अँगरेज़ की वाणी। उसी वक्तृता के असर ने जातिगत सभी संकीर्ण-सीमाओं का अतिक्रम करके मेरे हृदय में जो प्रभाव-विस्तार किया था, वह मुझे आज तक याद है और आज इन श्रीभ्रष्ट दिनों में भी वह मेरी पूर्वस्मृति की रक्षा कर रहा है। यह परनिर्भरता निश्चय ही हमारे लिए श्लाघा का विषय नहीं थी; किन्तु इसमें इतनी ही प्रशंसा की बात थी कि अपनी उस अनभिज्ञता के बीच भी मनुष्यत्व का एक महत् रूप उस

दिन मैंने देखा था। वह रूप यद्यपि एक विदेशी-द्वारा प्रकट किया गया था, पर उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने की शक्ति हममें थी और किसी प्रकार की कुण्ठा हममें न थी। कारण, मनुष्य में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह किसी जाति की सीमा में ही बँधा नहीं रह सकता, वह कृपण के अवरुद्ध भाण्डार की सम्पत्ति नहीं है। इसी से अँगरेज़ों के जिस साहित्य से हमारे मन ने शक्ति प्राप्त की थी, आज तक उसका विजय-शंख मेरे मन में बज रहा है।

'सिविलिज़ेशन' का, जिसका हम सभ्यता अनुवाद करते हैं, यथार्थ प्रतिशब्द (पर्याय) हमारी भाषा में मिलना सहज नहीं है। इस सभ्यता का जो रूप हम लोगों के देश में प्रचलित था, उसे मनु ने कहा था—सदाचार; अर्थात् कितने ही सामाजिक नियमोंका बन्धन। इन नियमों के सम्बन्ध में प्राचीन काल में जो धारणा थी, वह भी एक संकीर्ण भूगोल-खण्ड में बन्द थी। सरस्वती और दृशद्वती नदियों का मध्यवर्ती जो देश ब्रह्मावर्त्त नाम से विख्यात था, उसी देश में जो आचार-परम्परा क्रम से चली आई है, उसे ही सदाचार कहते हैं—अर्थात् इस आचार की भित्ति प्रथा के ऊपरही प्रतिष्ठित है, फिर चाहे उसमें कितनी ही निष्ठुरता क्यों न हो, कितना ही अविचार क्यों न हो। इसी कारण प्रचलित संस्था ने हमारे आचार-व्यवहार को ही प्रधानता देकर चित्त की स्वाधीनता का बिना विचार के ही अपहरण किया था। सदाचार का जो आदर्श एक समय मनु ने ब्रह्मावर्त्त में प्रतिष्ठित देखा था, उसी आदर्श ने क्रमशः लोकाचार को अपना आश्रय बनाया। मैंने जिस समय जीवन आरम्भ किया था, उस समय अँगरेज़ी-शिक्षा के प्रभाव से इस बाह्य आचार के विरुद्ध देश के शिक्षित लोगों के मन में विद्रोह परिव्याप्त हो चला था।

इस सदाचार के स्थान में सभ्यता के आदर्श को हमने अँगरेज़-जाति के चरित्र के साथ मिलाकर ग्रहण किया था। हम लोगों के परिवार में यह परिवर्तन क्या धर्म-मत में, क्या लोक-व्यवहार में, क्या न्याय-बुद्धि के अनुशासन में, पूर्ण रूप से गृहीत हुआ था। मैंने ऐसे ही समय में जन्म ग्रहण किया था और उसी के साथ हमारे स्वाभाविक साहित्यानुराग ने भी अँगरेज़ों को उच्चासन पर बैठाया था। इस प्रकार मेरे जीवन का प्रथम

भाग बीता। उसके बाद ही कठिन दुःख का परिच्छेद आरम्भ हुआ। रोज़ ही देख सका कि सभ्यता को जिन्होंने चरित्र-उत्स से उत्सारित रूप में स्वीकार किया था, शत्रु के प्रवर्त्तन में वे क्या उसे अनायास ही लाँघ सकते थे।

एकान्त साहित्य के रसास्वादन के उपकरण के वेष्टन से एक दिन मुझे बाहर आना पड़ा। उस दिन भारतवर्ष के जनसाधारण का जो निदारुण दारिद्रय मेरे सामने आया, वह हृदयविदारक था। अन्न-वस्त्र दिलानेवाली शिक्षा में मनुष्य के शरीर और मन के लिए जो नितान्त आवश्यक है, उसका ऐसा निरतिशय अभाव जान पड़ा, जैसा आधुनिक शासन-चालित किसी भी देश में नहीं हुआ। अथच यह देश अँगरेज़ को दीर्घकाल से ऐश्वर्य प्रदान करता आया है। जब मैं सभ्य जगत् की महिमा के ध्यान में एकान्तचित्त से लगा हुआ था, तब किसी दिन मैं मानव के सभ्यता नामधारी आदर्श के ऐसे विकृत रूप की कल्पना भी नहीं कर सका था। अन्त में मैंने एक दिन देखा कि इस विकार के भीतर से कई करोड़ जन-साधारण के प्रति सभ्य जाति की अपरिसीम अवज्ञतापूर्ण उदासीनता उग्र हो उठी है।

जिस यन्त्र-शक्ति की सहायता से अँगरेज़ अपने विश्वकर्त्तव्य की रक्षा करते आ रहे हैं, उसकी यथोचित चर्चा से यह निःसहाय देश वंचित है। मैंने अपनी आँखों के सामने देखा कि जापान देखते-देखते सब प्रकार से किस तरह सम्पन्न हो गया। जापान की समृद्धि मैं अपनी आँखों से देख आया हूँ। मैंने वहाँ स्वजाति पर उसके शासन का रूप देखा है और रूस की मास्को नगरी में जनसाधारण में शिक्षा-प्रचार और आरोग्य-विस्तार के असामान्य और अकृपण अध्यवसाय को देखा है। उसी अध्यवसाय के प्रभाव से इस बृहत् साम्राज्य की मूर्खता, दीनता और आत्मावमानना कम होती जा रही है। यह सभ्यता जाति का ख़याल नहीं करती, श्रेणी का विचार नहीं करती; इसने सर्वत्र विशुद्ध मानव सम्बन्ध के प्रभाव का ही विस्तार किया है। उसकी तेज़ और आश्चर्य-जनक परिणति देखकर मैंने एक साथ ईर्ष्या और आनन्द दोनों का ही अनुभव किया है। मास्को शहर में जाने पर रूस के शासनकार्य

की एक असाधारणता ने मेरे अन्तस् को स्पर्श किया था। वहाँ मैंने देखा कि वहाँ के मुसलमानों को राष्ट्राधिकार में हिस्सेदार बनाने में ग़ैर-मुसलमानों का कोई विरोध नहीं है। उन दोनों के सम्मिलित हितों में शासन-व्यवस्था की यथार्थ सभ्य-भूमिका निहित है। मैं यह भी देख आया हूँ कि जो फ़ारस देश एक दिन दो योरपीय जातियों के पाटों में पिसा जा रहा था, इस समय वही योरपीयों के निमम आक्रमणों के घात-प्रतिघात से अपने-आपको मुक्त करके किस प्रकार नवजाग्रत् होकर आत्मशक्ति की पूर्णता की ओर बढ़ रहा है। उसके सौभाग्य का प्रधान कारण यह है कि वह योरपीयों के चक्रव्यूह से मुक्त हो सका था। सर्वान्तःकरण से आज मैं फ़ारस देश के कल्याण की कामना करता हूँ। हमारे पड़ोसी अफ़ग़ानिस्तान में शिक्षा एवं समाज-नीति का वैसा ही सार्वजनीन उत्कर्ष यद्यपि अभी तक नहीं हो पाया है, पर उसकी सम्भावना अक्षुण्ण बनी है। इसका एकमात्र कारण यह है कि सभ्यताभिमानी कोई भी योरपीय जाति आज उसे अपने चंगुल में नहीं फँसा सकी है। वह मेरे देखते-देखते चतुर्मुखी उन्नति और स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर होता चल रहा है।

भारतवर्ष अँगरेज़ों के सभ्य शासन का बहुत बड़ा पत्थर अपनी छाती पर रक्खे निरुपाय और निश्चल पड़ा है! चीन जैसी बड़ी प्राचीन जाति को अँगरेज़ों ने अफ़ीम के ज़हर से जर्जरित कर दिया, और परिणाम-स्वरूप चीन के एक भाग को अपने अधीन कर लिया। इस अतीत की कथा को जब मैं धीरे-धीरे भूलता चला जा रहा था, तब देखा कि जापान उत्तरी चीन को निगलने में प्रवृत्त है। इँग्लैंड के राजनीतिज्ञों ने किस अवज्ञापूर्ण हेकड़ी के साथ इस दस्युवृत्ति को तुच्छ बतलाया। इसके बाद एक दिन किस कौशल के साथ इँग्लैंड ने स्पेन की प्रजातंत्र सरकार के पेंदे में छेद कर दिया, यह भी मैंने यहाँ दूर बैठे-बैठे देखा। उसी समय मैंने यह भी देखा कि अँगरेज़ों के एक दल ने उसी विपदग्रस्त स्पेन के लिए आत्मार्पण किया। यद्यपि अँगरेज़ों का यह औदार्य प्राच्य चीन के संकट के समय यथोचित रूप से जाग्रत् नहीं हो सका था, तथापि एक योरपीय जाति के प्रजातन्त्र की रक्षार्थ जब मैंने उनके किसी-किसी वीर को अपने प्राण

देते देखा, तो एक बार फिर मेरे मन में आया कि एक समय में अँगरेज़ों को मानव-हितैषी के रूप में देखता था और कितने विश्वास के साथ उनकी भक्ति की थी। उस समय की उनकी जर्मनी के साथ हुई मैत्री के इतिहास को दोहराने की आज इच्छा नहीं हो रही है। मैं यही बात सोचता हूँ कि साम्राज्य-स्वार्थलोलपता से इतनी बड़ी जाति का चरित्र किस प्रकार क्रमशः लज्जाजनक विकार से कुत्सित हो गया है! विचार आया कि एक दिन जिसे तरुण, युवक, सुस्थ, सबल और मानव-हित के लिए असाध्य अध्यवसाय के लिए प्रस्तुत देखा था, आज उसी की मज्जा में से चुपचाप विनाश फूटकर किस प्रकार क्रमशः उसके शरीर को जर्जरित कर रहा है। योरपीय जाति की स्वभावगत सभ्यता के प्रति मेरा विश्वास किस प्रकार क्रमशः नष्ट हो गया है, इसी का शोचनीय इतिहास आज मुझे आपको बतलाना पड़ा है। सभ्य शासन के संचालन में आज भारतवर्ष की जिस सबसे बड़ी दुर्गति ने अपना सिर ऊँचा उठाया है, वह केवल अन्न, वस्त्र, शिक्षा एवं आरोग्य का ही शोचनीय अभाव नहीं है, बल्कि वह है भारतवासियों की नृशंस फूट। हमारे लिए सबसे बड़े दुःख की बात यही है कि इस सबके लिए हमें अपने समाज को ही एकमात्र जिम्मेदार ठहराना पड़ता है। किन्तु इस दुर्गति का रूप जो प्रतिदिन क्रमशः उत्कट होता जा रहा है, उसको यदि भारत के शासनतन्त्र के अन्तर्गत किसी गुप्त केन्द्र के प्रश्रय-द्वारा पोषण न मिलता, तो कभी भारत के इतिहास में इतना बड़ा अपमान-जनक एवं असभ्य परिणाम नहीं हो सकता था। भारतवासी बुद्धि और सामर्थ्य में किसी अंश में जापानियों से कम हैं, यह बात विश्वास करने योग्य नहीं है। इन दोनों प्राच्य देशों में सबसे बड़ा भेद यही है कि भारतवर्ष जहाँ अँगरेज़ों-द्वारा सवतः अधिकृत एवं अभिभूत है, वहाँ जापान किसी भी योरपीय जाति की छाया से सर्वथा मुक्त है। इस विदेशी सभ्यता ने—यदि इसे सभ्यता कहा जा सके, तो—हम लोगों का सब कुछ छीन लिया है। उसके बदले में उसने अपने हाथ में जो डंडा धारण किया है, उसको नाम दिया गया है क़ानून और व्यवस्था, जो बिलकुल बाहर की चीज है। जो दरवान-

गीरीमात्र है। पाश्चात्य जाति की सभ्यता के अभिमान के प्रति अपनी श्रद्धा की रक्षा करना अब मेरे लिए नितान्त असाध्य हो गया है। हमने उसका शक्ति-रूप देखा है, किन्तु उसका मुक्ति-रूप नहीं देख सका—अर्थात् मनुष्य का मनुष्य से जो सबसे मूल्यवान् सम्बन्ध है और जिसे यथार्थ सभ्यता कहा जा सकता है, उसकी कृपणता, जिसने कि भारतीयों की उन्नति का पथ सम्पूर्ण रूप से अवरुद्ध कर दिया है। मेरा व्यक्तिगत सौभाग्य यह जरूर रहा है कि बीच-बीच में मेरी कुछ महदाशय अँगरेज़ों से भी भेंट होती रही है। यह महत्त्व मैं अन्य किसी जाति के किसी सम्प्रदाय में नहीं देख सका। ये अँगरेज़ ही आज भी अँगरेज़-जाति के प्रति मेरे विश्वास को क़ायम रखे हुए हैं। उदाहरण के लिए मैं एण्ड्रूज़ का नाम ले सकता हूँ। उनमें मुझे यथार्थ अँगरेज़, यथार्थ ईसाई और यथार्थ मानव को बन्धु-भाव से अत्यन्त निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आज मृत्यु के प्रतिप्रेक्षण से उनका स्वार्थ-सम्पर्क-हीन निर्भीक महत्त्व और भी ज्योतिर्मय हुआ दीख पड़ता है। उनके प्रति मेरी और मेरे समस्त देश की कृतज्ञता के अनेक कारण हैं; किन्तु व्यक्तिगत रूप से मैं उनके प्रति विशेष कृतज्ञ हूँ। अपनी युवावस्था में अँगरेज़ी-साहित्य का अध्ययन करते समय जिस अँगरेज़-जाति को सम्पूर्ण चित्त से एक दिन मैं निर्मल श्रद्धा की दृष्टि से देखता था, आयु के अन्तिम भाग में वे उसी की जीर्णता और कलंक दूर करने में मेरी सहायता कर गये। उनकी स्मृति के साथ ही इस जाति का मर्मगत माहात्म्य मेरे मन में अचल रहेगा। मैं उन्हें अपना निकटतम बन्धु और समस्त मानव-जाति का बन्धु मानता था। उनका परिचय मेरे जीवन की एक श्रेष्ठ सम्पत्ति के रूप में संचित रहेगा। मेरा मन कहता था कि वे अँगरेज़ों के महत्त्व की डूबती हुई नौका को बचाने का शक्ति भर प्रयत्न कर सकेंगे। यदि मेरा उनसे साक्षात्कार नहीं होता, तो पाश्चात्य जाति के सम्बन्ध में मेरे नैराश्य का किसी रूप में प्रतिवाद नहीं हो पाता।

भाग्यचक्र के परिवर्त्तन से किसी न किसी दिन अँगरेज़ों को इस भारतीय साम्राज्य को छोड़कर जाना ही होगा; किन्तु वे किस भारत को अपने पीछे यहाँ छोड़ जायेंगे—क्या लक्ष्मीहीन दरिद्र भारत को? एकाधिक

शताब्दी की उनकी शासन-धारा जब सूख जायगी, तब क्या उसकी विस्तीर्ण पंकशय्या उनकी गहन असफलता को वहन कर सकेगी? अपने-जीवन के प्रथम आरम्भ में मैंने पूरे मन से विश्वास किया था कि योरप की सम्पत्ति पाश्चात्य सभ्यता की ही देन है और आज अपनी विदा के दिन मेरा वह विश्वास एकबारगी दिवालिया हो गया है। आज मैं आशा करता हूँ कि मेरी इस दारिद्रय-लांछित कुटी में परित्राणकर्त्ता का जन्म-दिन आ रहा है। मैं इसकी अपेक्षा करता हूँ कि वह इसी पूर्व-दिशा से अपने साथ सभ्यता की दैववाणी लिए आयेगा और मनुष्य को उसके चरम-आश्वासन का सन्देश सुनायेगा। आज मैं उस पार की यात्रा करने चला हूँ--पिछले घाट पर क्या देख आया हूँ, क्या रख आया हूँ, इतिहास का कैसा अकिंचित्कर उच्छिष्ट सभ्यता-अभिमान का परिकीर्ण भग्नस्तूप! किन्तु मनुष्य के प्रति विश्वास खो देना पाप है, अतः उस विश्वास की मैं अन्तिम समय तक रक्षा करूँगा। मैं आशा करता हूँ कि जब महाप्रलय के बाद आकाश वैराग्य के मेघों से मुक्त होगा, तब सूर्योदय की पूर्व-दिशा से ही इतिहास का एक निर्मल आत्म-प्रकाश प्रकट होगा और एक दिन अपराजित मनुष्य अपनी महत् मर्यादा को पुनः प्राप्त करने के पथ पर अपनी जय-यात्रा के अभियान के लिए सब विघ्न-बाधाओं का अतिक्रमण कर अग्रसर होगा। मनुष्यत्व के अन्तहीन और प्रतिकारहीन पराभव को ही उसकी चरम सीमा कहना मैं अपराध समझता हूँ।

यह बात मैं आज कहे जाता हूँ कि प्रबल प्रतापशाली की भी क्षमता, मदमत्तता और आत्म-निर्भरता निरापद नहीं, इसी के प्रमाणित होने का दिन आज सम्मुख आ उपस्थित हुआ है। निश्चय ही यह सत्य प्रमाणित होगा:--

अधर्मेनैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

'विशाल-भारत' के रवीन्द्रस्मृति अंक से।

अन्तिम झाँकी : कुमारी रैथबोन को उत्तर

सन् १९४१ के जून में कवि का स्वास्थ्य अचानक फिर बिगड़ गया। इस समाचार से देश भर में चिन्ता के बादल छा गये। वे अभी रोगशय्या पर ही थे कि समाचार-पत्रों में उन्हें ब्रिटिश पार्लमेण्ट की सदस्या मिस रैथबोन की एक खुली चिट्ठी पढ़ने को मिली, जो पंडित जवाहरलाल नेहरू के नाम लिखी गई थी। कवि के हृदय पर कुमारी रैथबोन के आक्षेपों से गहरी चोट लगी। भारत का ऐसा अपमान उन्हें रुग्णावस्था में भी सहन न हो सका। फलतः शय्या पर पड़े ही पड़े उन्होंने उक्त पत्र का मुँहतोड़ उत्तर लिखा, जिसका हिन्दी-सारांश इस प्रकार है—

"कुमारी रैथबोन ने भारतीयों के नाम जो खुली चिट्ठी लिखी है उससे मुझे महान् दुःख हुआ है। मैं नहीं जानता कुमारी रैथबोन कौन हैं। मैं यह मान लेता हूँ कि वे "सद्भावनापूर्ण" औसत अँगरेज की मनोवृत्ति का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। उनकी चिट्ठी खास तौर से पंडित जवाहरलाल के नाम है। मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि अगर स्वतन्त्रता के युद्ध का वह महान् योद्धा इस समय सींखचों के पीछे न होता और उसकी ज़बान पर कुमारी रैथबोन के देशवासियों-द्वारा ताला न लगा दिया गया होता तो वह उनके इन मुफ़्त में दिये हुए उपदेशों का उचित उत्तर देता। आज चूँकि मौन रहने के लिए वह इस प्रकार विवश है इसी लिये मुझे रोगशय्या से भी विरोध की आवाज उठानी पड़ी।

"इस महिला ने हमारे विवेक को इस तरह की निर्बुद्धितापूर्ण और धृष्ट चुनौती देकर अपने देशवासियों को कोई लाभ नहीं पहुँचाया है। कुमारी रैथबोन को इस बात पर बड़ी परेशानी है कि अँगरेज़ों की विचार-सरिता में गहरी डुबकी लगा चुकने के बाद भी हम इतने अकृतज्ञ हैं कि अपने ग़रीब देशवासियों का थोड़ा-बहुत खयाल हमारे दिलों में बना हुआ है। अँगरेज़ी विचारधारा ने, जहाँ तक वह पाश्चात्य ज्ञान-परम्परा की एक श्रेष्ठ प्रतिनिधि है, हमको बहुत कुछ सिखाया है। परन्तु हमारे जिन देशवासियों ने उससे लाभ उठाया है उन्होंने ब्रिटिश सरकार की इस

कोशिश के बावजूद कि भारतीयों को ज़्यादा शिक्षा न मिलने पाये, ऐसा किया है। पाश्चात्य ज्ञान तो हमको किसी भी दूसरी योरपीय भाषा से मिल सकता था।

"क्या दुनिया के और सभी राष्ट्रों ने ज्ञान प्राप्त करने के लिए अँगरेज़ों की राह देखी है? अँगरेज़ों का यह आत्मसन्तोष अत्यन्त धृष्टतापूर्ण है कि यदि वे हमें शिक्षा न देते तो अभी तक हम तामस युग में ही पड़े रहते। सरकारी ज़रिए से अँगरेज़ी राज में भारतीय बच्चों को स्कूलों में जो शिक्षा मिली है उसने उनको अँगरेज़ों की श्रेष्ठ विचारधारा से परिचित नहीं कराया है, उसने दी है उनको अँगरेज़ों के भोजन की थाली की बची हुई जूठन और त्याज्य वस्तुएँ जिनके कारण उन्होंने अपनी संस्कृति के पौष्टिक भोजन को भी त्याग दिया है।

"यह मान लेने पर भी कि अँगरेज़ी के सिवा और किसी भाषा के ज़रिए हमको ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता था, हम देखते हैं कि १९३१ में दो सौ वर्ष तक अँगरेज़ों से शिक्षा पा चुकने के बाद भी हमारे देश के केवल १ फ़ी सदी आदमी अँगरेज़ी-भाषा में साक्षर हैं। परन्तु सन् १९३१ में सोवियट रूस में अर्थात् केवल १५ वर्ष के सोवियट शासन के बाद ही ९८ फ़ी सदी लड़के शिक्षित हो चुके थे।

"परन्तु मनुष्य के लिए संस्कृति से भी ज़्यादा ज़रूरी हैं उसके जीवन-धारण के अत्यावश्यक साधन। इस मामले में ब्रिटेन में जिनके हाथों में पिछले दो सौ वर्षों से हमारे खज़ाने की कुञ्जी रही है, हमारे लिए क्या किया? मैं अपने चारों ओर नरकंकाल ही पाता हूँ जो रोटियाँ माँगते हैं। मैंने गाँवों में स्त्रियों को चन्द बूँद पानी के लिए कीचड़ खोदते देखा है। हिन्दुस्तान के गाँवों में स्कूलों के बजाय कुएँ ज़्यादा ज़रूरी हैं।

"मुझे मालूम है कि आज इँग्लैंड के निवासी खुद भूखों मरने के खतरे में हैं। परन्तु हम देखते हैं कि सारी ब्रिटिश जलसेना उनको अन्य देशों से भोजन पहुँचाने के काम में लगी हुई है। मगर यहाँ लोग अन्न के अभाव में मर जाते हैं, फिर भी दूसरे ज़िले से कोई उनको एक गाड़ी चावल तक नहीं भेजता।

"अन्न का जब यह हाल है तब फिर क्या अँगरेजों की शान्ति-व्यवस्था के लिए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाय ? मैं चारों ओर नजर डालता हूँ तो देखता हूँ कि एक सिरे से दूसरे सिरे तक दंगे की लौ जल रही है। सैकड़ों भारतीय मर जाते हैं, उनकी सम्पत्ति लूटी जाती है, स्त्रियों की इज्ज़त ली जाती है, फिर भी भारत में ब्रिटेन के हथियार निःस्पन्द बने रहते हैं। केवल समुद्र की दूसरी ओर से ब्रिटेन की आवाज हमें यह तिरस्कार करती हुई सुनाई पड़ती है—हम अपने घर की व्यवस्था करने में अयोग्य हैं। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जब हथियार से सुसज्जित सैनिकों को बड़ी ताक़तों के सामने भागना पड़ा है। इस युद्ध में भी हम जानते हैं कि सबसे बहादुर अँगरेज़ी, फ्रांसीसी और यूनानी सैनिकों को जर्मनों के सामने लड़ाई का मैदान छोड़कर भागना पड़ा है। परन्तु जब हमारे निहत्थे और असहाय किसान अपने बच्चों को छाती से दबाये गुण्डों के आक्रमण से बचने के लिए भागते हैं तब ब्रिटिश अधिकारी हमारी कायरता पर घृणा के साथ हँसते हैं।

"इँग्लैंड के हर नागरिक के पास आज शत्रुओं से आत्मरक्षा करने के लिए हथियार हैं। परन्तु भारत में लाठी का इस्तेमाल भी क़ानून से निषिद्ध है। अँगरेज़ नाज़ियों से घृणा इसलिए करते हैं कि उन्होंने उनके विश्व प्रभुत्व को चुनौती दी है। परन्तु कुमारी रैथबोन चाहती हैं कि हम उनके देशवासियों के हाथ को इसलिए चूमें कि उन्होंने हमारे गले में ग़ुलामी का तौक पहनाया है। अँगरेज़ों को नापसंद हम इसलिए नहीं करते कि वे विदेशी हैं, बल्कि इसलिए करते हैं कि हमारे संरक्षक बनने का दावा करते हुए भी विलायत के चन्द पूँजीपतियों के जेब भरने की गरज़ से वे लाखों भारतीयों के हितों को बलि चढ़ा देते हैं। हम तो समझते थे कि भले अँगरेज़ इन अन्यायों के बारे में चुप रहेंगे और निष्क्रियता के लिए कृतज्ञ होंगे। परन्तु वे सज्जनता की सीमा को बिलकुल लाँघ जाते हैं जब वे आघात के साथ अपमान करने के लिए ही हमारे कटे घाव पर नमक छिड़कने की कोशिश करते हैं।"

× × ×

बंगाल के कई प्रमुख डाक्टर इन दिनों कवि की चिकित्सा कर रहे

थे। स्वास्थ्य में कुछ सुधार होते न देखकर डाक्टरों की सम्मति आप्रेशन करने की हुई और उन्हें इसके लिए कलकत्ता ले जाया गया। कविताएँ लिखना इस अवस्था में भी चल रहा था। ३० जुलाई को उनका आप्रेशन हुआ, पर उससे भी कुछ लाभ न हुआ और अवस्था अत्यधिक चिन्ताजनक हो गई। ७ अगस्त को दिन के बारह बजकर सात मिनट पर वे वैकुण्ठ-वासी हो गये।

उनकी सबसे अन्तिम रचना मृत्यु है जिसे उन्होंने ३० जुलाई, सन् १९४१ को आपरेशन से कुछ घण्टे पहले बोलकर लिखवाया था—

दुःखेर आँधार रात्रि बारे बारे
एसेछे आमार द्वारे।
एक मात्र अस्त्र तार देखेछिन्
कष्टेर विकृत भाल, त्रासेर विकट भंगी जत
अन्धकारे छलनार भूमिका ताहार।
जत वार भयेर मुखोस तार करेछि विश्वास,
तत वार हयेछे अनर्थ पराजय।
एइ हा'र-जित खेला, जीवनेर मिथ्या ए कुहक,
शिशुकाल ह'ते विजड़ित पदे पदे एइ विभीषिका,
दुःखेर परिहासे भरा।
भयेर विचित्र चलच्छवि—
मृत्यु निपुण शिल्प विकीर्ण आँधारे।*

* दुःख की काली रात्रि बारम्बार मेरे द्वार पर आई। उसके पास मुझे केवल एक अस्त्र दिखाई पड़ा—कष्ट से विकृत भाल, त्रास से की हुई विकट भंगी—उसकी छलना की भूमिका अन्धकार में थी। जब जब मैंने उसकी भयानक मुखाकृति का विश्वास किया, तब-तब मेरी व्यर्थ ही पराजय हुई। यह हार-जीत का खेल, यह जीवन का मिथ्या भ्रमजाल, शिशुकाल से ही पद-पद पर विजड़ित दुःख-परिहास से पूर्ण यह विभीषिका, भय के ये अनोखे चल-चित्र! मृत्यु के निपुण शिल्पी की अंधकार में फली हुई कारीगरी!

(समाप्त)